श्रद्धानन्द जीवन-कथा

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली का ग्यारहवां खण्ड)

लेखक

डॉ. भवानीलाल भारतीय

एम.ए., पी-एच.डी.
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डिगढ

1987

प्रकाशक

गोविन्दराम हासानन्द

नई सडक, दिल्ली - ११०००६

ओ३म्

स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली

खण्ड ग्यारह

श्रद्धानन्द जीवन-कथा

(स्वामी श्रद्धानन्द की मौलिक जीवनी एवं उपयोगी परिशिष्टों सहित कांग्रेस के १६१६ के अमृतसर अधिवेशन पर दिया गया ऐतिहासिक स्वागताध्यक्षीय भाषण)

लेखक

डॉ० भवानीलाल भारतीय

एम० ए०, पी-एच० डी

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द शोध पीठ

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

प्रकाशक :
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९८७

मूल्य : ६०-००

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय,
सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
दिल्ली-११००३२

समर्पण

बन्धुवर डॉ० रामप्रकाश जी

(प्रोफेसर रसायन विभाग,

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़)

की सेवा में,

जिनकी ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के प्रति

अनन्य भक्ति का मैं सदा से प्रशंसक रहा हूँ।

—भवानीलाल भारतीय

विषय-सूची

भूमिका

स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनकथा के साथ श्रद्धानन्द ग्रन्थावली का यह अन्तिम खण्ड पाठकों के हाथों में जा रहा है। स्वामी जी ने अपने प्रारम्भिक आत्मवृत्त को 'कल्याण मार्ग का पथिक' शीर्षक से लिखा था जो ज्ञानमण्डल काशी से १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ। उनके निधन के कुछ समय पश्चात् पं० रामगोपाल विद्यालंकार ने 'वीर संन्यासी श्रद्धानन्द' शीर्षक से उनका एक अच्छा जीवनचरित लिखा। इसे गोविन्दराम हासानन्द ने कलकत्ता से १९२९ ई० में प्रकाशित किया था। स्वामी जी के पुत्र प्रो० इन्द्र खुद अपने यशस्वी पिता का एक प्रामाणिक जीवन-चरित लिखना चाहते थे, किन्तु कुछ तो अन्य कार्यों में व्यस्त रहने तथा इस संकोच से भी कि कहीं पिता की जीवनी लिखते हुए स्वयं किसी पूर्वाग्रह के वशवर्ती न हो जायें, वे इस कार्य को नहीं कर सके। उन्होंने हिन्दी के समर्थ लेखक और पत्रकार पं० सत्यदेव विद्यालंकार को यह महत्त्वपूर्ण कार्य करने की प्रेरणा दी और अन्ततः स्वामी दयानन्द की निर्वाण-अर्धशताब्दी के अवसर पर स्वामी श्रद्धानन्द का एक पूर्ण, प्रामाणिक और विस्तृत जीवनचरित प्रकाशित हुआ। इसे दुर्भाग्य ही मानना होगा कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की द्वितीयावृत्ति भी प्रकाशित नहीं हो सकी।

स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान को आज ६१ वर्ष पूरे हो रहे हैं। इस दीर्घ अवधि में उनके और भी छोटे-बड़े जीवनचरित लिखे गये। पं० इन्द्र जी ने 'मेरे पिता' शीर्षक अपने एक संस्मरणात्मक ग्रन्थ में स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण तथा अद्यतन अप्रकाशित घटनाओं का उल्लेख किया, जो किसी भावी जीवनी-लेखक के लिए उपयोगी हो सकती थीं। अंग्रेजी में तमिलनाडु के प्रसिद्ध आर्य विद्वान् स्व० एम० आर० जम्बुनाथन ने स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा का संक्षिप्त अंग्रेजी रूपान्तर किया जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई से १९६१ में छपा। आस्ट्रेलिया की नेशनल यूनीवर्सिटी में एशियाई इतिहास और सभ्यता विभाग के अध्यक्ष प्रो० जे० टी० एफ० जॉर्डन्स ने अंग्रेजी में एक विवेचनात्मक जीवनचरित का लेखन किया जो ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस दिल्ली से १९८१ में छपा। आर्यसमाज और दयानन्द-विषयक अध्ययन के मर्मज्ञ डॉ०

जॉर्डन्स ने इस ग्रन्थ को पर्याप्त परिश्रमपूर्वक; विविध स्रोतों से प्राप्त सामग्री का भरपूर उपयोग करते हुए विश्लेषणात्मक शैली में लिखा है। वैज्ञानिक जीवनी-लेखन का यह एक उत्तम आदर्श है।

ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित होने वाले प्रस्तुत चरित को लिखने में पं० सत्यदेव विद्यालंकार तथा डॉ० जॉर्डन्स के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता ली गई है, जब कि मुंशीराम के प्रारम्भिक जीवन-वृत्तान्त की रूपरेखा उनकी आत्मकथा के आधार पर ही तैयार की गई है। ग्रन्थान्त में कुछ उपयोगी परिशिष्ट भी दे दिये गये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के हत्याकाण्ड और उसके पश्चात् हत्या के अभियोग का विस्तृत विवरण जो परिशिष्ट में दिया गया है, वह 'हरियाणा तिलक' नामक एक उर्दू पत्र के अनेक अंकों में छपा था। इसे उपलब्ध कराने का श्रेय कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के प्रोफेसर डॉ० के० सी० यादव को है। आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने पिता स्व० पं० गौरीलाल जी आचार्य तथा स्वयं के स्वामी श्रद्धानन्द के साथ हुए पत्र-व्यवहार को प्रकाशनार्थ भेजा, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

मैं उपर्युक्त महानुभावों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। आशा है स्वामी श्रद्धानन्द की यह जीवन-कथा हम सबको श्रेयमार्ग की ओर बढ़ने की प्रेरणा देगी। ग्रन्थ पर्याप्त शीघ्रता में लिखा गया किन्तु टंकण का काम भी साथ ही साथ चलता रहा, जिसे सुचारु ढंग से सम्पादित करने हेतु श्री होशियार सिंह साधुवाद के पात्र हैं।

—भवानीलाल भारतीय

२३ दिसम्बर १९८७
(स्वामी श्रद्धानन्द का ६१वाँ बलिदान-दिवस)
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

अध्याय १

बाल्यकाल और शिक्षा

चारित्रिक अधःपतन के गहन गह्वर में गिरकर भी कोई व्यक्ति किसी महापुरुष की प्रेरणा और आशीर्वाद से अपने जीवन को श्रेष्ठता के सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित कर सकता है, इसका जीता-जागता उदाहरण आर्यसमाज के विख्यात संन्यासी, गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के सूत्रधार, राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के सेनानी तथा हिन्दू संगठन के मन्त्रदाता स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन और व्यक्तित्व में दिखाई पड़ता है। स्वामी श्रद्धानन्द ने जब "कल्याण मार्ग का पथिक" शीर्षक अपनी आत्मकथा लिखी, तो उसे अपने आचार्यप्रवर ऋषि दयानन्द की स्मृति में समर्पित करते हुए लिखा था कि "मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितने बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है!" स्वामी जी ने अपने इस आत्मवृत्त में कुछ भी छिपाया नहीं और अपनी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वामी दयानन्द की कृपा को ही कारण माना। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द के निधन को इकसठ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, किन्तु उनके जीवन और कार्य आज भी आर्यावर्त देशवासियों के लिए असीम प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। स्वातन्त्र्य युद्ध के इतिहास के पृष्ठों पर भी उनके वीरतापूर्ण कृत्य स्वर्णाक्षरों में लिखे गए हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द का जन्म फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी सं० १९१३ वि० को पंजाब के जालन्धर जिले के तलवन नामक एक कस्बे में हुआ। अपने पूर्वजों का उल्लेख करते हुए स्वयं स्वामी जी ने अपने आत्मकथन में लिखा है कि उनके परदादा का नाम सुखानन्द था, जिनके पाँच पुत्रों में से श्री गुलाबराय स्वामी जी के पितामह थे। गुलाबराय जी की भगवद्भक्ति में अपार निष्ठा थी और वे नित्य नियमपूर्वक सुखमणि साहब तथा गीता का पाठ करते थे। आजीविका की दृष्टि से उन्होंने कपूरथला की रानी हीरा देवी के मुख्त्यार-पद पर कार्य किया, किन्तु सांसारिक इतिकर्त्तव्य करते हुए भी वे उनमें कभी लिप्त नहीं हुए। उषाकाल से पूर्व ही स्नानादि से निवृत्त होकर वे उच्च स्वर से भजन गाते। इसी आस्तिक

पुरुष के यहाँ स्वामी श्रद्धानन्द के पिता नानकचन्द का जन्म हुआ, जो अपने छः भाइयों में सबसे बड़े थे। ये भी अपने पिता ही की भाँति परम आस्तिक थे। उन्होंने अपने ५६ वर्ष के जीवनकाल में विभिन्न कार्य किए। कपूरथला रियासत में थानेदार रहे, सियालकोट में ठगी-डकैती-उन्मूलन-विभाग में खजांची के पद पर कार्य किया, अमृतसर की तहसील में मुसाहिब के पद पर भी रहे, वहाँ से लाहौर आये और चौकीदारों के बख्शी बने। इसी बीच १९१४ वि० (१८५७) में सैनिक विद्रोह फूट पड़ा। नानकचन्द जी के भाग्य को इसी समय चमकना था। उन्होंने इस अशान्ति के काल में गोरों की भरपूर मदद की। जब विद्रोह शान्त हो गया तो अंग्रेजों ने उनके समक्ष दो प्रस्ताव रक्खे—यदि वे चाहें तो पुलिस में इन्स्पेक्टर का पद ले लें या १२०० बीघे भूमि। नानकचन्द जी को पुलिस की नौकरी ही अनुकूल जान पड़ी और वे इन्स्पेक्टर बना दिये गये। स्वामी श्रद्धानन्द अपने पिता की छठी सन्तान थे। उनसे बड़े तीन भाई सीताराम, मूलराज, और आत्माराम तथा दो बड़ी बहिनें प्रेम देवी और द्रौपदी थीं। मुंशीराम (स्वामी जी का बचपन का नाम) इन सबसे छोटे थे।

बालक मुंशीराम का शैशवकाल लाड-प्यार और खेलकूद में बीता। इसका एक कारण तो यह था कि पिता नानकचन्द पुलिस-विभाग में होने के कारण बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की ओर पूरा ध्यान नहीं दे पाते थे। एक अन्य कारण यह भी था कि इस विभाग में उनकी बदली विभिन्न स्थानों पर होती रही, जिस कारण व्यवस्थित रीति से बालक की शिक्षा-व्यवस्था न हो पाती। जिस समय इनके पिता बरेली में थे, उस समय मुंशीराम की आयु तीन वर्ष की थी। पिता ने एक मौलवी साहब को रखकर इनके बड़े भाइयों की शिक्षा का आरम्भ तो किया, किन्तु मुंशीराम के दिन खेलने में और खाने में ही व्यतीत होने लगे। इतना अवश्य था कि अपनी अपूर्व स्मरणशक्ति का परिचय देना उन्होंने उसी समय से आरम्भ कर दिया। मौलवी साहब जो पाठ बड़े भाइयों को पढ़ाते, उसे मुंशीराम अपने स्मृतिपटल पर अंकित कर लेते और दूसरे दिन चाहे भाई इस पाठ को न सुना सकते, किन्तु मुंशीराम को उसे सुनाने में कोई दिक्कत न होती।

बरेली से बदलकर नानकचन्द जी बदायूँ आये। यहाँ वे कोर्ट इन्स्पेक्टर के पद पर रहे। मुंशीराम की दिनचर्या में यहाँ भी कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। पुलिस के सिपाही और कर्मचारी अपने अफसर के पुत्र को फौजी सलाम करना सिखाते और इनाम में कागज-कलम भी देते। बालक उन कागजों पर फारसी की किताब से नकल करने की कोशिश करता। इसी प्रकार उसकी आरम्भिक शिक्षा हुई।

बदायूँ से नानकचन्द जी का तबादला बनारस हो गया। अब वे विजिटिंग इन्स्पेक्टर के पद पर थे। उन्हें जिले के पुलिस-थानों का निरीक्षण करने प्रायः

बाहर जाना पड़ता था। परिवार को अकेला छोड़कर बाहर जाने से परिजनों को जो कठिनाई उत्पन्न होती, उसका समाधान इस प्रकार ढूंढ निकाला गया कि मुंशीराम की माता जी ने अपने घर में एक अन्य पंजाबी परिवार को बग़ैर किराया लिये रहने की इजाजत दे दी। उससे उनका अकेलापन कम हो जाता। इस पंजाबी परिवार की गृहस्वामिनी श्रीमती निहालदेवी बहुत अधिक छूतछात मानती थी। उससे घर के बालकों की नाक में दम हो गया। यदि बच्चों का पैर भी गन्दी नाली में चला जाय, या बच्चों पर कहीं से पानी का छींटा भी पड़ जाय तो निहालदेवी बालक को स्नान करने के लिए मजबूर करती। मुंशीराम की माता को उस छुआछूत बरतनेवाली कट्टर महिला का यह कठोर आचरण कभी पसन्द नहीं आया और उन्होंने उसे घर छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। इस अनुभव ने मुंशीराम के बालहृदय पर जो प्रभाव छोड़ा, वह काफी तीखा था। उन्होंने अस्पृश्यता की निरर्थकता तथा उसके भीषण परिणामों को भलीभाँति जान लिया।

बनारस में रहते हुए[1] भी मुंशीराम की शिक्षा विधिवत् प्रारम्भ नहीं हुई। इतना अवश्य हुआ कि पिता की धार्मिक वृत्ति ने बालक को प्रभावित किया और पूजा के समय उनके द्वारा उच्चरित अनेक स्तोत्रों और काशी-माहात्म्य के श्लोकों को मुंशीराम ने याद कर लिया। १९२३ वि० में दस वर्ष की आयु होने पर मुंशीराम को यज्ञोपवीत पहनाया गया। यद्यपि उपनयन की प्राचीन परिपाटी का पालन अब केवल प्रथारूप में ही होता है, किन्तु विद्यारम्भ से जुड़े इस संस्कार का अपना महत्त्व है। पिता जी ने बालक को एक हिन्दी पाठशाला में प्रविष्ट करा दिया। मुंशीराम को तुलसीदासकृत रामचरितमानस से बचपन से ही लगाव हो चला था। उसके पिता भी नियमित रूप से मानस का पाठ करते थे। अब बालक भी उनका अनुकरण करने लगा। इधर विधिवत् शिवपिण्डी के षोडशोपचार

---

१. काशी-निवास की एक मार्मिक घटना का उल्लेख स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में इस प्रकार किया है—

"काशी में प्रसिद्ध हुआ कि एक वेदशास्त्र का ज्ञाता बड़ा नास्तिक आया है जिसके दोनों ओर दिन में मशालें जलती हैं। जो भी पण्डित उससे शास्त्रार्थ करने जाता है, उसके तेज से दब जाता है। मुझे भलीभाँति याद है कि माता जी उन दिनों हमें बाहर नहीं जाने देती थीं—इस भय से कि हम दोनों भाई जादूगर के फन्दे में न फँस जायें। पिता जी ने पीछे बतलाया था कि वह प्रसिद्धि अवधूत दयानन्द की थी। **माता जी को क्या मालूम था कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायेगा!**"

पूजन का सिलसिला भी आरम्भ हुआ।

इसी बीच नानकचन्द जी का स्थानान्तरण बाँदा हो गया। यहाँ भी शिक्षा की कोई सुचारु व्यवस्था नहीं हो सकी। इतना अवश्य हुआ कि तुलसी के मानस के प्रति अनुराग और भी बढ़ गया। बाँदा जिले में चित्रकूट एक प्रसिद्ध स्थल है, जो रामकथा से जुड़ा हुआ तो है ही, वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता भी अपूर्व है। अत: मुंशीराम को इन दृश्यों को देखने और नैसर्गिक सुषमा पर मुग्ध होने का अवसर मिला।

वि० १९२८ के फाल्गुन मास में नानकचन्द जी बदलकर मिर्जापुर आ गये। इस जिले में विन्ध्यवासिनी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है जहाँ नवरात्रों में विशाल मेला लगता है। पुलिस के निरीक्षक महोदय को मेले की व्यवस्था के लिए मेला-स्थल पर जाना पड़ा तो बालक मुंशीराम भी उनके साथ हो लिया। एक महीने तक मेले के राग-रंग और मौज-मस्ती ने बालक को अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त कराया, किन्तु इसी स्थान पर उन्हें कुछ ऐसे अनुभव भी हुए, जो मुंशीराम के चिन्तन को प्रभावित करनेवाले थे। स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन के इस अविस्मरणीय प्रसंग को इन शब्दों में चित्रित किया है—"उसी स्थान में पिता जी के अर्दली सार्जण्ट जोखू मिसिर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते उनमें से सात की सिरिएँ मिसिर जी की पेटपूजा के लिए भेंट में आतीं। सात बकरों के सिर मुफ्त, कण्डों (उपलों) की आग मुफ्त, मिट्टी की हँडिया मुफ्त, नमक व हल्दी भी मुफ्त—हाँ, पावभर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे; सातों सिरियों का सफाया करके शेष थाली पावभर चून की लिट्टी से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूंबड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हँडिया पकते-पकते पिता जी का नौकर चिमटे से चिलम में आग धर लाया। मिसिर जी आगबबूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले—'अरे सरकार! हम आपन धरम कबहूँ नाहीं छोड़ा। अरे! झूठ बुआला, जुवा खेला, गाँजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिस्वत लिहा, चोरी-दगाबाजी किहा—कौन फन-फरेब बाटे जौन हम नाहीं किहा, मुल सरकार! आपन धरम नहीं छोड़ा।' सरकार तो मुस्कराके चल दिये और मेरे पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये।"

वस्तुत: भारतीय जीवन में धर्म का स्थान कहाँ से कहाँ चला गया है, उपर्युक्त घटना से इसपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। धर्म के मूलभूत तत्त्वों को सर्वथा विस्मृत कर हम भारतवासियों के लिए धर्म केवल बाह्याचार का ही पर्याय हो गया है। तभी तो स्वामी दयानन्द ने चौके-चूल्हे में ही धर्म को सीमित कर देने-वाले हिन्दुओं की वर्तमान दशा को देखकर अत्यन्त पीड़ा के साथ कहा था—"इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब

स्वातन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं'''सब आर्यावर्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है।''

जोखू मिसर के प्रसंग ने मुंशीराम को बताया कि हमारे समाज में बाह्याचार ही धर्म के अंग बनकर रह गये हैं और वास्तविक धर्म जो विभिन्न नैतिक गुणों और सदाचारमूलक इतिकर्त्तव्यों में निहित है, आज हमसे पृथक् हो चुका है।

विन्ध्यवासिनी के वार्षिक मेले का आनन्द लूटकर मुंशीराम पुन: मिर्जापुर आये और सरकारी स्कूल की तीसरी श्रेणी में प्रविष्ट हुए। यहाँ आकर उन्होंने उर्दू और फारसी के साथ अरबी का भी कुछ परिचय प्राप्त किया। इसी समय उनके पिता जी पुन: तब्दील होकर बनारस आ गये। इस बार उन्होंने काशी के कोतवाल के पद का कार्यभार सँभाला। उनसे पहले इस पद पर पं० रघुनाथ-प्रसाद कार्य कर रहे थे। ये वही पं० रघुनाथप्रसाद थे, जिन्होंने स्वामी दयानन्द के काशी के विद्वानों से हुए प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के समय सारी व्यवस्था सँभाली थी और जिनकी सूझ-बूझ के कारण ही शास्त्रार्थ की समाप्ति पर काशी की उद्दण्ड पण्डित-मण्डली द्वारा प्रदर्शित गुण्डागर्दी और बदतमीजी के दौर से स्वामी दयानन्द बच पाये थे।

इस बार का काशी-निवास तो किशोर मुंशीराम के जीवन में उल्लास और आनन्द की हिलोरें उठाता रहा। काशी यदि भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का केन्द्र-स्थान है तो वह गुण्डों, बदमाशों और आवारा लोगों की भी शरणस्थली है। जिस काशी में, मरने से लोग मुक्ति प्राप्त करने की आशा रखते हैं, जहाँ की गली-गली में और प्रत्येक चौराहे पर असंख्य देवमन्दिर दिखाई पड़ते हैं, जहाँ के विद्वान् और पण्डित अपनी व्यवस्थाओं के द्वारा विराट् हिन्दू समाज को दिशा-निर्देश करते हैं, यदि वहाँ के लोगों के एक वर्ग के चारित्रिक अध:पतन और दुराचारों की कहानी कोई कहने बैठ जाय तो वह हिन्दी के कथा-साहित्य की घासलेटी धारा का समुचित प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होगी। स्वामी श्रद्धानन्द ने तो काशी की इस कलुष कथा को केवल एक लोकोक्ति के द्वारा ही व्यंजित कर दिया है जो इस प्रकार है—राँड साँड सीढ़ी संन्यासी, इनसे बचै सो सेवे कासी।'' काशी-प्रवासिनी युवती विधवायें किस प्रकार अपने जीवन में प्राप्त तिरस्कार एवं लांछना से प्रताड़ित होकर कालयापन करती हैं, इसकी व्यथा-कथा आपको हिन्दी के अनेक उपन्यासों में तो मिलेगी ही, बंगला-कथाकार शरत्चन्द्र की औपन्यासिक कृतियों में भी बंगाली विधवाओं के अभिशापग्रस्त जीवन के अनेक वेदनायुक्त चित्र अंकित मिलेंगे।

ऐसे वातावरण में रहकर यदि मुंशीराम बनारस की चहलपहल, वहाँ के

हास-विलास तथा मनोरंजन के नित्य-नये कार्यक्रमों से दूर रह पाते, तो यह सच-मुच आश्चर्य की ही बात होती। उन्हीं के शब्दों में—"वर्षा ऋतु में काशी पहुँचना हुआ। कजरी का गाना जोरों पर था और हम दोनों भाई नवाबजादे। कोतवाल के द्वार पर रईसों की बग्घियाँ, फिटनादि हरपल खड़ी रहतीं। फिर क्या था, नित्य नये मेलों में जाना ही एक काम था।" इस प्रकार हास-विलास और रास-रंग के वातावरण के बीच अध्ययन का सिलसिला कैसे आरम्भ होता? पिता ने फारसी पढ़ाने के लिए एक लाला भइया (कायस्थ) को नियत किया और भला कोतवाल के पुत्र को अध्ययन के गुरुतर कर्म में नियुक्त करने की ताब बेचारे मुंशी जी में कहाँ थी? जब भी बच्चा पढ़ने से उकता जाता तो लाला जी कहानी सुनाने लगते, जो बालक को पढ़ने की अपेक्षा अधिक पसन्द आती। जब पुलिस-अधिकारी पिता को पता चला कि मुंशी जी का पढ़ाने का तरीका कतई गम्भीर नहीं है तो उन्होंने उसकी छुट्टी ही कर दी। कुछ समय बाद नानकचन्द पुन: बलिया के लिए तब्दील कर दिये गए। इस बार का बनारस-निवास चाहे नौ महीने का ही था, किन्तु मुंशीराम ने काशीवास का जी भरकर आनन्द लिया।

बनारस में रहते हुए मुंशीराम ने अपनी दिनचर्या को नियमित बनाया। वे प्रातःकाल नियमपूर्वक गंगास्नान के लिए जाते और विश्वनाथ के दर्शन करते। व्यायाम भी नियमपूर्वक करते। गंगास्नान से जब लौटते तो डलिया में रक्खे चन्दन, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से विश्वनाथ, शनैश्चर, महावीर, अन्नपूर्णा, ढुण्ढिराज गणेश आदि देवताओं की विधिवत् पूजा-अर्चा करते। इस समय उनमें पौराणिक देवी-देवताओं के प्रति भक्ति का भाव पराकाष्ठा पर था। काशी के धार्मिक वातावरण ने मुंशीराम को परम आस्थावान् बना दिया।

बलिया पहुँचकर मुंशीराम सरकारी स्कूल में प्रविष्ट हुए। इनके शुद्ध उच्चारण से प्रसन्न होकर अंग्रेज कमिश्नर ने उन्हें विशेष पारितोषिक प्रदान किया। हिन्दी के प्रसिद्ध गद्य-लेखक राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' उन दिनों पश्चिमोत्तर प्रदेश की शालाओं के निरीक्षक थे। उन्होंने मुंशीराम की परीक्षा ली और वे अगली कक्षा में प्रविष्ट कर लिये गए। बलिया में रहकर भी मुंशीराम की शिक्षा का क्रम व्यवस्थित नहीं हुआ। उन्होंने बहुत-कुछ पढ़ा और सीखा, किन्तु सत्यार्थप्रकाश में प्रदत्त एक दृष्टान्त की भाँति अठारह अध्याय गीता तो रगड़ मारी किन्तु गुरु एक भी नहीं किया।

काशी में विधिवत् शिक्षा

मुंशीराम की उच्चतर शिक्षा काशी में हुई। संवत् १९३० वि० के पौष मास में वे क्वीन्स कॉलेज बनारस में प्रविष्ट हुए। यह अपने प्रदेश का एक श्रेष्ठ शिक्षण-संस्थान माना जाता था। इसका विशाल और भव्य भवन स्थापत्य-कला का एक

उत्कृष्ट नमूना था। उस समय संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् इस कॉलेज में शिक्षणकार्य करते थे। पं० बालशास्त्री, पं० बापूदेव शास्त्री तथा पं० ढुण्ढिराज शास्त्री जैसे अपने-अपने विषय के निष्णात विद्वान् इस कॉलेज के स्टाफ में थे। चारों वेदों का अंग्रेजी गद्य में अनुवाद करनेवाले प्रसिद्ध विद्वान् आर० टी० एच० ग्रिफिथ उन दिनों इस कॉलेज के प्रिंसिपल-पद को सुशोभित करते थे।

मुंशीराम ने क्वीन्स कॉलेज के इन अध्यापकों का रोचक विवरण अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत किया है। ग्रिफिथ के अतिरिक्त जो अन्य गोरे प्रोफेसर उन दिनों वहाँ थे, उनमें गफ, थीबो, राजर्स, किव्ज, चार्ल्स डाड आदि के रेखाचित्र स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से अत्यन्त रुचिकर शैली में अंकित किये गये हैं। भारतीय प्राध्यापकों में बालकृष्ण भट्ट, उमाचरण मुकर्जी (अंग्रेजी के अध्यापक), लक्ष्मीशंकर मिश्र और फारसी के एक मौलवी साहब को भी इस प्रसंग में स्मरण किया गया है। क्वीन्स कॉलेज का स्कूल-विभाग पृथक् था। इसके हैडमास्टर-पद पर पं० मथुराप्रसाद मिश्र नामक एक असाधारण व्यक्तित्ववाले पुरुष विराजमान थे। ये अपने त्रैमासिक कोश (Trilingual Dictionary) के कारण भारत की पुरानी पठित पीढ़ी के सुपरिचित रहे हैं।

कहने के लिए तो मुंशीराम का इस बार का काशी-निवास उनके विद्याध्ययन को निश्चित दिशा की ओर ले-जानेवाला था, किन्तु उनकी युवावस्था ने भी जो उतार-चढ़ाव देखे, उसकी रंगभूमि भी काशी ही रही। अब वे ब्राह्म मुहूर्त में चार बजे ही शय्या त्याग देते और गंगास्नान के लिए निकल पड़ते। विश्वनाथ तथा अन्य देवताओं का अर्चन-पूजन निपटाकर जब घर लौटते तो आधा घण्टे तक व्यायाम करते, पुनः भीगे चने तथा दूध का प्रातराश होता और तब अध्ययन में लगते। विद्यालय से लौटकर नगर-परिभ्रमण और वायु-सेवन के लिए जाते और सायंकालीन देवदर्शन कर घर लौटते।

बनारस में अध्ययनकाल का प्रथम वर्ष पूरा हुआ, किन्तु इस अवधि में भी मुंशीराम ने इस शहर के कुछ अवगुणों को ग्रहण कर ही लिया। शाम को जब घर से घूमने के लिए निकलते, तो बनारसी गुण्डों की भाँति कमर में एक छुरी अवश्य बाँध लेते। यहीं तक रहता तो कोई बात भी थी, किन्तु अब तो यह युवक चारित्रिक पतन की ओर निरन्तर बढ़ता ही गया। एक बार बसन्तपंचमी की छुट्टी होने पर बलिया चला गया और यार-दोस्तों के साथ बाई जी का मुजरा देख आया। अब वह बनारसी गुण्डों की भाँति उद्दण्ड आचरण की ओर प्रवृत्त होने लगा। इस दौरान उन्हें जो कुछ अनुभव हुए उनका बेबाक वर्णन करते हुए मुंशीराम ने लिखा—"इन घटनाओं ने मेरी आँखें खोल दीं। मुझे मालूम हुआ कि काशीपुरी सब प्रकार के व्यभिचार का नरककुण्ड है।"

इधर तो वे परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और उधर घर में उनका रिश्ता तय

किया जा रहा था। जालन्धर के प्रसिद्ध रईस राय शालिग्राम की पुत्री से उनका रिश्ता तय हुआ और सगाई के लिए उन्हें अपनी जन्मभूमि तलवन पहुँचने का हुक्म भी मिला। जैसे-तैसे परीक्षा देकर मुंशीराम स्वगृह के लिए चल पड़े और तलवन पहुँचकर रिश्ता पक्का किया। मुंशीराम इस बार परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। असफलता की निराशा ने उन्हें एक अन्य मार्ग का पथिक बना दिया। अब वे कबाड़ी पुस्तक-विक्रेताओं की दूकानों का चक्कर काटने लगे और वहाँ से पुराने अंग्रेजी उपन्यास प्राप्त कर पढ़ने का उन्हें चस्का लग गया। इन उपन्यासों में वर्णित रोमांस, शौर्य, पराक्रम आदि की कल्पित कथाओं ने युवक-हृदय पर एक विचित्र-सा प्रभाव डाला। अब वे अपने-आपको इन उपन्यासों के शूरवीर तथा नायिका की प्राणरक्षा के लिए तत्पर नायक की भूमिका में पाने लगे और औपन्यासिक कथाओं के कल्पनालोक में विचरण करने लगे। उपन्यास पढ़ने का यह नशा उन-पर इतना हावी हो चुका था कि गर्मियों में कमरे में बैठकर जब पुस्तक पढ़ना कठिन हो जाता, तो खुली छत पर बैठकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के क्षीण प्रकाश में उपन्यास पढ़ना जारी रखते। इनके पिता सम्भवतः इस सुखद भ्रम को पाले हुए थे कि मेरा बेटा परीक्षा की तैयारी चन्द्रमा की चाँदनी में पढ़कर कर रहा है जबकि वस्तुस्थिति कुछ और ही थी।

युवा जीवन का पथ बड़ा कंटकाकीर्ण होता है। वहाँ इस बात का बड़ा खतरा रहता है कि कहीं हम अपनी वास्तविक मंजिल की ओर बढ़ते-बढ़ते भटक न जायें। मुंशीराम तो पथ-भ्रष्ट हो ही चुके थे। नियमित रूप से विद्यालय न जाने के कारण उनका नाम भी विद्यालय से कट गया किन्तु पिताजी के समक्ष झूठ बोलना भी सम्भव नहीं था। अन्ततः इस युवक की आँखों से पश्चात्ताप के आँसू उमड़ आये। एक बार फिर वे क्वीन्स कॉलेज में प्रविष्ट हुए किन्तु चित्त की चंचलता के कारण परीक्षा की समुचित तैयारी नहीं कर सके। अनुत्तीर्ण होने का भय इतना था कि परीक्षा में बैठने का ही साहस नहीं हुआ और कक्षा से अपना नाम कटवा लिया।

अबकी बार मुंशीराम ने बनारस में रेवड़ी तालाब के निकट के जयनारायण स्कूल में प्रवेश लिया, किन्तु पढ़ाई में मन अब भी नहीं लगा। जीवन में जो स्वच्छन्दता प्रविष्ट हो चुकी थी वह निरन्तर बढ़ ही रही थी। जिस विषय के पढ़ने में मन नहीं लगता, उसकी कक्षा को छोड़ने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। यार-दोस्तों के साथ निकटवर्ती जंगल में चले जाते और वहाँ प्रकृति की शोभा को निहारते। घरवाले तो समझते कि बर्खुरदार पढ़ने के लिए स्कूल तशरीफ ले गये हैं, और उधर इस प्रकार की मटरगश्तियाँ होतीं।

धार्मिक अन्धविश्वासों की समाप्ति

पढ़ने-लिखने में चाहे मुंशीराम का मन नहीं लगता था, किन्तु विश्वनाथ की पूजा-अर्चा में उन्होंने कभी नागा नहीं की। एक सायं जब लगभग आठ बजे विश्वनाथ जी के दर्शनों के लिए मन्दिर के द्वार पर पहुँचे तो पता लगा कि वहाँ पहरा लगा हुआ है। पता करने पर मालूम हुआ कि रीवाँ की महारानी दर्शनार्थ मन्दिर में आई है। उनके चले जाने के बाद ही मन्दिर के द्वार जनसाधारण के लिए खुलेंगे। इस घटना ने मुंशीराम को विश्वनाथ की वास्तविकता से परिचित करा दिया। वे सारी रात सो नहीं सके और सोचते रहे कि क्या विश्वनाथ स्वामी के दरबार में भी साधारण लोगों और राजा-रानियों का अन्तर माना जाता है? यह प्रस्तर-प्रतिमा, जिसे विश्वनाथ कहते हैं इसे तो एक मूर्ति बनानेवाले कारीगर ने बनाया है। जब मन में भावनाओं का ज्वार उमड़ पड़ा तो मुंशीराम एकबारगी निराशा के प्रवाह में बह निकले। अन्ततः हिन्दू धर्म में प्रचलित मूर्तिपूजा के प्रति उनका विश्वास डोल उठा। ईसाई लेखकों ने हिन्दू धर्म में मान्य प्रतिमा-पूजन के विरोध में जो युक्तियाँ और तर्क दिये थे, वे बार-बार मुंशीराम के मानस को आन्दोलित करते रहे और उन्होंने निश्चय किया कि वे जयनारायण स्कूल के पादरी प्रिंसिपल ल्यूपोल्ट से इस सम्बन्ध में मार्गदर्शन प्राप्त करेंगे।

दूसरे दिन वे प्रिंसिपल ल्यूपोल्ट से मिले और बहुत-कुछ प्रश्नोत्तर किये। जब इससे भी मन को शान्ति नहीं मिली तो एक विचार मन में आया कि रोमन कैथोलिक पादरी से इस समस्या पर और चर्चा करनी चाहिए। पादरी ल्यूपोल्ट यद्यपि प्रोटेस्टेण्ट थे, किन्तु उनसे हुआ वार्तालाप मुंशीराम को अधिक सन्तुष्ट नहीं कर सका था। अब वे पादरी लीफूँ के सम्पर्क में आये और उनके आचार-व्यवहार से प्रभावित होकर रोमन कैथोलिक मत में प्रविष्ट होने और ईसाई विधि से बप्तिस्मा लेने के लिए सहमत हो गये। ईसाई मत को अंगीकार कर लेने का निश्चय इतना प्रगाढ़ हो गया कि एक शाम बप्तिस्मा लेने की तिथि का निश्चय करने के लिए फादर लीफूँ के घर चले गये। पादरी लीफूँ साहब से मिलने के लिए ज्यों ही उनके बँगले में प्रवेश किया उन्होंने देखा कि एक अन्य पादरी एक ईसाई युवती साध्वी के साथ प्रणयाचरण में रत है। पादरियों और साध्वियों को इस प्रकार ब्रह्मचर्य का मखौल उड़ाते और क्षुद्र इन्द्रियजन्य वासना-तृप्ति में रत देखकर मुंशीराम का मन ईसाइयत से पूर्णतया विमुख हो गया। मुसलमानी मत ने तो उन्हें कभी आकृष्ट किया ही नहीं था। अब वे हिन्दुओं की माला, मुसलमानों की तसबीह और ईसाइयों की रोज़री (Rosary) तीनों को ही हिकारत की नजर से देखने लगे। जब कोई व्यक्ति धर्म के नाम पर प्रचलित बाहरी आडम्बरों, मिथ्या रूढ़िवादों और अनाचारपूर्ण कृत्यों को प्रत्यक्ष देख लेता है तो धर्ममात्र से ही उसका विश्वास उठ जाता है। यही दशा मुंशीराम की भी हुई। उनकी धारणा

बन गई कि धर्म कहो या मजहब, यह सब ढकोसलामात्र है। लोगों ने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही इन मत-पन्थों का जाल बिछा रक्खा है।

ईश्वर और धर्म को लेकर सन्देह की जड़ें मुंशीराम के मस्तिष्क में बहुत दूर तक जा चुकी थीं। इसी बीच उनकी माता का निधन हो गया और वे स्वल्प काल के लिए ही सही, निराशा के गर्त में गोते खाने लगे। किन्तु बनारसी रंग जो एक बार चढ़ा, वह मानो उतरना ही नहीं चाहता था। काशी में ही हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उनका परिचय हुआ। यदा-कदा वे भारतेन्दु की साहित्यिक गोष्ठियों में सम्मिलित होते रहे। उर्दू साहित्य में एक बार जो प्रवेश किया तो इश्किया शायरी पढ़ने का चस्का लगा। उधर शाहनामा, अलिफ-लैला और हातिमताई के किस्सों ने उन्हें एक विचित्र रहस्यलोक में प्रविष्ट करा दिया। हिन्दी की शृंगारी कविता और उर्दू काव्य के प्रेम-प्रसंग, इन दोनों ने आचरणगत पवित्रता को शिथिल किया और युवक मुंशीराम का हृदय एक निराले कल्पनालोक में विचरण करने लगा। उधर सर वाल्टर स्कॉट के ऐतिहासिक कथानकों से युक्त रोमांचक उपन्यास पढ़ने का जो चस्का लगा, तो आधी-आधी रात तक चिराग जलाकर इन्हें पूरा किये बिना चैन नहीं पड़ता। तथापि सस्ते रोमांचभरे उपन्यासों की तुलना में स्कॉट के उपन्यास उन्हें अच्छे लगे। यहाँ ऐसे वीर नायकों को चित्रित किया गया था, जो चरित्र के धनी होते थे और अपनी आचारनिष्ठा का पालन करने में कभी ढिलाई नहीं आने देते।

मुंशीराम की माता का निधन बलिया में उनकी अनुपस्थिति में हुआ था। माता के मन की एक कामना तो अपूर्ण ही रह गई थी। वह अपने प्रिय पुत्र का विवाह अपनी आँखों से देखना चाहती थी, किन्तु यह नहीं हो सका। माता की और्ध्वदैहिक क्रियाओं से निवृत्त होकर वे पुनः बनारस आ गये। यहाँ आकर वे परीक्षा की तैयारी में जुट गये। मुंशीराम की इस बार की मेहनत सफल रही और उन्होंने द्वितीय श्रेणी में परीक्षा उत्तीर्ण की। अब उन्हें कॉलेज में प्रवेश मिला। यहाँ उन्हें अंग्रेजी के अतिरिक्त इतिहास, तर्क, गणित और फारसी जैसे विषय पढ़ने पड़े। मुंशीराम ने अपने कॉलेज-जीवन के कुछ मित्रों के सुन्दर रेखा-चित्र अपनी आत्मकथा में अंकित किये हैं। इसमें पशुपतिशरण सिंह, दयाशंकर, हरिपद मुकर्जी, रामकृष्ण खत्री, गंगाप्रसाद और रामशंकर मिश्र के नाम उल्लेखनीय समझकर उनके बारे में आत्मकथा-लेखक ने बहुत-कुछ लिखा है।

मुंशीराम का अध्ययन तो बनारस में हो रहा था, किन्तु उनके पिता अभी तक बलिया में ही थे। जब कॉलेज में दो मास का अवकाश हुआ, तो मुंशीराम पिता के पास बलिया चले गये। सोचा तो था कि छुट्टियों में पढ़ाई करेंगे, किन्तु हुआ कुछ और ही। वाल्टर स्कॉट के भक्त मुंशीराम को अंग्रेजी साहित्य पर चर्चा

करने के लिए वहाँ के जाइंट मजिस्ट्रेट रिचार्ड इवान्स का सत्संग मिल गया।

अवकाश के दिन वलिया में बिताकर मुंशीराम पुनः बनारस आये। इसके आगे के प्रसंगों को उन्होंने स्वयं पाप-सागर में डूबने की कहानी कहा है। काशी में गंगा-तट के सेंधिया घाट पर एक कामान्ध लम्पट साधु के पंजे से उन्होंने एक युवती को बचाया। इस घटना ने उनके मन को कल्पना के आकाश में उन्मुक्त भाव से विचरण करने की खुली छुट्टी दे दी। अंग्रेजी के उपन्यासों ने उन्हें स्वयं को अबला का वीर रक्षक (Knighterrant) तथा पीड़ित महिला (Distressed Lady) को अपनी प्रिया (Lady Love) के रूप में कल्पित करने की प्रेरणा दी। और इसके बाद मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूतक्रीड़ा जैसे दुर्व्यसनों का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसका विवरण स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द ने पूर्ण निर्लेप भाव से अपनी आत्मकथा में दे दिया है।

यह एक विचित्र बात ही थी कि दीपावली पर एक मैथिल पण्डित से प्रेरित होकर जुआ खेलनेवाला, अपने मामा से मद्यपान की बुराई ग्रहण करनेवाला मुंशीराम अब अध्ययन में विशेष श्रम करता था। अंग्रेजी उपन्यासों का चस्का छूटा तो अंग्रेजी काव्य के अध्ययन में रुचि हुई। शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन किया। अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार प्राप्त हो गया है, इसका प्रमाण परीक्षा-फल से ज्ञात हुआ, जबकि अंग्रेजी में उसे ९७ प्रतिशत अंक मिले।

इधर पिता जी की बदली वलिया से मथुरा हो गई। अब बनारस-निवास की समाप्ति की घड़ी आ रही थी, किन्तु मुंशीराम काशी के मेले-त्योहारों का पूरा आनन्द ले लेना चाहते थे। होली के पश्चात् आनेवाले मंगलवार को काशी में बुढवामंगल कहते हैं। यह आमोद-प्रमोद, हास-विलास, रंगराग का अपूर्व अवसर बनारसी बाबुओं को प्रदान करता है। लोग गंगा में नावों को लेकर सैर-सपाटे और नाचरंग के लिए निकल पड़ते हैं। सजी-सजाई नौकाओं पर वेश्या-नृत्य की धूम रहती है। बुढवामंगल का सम्पूर्ण आनन्द लेकर मुंशीराम मथुरा पहुँचे। यहाँ भी सैर-सपाटे चलते रहे। मथुरा और वृन्दावन के वैष्णव मंदिरों का वैभव-विलास प्रत्यक्ष देखा। चौबों का भोजनभट्ट-रूप देखकर मुंशीराम का चकित होना स्वाभाविक ही था। इधर वल्लभाचार्य-प्रवर्तित पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के मंदिरों में गुसाइयों की दुराचार-लीलायें भी देखीं। साम्प्रदायिक पाखण्डों को देखकर मुन्शीराम की नास्तिकता कुछ और दृढ़ हो गई।

मुन्शीराम का वैवाहिक रिश्ता तो उनकी माता के जीवित रहते ही पक्का हो गया था। अब विवाह की तिथि निश्चित हुई और वे इस कार्य हेतु अपनी जन्मभूमि तलवन आये। इस अवसर पर स्नेहमयी माता का स्मरण आना स्वाभाविक ही था। बड़ी भावज ने उन्हें माता का वात्सल्य दिया। धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ और जालंधर के रईस राय शालिग्राम की बारह वर्षीय पुत्री

शिवदेवी मुंशीराम की अर्द्धांगिनी बनकर तलवन आई। निश्चय ही तत्कालीन प्रथा के अनुसार इस विवाह को बालविवाह ही कहना होगा। युवा मुंशीराम भी इससे बहुत खुश नहीं थे, किन्तु चारा ही क्या था ?

स्वल्प काल के लिए ही मथुरा में पुलिस के सहायक अधीक्षक का कार्य कर लाला नानकचन्द बरेली में कोतवाल के पद पर आ गये। फलत: मुंशीराम को भी आश्विन १९३४ वि० से चैत्र १९३७ वि० तक का काल बरेली में ही व्यतीत करना पड़ा। यहाँ भी जीवन का वही क्रम चलता रहा, जो इससे पूर्व बनारस में था। बरेली के रईसों की बुरी आदतों तथा उनके दुराचारपूर्ण जीवन को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा। यद्यपि बरेली के मस्तीभरे वातावरण को छोड़कर आगे पढ़ने की इच्छा मुंशीराम को किंचिन्मात्र भी नहीं थी, किन्तु अन्तत: पिता के आग्रहवश उन्हें इलाहाबाद जाकर म्योर कॉलेज में प्रवेश लेना पड़ा। अब वे द्वितीय वर्ष में थे। अंग्रेजी के अतिरिक्त जो विषय उन्हें पढ़ने पड़े वे थे—गणित, रसायन, फारसी तथा संस्कृत। उनके संस्कृत के अध्यापक प्रसिद्ध विद्वान् पं० आदित्यराम भट्टाचार्य थे।

गर्मी की छुट्टियों में पुन: बरेली आना हुआ। मन में कुछ दृढ़ता आई, अत: मद्यप मित्रों और नाच-रंग में रुचि लेनेवालों से सम्पर्क नहीं रक्खा। प्रात: नियमपूर्वक भ्रमणार्थ जाते और सायंकाल पिता जी की घोड़ागाड़ी में सैर होती। नियमित अध्ययन के अतिरिक्त मनोविज्ञान के ग्रन्थ पढ़ने में रुचि हुई, तो इस विषय में इतने निमग्न हुए कि परीक्षा की पूरी तैयारी भी नहीं कर सके।

इन दिनों मुंशीराम की मन:स्थिति में कुछ विचित्रता लक्षित होती थी। एक ओर तो वे अपने-आपको नास्तिक घोषित करते थे जिन्हें परमात्मा की सर्वोच्च सत्ता से कुछ लेना-देना नहीं था, किन्तु दूसरी ओर वे योगजन्य विभूतियों पर भी विश्वास रखते थे। उन्होंने हठयोग की कुछ क्रियाओं का अभ्यास भी किया था। प्रयाग के निकट झूँसी के जंगल में रहनेवाले एक योगी ने उन्हें बताया कि हठयोग की क्रियायें शरीर के लिए हानिकर होती हैं तथा कैवल्य ज्ञान, जो योग का लक्ष्य है, उसके मार्ग में भी बाधक है। उन्होंने मुंशीराम को राजयोग की साधना करने के लिए कहा। परीक्षा का समय निकट आया तो मुन्शीराम घोर परिश्रम करने लगे। कुछ प्रश्नपत्र तो ठीक-ठीक कर लिये, किन्तु तर्कशास्त्र की परीक्षा देते ही वे ज्वरग्रस्त हो गये। सन्निपात की-सी स्थिति हो गई। परिणाम तो वही हुआ, जो होना था। एफ०ए० की परीक्षा में असफल रहे, अत: निर्बल स्वास्थ्य को लेकर पिता के पास बरेली आ गये।

परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने और प्रयाग में एक वर्ष का निराशापूर्ण काल-यापन मुंशीराम के लिए घोर अवसाद, त्रास, पीड़ा, तथा कुण्ठा का था। इस प्रकार की मनोदशा में उन्होंने यही उचित समझा कि शराब के प्याले से बढ़कर गम

गलत करने का और कोई उपाय नहीं है। फिर क्या था ! रात होते ही ब्राण्डी की बोतल उनकी मेज पर होती और अंगूर की बेटी से उनका यह इश्क आधी रात तक चलता रहता। किन्तु यह और भी आश्चर्यकर प्रसंग था कि मदिरा के प्याले-पर-प्याले चढ़ाते समय भी मुंशीराम पाश्चात्य दार्शनिकों के गूढ़तम ग्रन्थों का अध्ययन करते रहते। लॉक और बेकन की पुस्तकें उन्होंने इसी दौरान पढ़ीं।

शराब के साथ-साथ नाचरंग की महफिलों की शोभा भी बढ़ाई जाने लगी। पिता को तो पता ही नहीं चल पाया कि जवान बेटा किस राह का राही हो चला है। इस बीच मुंशीराम ने अलीगढ़ जाकर एफ० ए० की परीक्षा में पुनः बैठने का विचार किया। वे अलीगढ़ गये और अपने काशी के जमाने के सहपाठी मित्र रामशंकर मिश्र के यहाँ ठहरे। मिश्र जी की अलीगढ़ के नवस्थापित ऐंग्लो-मोहम्मडन कॉलेज में गणित के प्रवक्ता पर नियुक्ति हुई थी। किन्तु मिश्र जी भी मुंशीराम को अध्ययन की प्रेरणा देनेवाले सिद्ध नहीं हुए। वे तो उनके 'हम-प्याला हमनिवाला' होकर रह गये। एक जन्मना ब्राह्मण और दूसरा खत्री, ये दोनों मित्र जब शराब के प्याले लेकर बैठते, तो जातिगत भेद-भाव खत्म हो जाता। इधर तो वे विधिवत् कॉलेज में प्रवेश लेने का विचार कर अलीगढ़ आये थे, किन्तु शहर में हैजा फैल जाने से कॉलेज में एक मास की छुट्टी हो गई और मुंशीराम बरेली लौट आए।

बरेली का जीवन भी हासविलास में ही बीतने लगा। उन दिनों यहाँ का कायस्थ समाज शराब, मांस और वेश्या-नृत्य जैसी बुराइयों में आपादमस्तक निमग्न था। मुंशीराम को भी इन्हीं लोगों की सोहबत मिली। यहाँ के कुछ वीभत्स प्रसंगों को स्वयं मुंशीराम ने ही अपनी आत्मकथा में निबद्ध किया है। यह पतन की पराकाष्ठा थी। किन्तु अब शायद उनके जीवन में शुभ परिवर्तन का नया दौर आने ही वाला था।

अध्याय २

दयानन्द के सम्पर्क से मुंशीराम का चरित्र-परिवर्तन

बरेली में ऋषि दयानन्द का आगमन

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द भाद्रपद कृष्ण १२ सं० १९३६ वि० को बरेली आये। शासन ने उनके व्याख्यानों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य नगर-कोतवाल लाला नानकचन्द को ही सौंपा। यद्यपि नानकचन्द स्वयं सनातनधर्मी आस्थावाले थे, मूर्तिपूजा उनकी दैनिक चर्या थी, किन्तु स्वामी जी के व्याख्यानों को सुनकर उन्हें यह आभास हुआ कि इस संन्यासी की वाणी में जादू का-सा प्रभाव है। वे स्वामी दयानन्द की युक्तियों और व्याख्यान-कौशल से तो प्रभावित हुए ही, यह भी अनुभव करने लगे कि यदि मुंशीराम को किसी-न-किसी प्रकार दयानन्द के व्याख्यान सुनने की प्रेरणा दी जाय, तो उनके अधोगामी जीवन में कुछ अपेक्षित परिवर्तन हो सकता है। वे अपने पुत्र की शोचनीय मानसिक स्थिति से भी चिन्तित थे। वे यह अनुभव करते थे कि ईश्वर, धर्म और सदाचार की यह उपेक्षा उनके युवा पुत्र को विनाश के न जाने किस कगार पर ले जायगी। मुंशीराम का स्वामी दयानन्द से समागम किस प्रकार हुआ, यह उन्हीं के शब्दों में लिखना समीचीन होगा—

"१४ श्रावण संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बाँसबरेली पधारे। ३ भाद्रपद को बरेली चले आये। स्वामी जी महाराज के पहुँचते ही कोतवाल साहब को हुक्म मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बंदोवस्त कर दें। पिता जी स्वयं सभा में गये और स्वामी जी के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुए कि उनके सत्संग से मुझ नास्तिक की संशय-निवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया। रात को घर आते ही मुझे कहा—'बेटा मुंशीराम, एक दण्डी संन्यासी आए हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं। उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे। कल मेरे साथ चलना।' उत्तर में कह तो दिया कि चलूँगा, परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने-

वाला साधु बुद्धि की क्या बात कहेगा ? दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में पिता जी के साथ पहुँचा, जहाँ व्याख्यान हो रहा था। उस दिव्य आदित्यमूर्ति को देखकर कुछ श्रद्धा पैदा हुई। परन्तु जब पादरी टी० जे० स्कॉट और दो-तीन अन्य यूरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा, तो श्रद्धा और भी बढ़ी। अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—'यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुए ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जायँ।' व्याख्यान परमात्मा के निज नाम "ओम्" पर था। वह पहले दिन का आह्लाद कभी भूल नहीं सकता। नास्तिक रहते हुए भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि-आत्मा का ही काम था।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउनहाल मिल गया है, इसलिये कल से व्याख्यान वहाँ शुरू होंगे। स्वामी जी ने उच्च स्वर से कह दिया कि 'सवारी समय पर पहुँच जाया करेगी, तो वे तैयार मिलेंगे।'

टाउनहाल में जबतक 'नमस्ते, पोप, पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी' इत्यादिक परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तबतक तो पिता श्रद्धा से सुनते रहे, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा, तो जहाँ एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी, वहाँ पिता जी ने आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत थानेदार की ड्यूटी लगा दी। २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय-विभाग यह रहा कि दिन का भोजन करके दोपहर को ही बेगम बाग की कोठी पहुँच ड्योढ़ी पर बैठ जाता। ४ और ५ बजे के बीच में जब ऋषि का दरबार लगता, तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य को प्रणाम करता, वह मैं था। प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उसका आनन्द लेता रहता। व्याख्यान के लिए २० मिनट से पहले सब दरबारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते। मैं अपनी बेगनट पर सीधा टाउनहाल पहुँचता। व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर न लौटता, जबतक कि आचार्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर न चल देती।"

मुंशीराम आगे लिखते हैं—"२५, २६ व २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्कॉट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुए। विषय प्रथम दिन पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं वा नहीं ? पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपात ज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ६ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि-जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ मैंने देखीं, जिनमें से कुछ-एक को यहाँ लिखूँगा जिनका प्रभाव मुझपर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आँखों के सामने घूम रही हैं।"

इसके पश्चात् मुंशीराम ने स्वामी जी की प्रातःकालीन दिनचर्या का वर्णन

इस प्रकार किया—"मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर केवल कौपीन पहरे लट्ठ हाथ में लिये साढ़े तीन बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौटकर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिए कि बाहर जाकर वह क्या करते हैं ? "दबदबए कैसरी" अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। पाँच मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझ-सा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम ढाई बजे से ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे, जहाँ से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्रमूर्ति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये ऐडिटर भी लुढ़कते-पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एकाध मील की दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगाई। परन्तु वहाँ मैदान था, मैंने भी उनको आँख से ओझल न होने दिया। अन्त को पाव मील धीरे-धीरे चलकर एक पीपल के वृक्ष-तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे डेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधिस्थ रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुए, आसन जमाते ही समाधि लग गई। उठकर दो अँगड़ाइयाँ लीं और टहलते हुए तत्काल आश्रम की ओर चल दिये।

व्याख्यान-हेतु समय पर सभा में उपस्थित होना स्वामी जी का स्वभाव ही बन गया था। इस सम्बन्ध में मुंशीराम ने अपना संस्मरण प्रस्तुत किया है—"एक सनीचर के व्याख्यान के पीछे श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्य-वार) को नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उस समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुँचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूँगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हॉल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया, परन्तु आचार्य न पहुँचे। पाव घण्टा, आध घण्टा भी बीत गया, परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनाई दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखाई दी। मध्य की डाट के नीचेवाली एक ओर की दीवार में सोटा टेक, ईश्वर-प्रार्थना के लिए बैठने से पूर्व उन्होंने कहा—"मैं समय पर तैयार था, परन्तु सवारी नहीं आई। बहुत प्रतीक्षा के पीछे पैदल चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली। इसलिए देर हो गई। सभ्य पुरुषो, मेरा कुछ दोष नहीं है, दोष बच्चों के बच्चों का है, जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।"

महाराज का खण्डन-कुठार इतना तीक्ष्ण एवं मर्मभेदी होता था कि सम्प्रदाया-नुवर्ती लोग उसकी चोट से तिलमिला जाते। मुंशीराम के ही शब्दों में—"एक व्याख्यान में पौराणिक असम्भव और आचारभ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस

समय पादरी स्कॉट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रीड कलेक्टर, १० वा २० अन्य अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंच कुँवारियों की कल्पना पर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखनेवाली द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों को अपील की। स्वामी जी के कथन में हास्य रस अधिक होता था, इसलिए श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हँसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले—'पुरानियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की यह लीला सुनो ! ये ऐसे भ्रष्ट हैं कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ, शुद्धस्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं होते !' इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुँह क्रोध के मारे लाल हो गये, परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा। और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

अंग्रेज अधिकारियों ने स्वामी जी द्वारा की गई इस आलोचना का बुरा माना, अतः उन्होंने आर्यसमाज के मन्त्री लाला लक्ष्मीनारायण खजांची को तलब किया और उन्हें इस बात का आदेश दिया कि वे अपने पण्डित (दयानन्द सरस्वती) से आलोचना में सख्ती न बरतने के लिए कह दें। पुनः विदेशी शासक ने अपनी उदारता और सदाशयता की डुग्गी पीटते हुए कहा—'हम ईसाई तो सभ्य हैं, वादविवाद की सख्ती से नहीं घबराते, किन्तु यदि जाहिल हिन्दू-मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे।'

खजांची जी के लिए अब यह समस्या उत्पन्न हुई कि वे स्वामी जी तक इस बात को कैसे पहुँचाएँ ? उन्हें इतना साहस ही नहीं हो रहा था कि कमिश्नर के संकेत को स्वामी जी से निवेदन कर दें। अतः उन्होंने अत्यन्त संकोच के साथ महाराज से इतना ही कहा कि यदि खण्डन में अधिक कठोरता न बरती जाय तो क्या हानि है ? स्वामी जी भी खजांची जी के कथन का गूढ़ाशय समझ गये और हँसते हुए बोले कि इस सीधी-सी बात को कहने में वे इतना संकोच क्यों कर रहे थे ?"

परन्तु कमिश्नर की चेतावनी का निर्भीक वक्ता पर क्या असर हुआ ? यह हम मुंशीराम के ही शब्दों में सुनें—"उस शाम के व्याख्यान को कौन सुननेवाला भूल सकता है ? मैंने बड़े-बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे-सादे शब्दों से निकलकर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूँ ? उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्वदिवस के सब अंग्रेज (पादरी स्कॉट के अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुए आचार्य ने कहा—'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे, चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो,

हम तो सत्य ही कहेंगे।' इसके पीछे एक श्लोक पढ़कर आत्मा की स्तुति की—'न शास्त्र उसे काट सके, न आग उसे जला सके, न पानी उसे गला सके, और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य, अमर है।' फिर गरजते हुए शब्दों में बोले—'यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।' फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—'किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ जो मेरे आत्मा का नाश करने का दावा करे! जब तक ऐसा वीर संसार में दिखाई नहीं देता, तब तक मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं।' सारे हॉल में सन्नाटा छा गया। रूमाल का गिरना भी सुनाई देता था।"

निश्चय ही दयानन्द के दुर्दमनीय व्यक्तित्व, उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य तथा उनकी दिव्य तेजस्वी मूर्ति ने युवक मुंशीराम को विस्मय-विमुग्ध कर दिया था। तथापि वह मन-ही-मन सोचता—यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्वयुक्ति और तर्कशक्ति का सामना करनेवाला न रहे। उनके ही शब्दों में "मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मोहर लग गई।" भगवदीय सत्ता के खण्डन में सर्वथा नवीन युक्तियों के द्वारा संशयग्रस्त मनवाले तथा नास्तिक दर्शनों के अध्ययनरूपी झंझावात से त्रस्त एवं व्याकुल मुंशीराम को दयानन्द-प्रतिपादित आस्तिकता के पावन तथा शीतल स्पर्श ने पुलकित एवं आप्यायित कर दिया। तथापि ईश्वर-विश्वास का अंकुर पूर्णतया जमा नहीं। उसने कहा—'महाराज, आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है, आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।' महाराज पहले हँसे, पुनः जल्द गम्भीर स्वर में बोले—'देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये, यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर कर दूंगा? मैंने यह दावा कब किया था कि आस्तिकता की पुण्य लता को तुम्हारे मानस के आलवाल में लहरा दूँगा? यह तो तभी होगा, जब परम कारुणिक प्रभु ही तुमपर कृपा करेंगे और वे तुम्हें अपना विश्वासी बना, भक्त के रूप में स्वीकार करेंगे।' मुंशीराम को स्मरण आया, उस समय महाराज ने निम्न उपनिषद्-वाक्य पढ़ा था—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

कहना नहीं होगा कि दयानन्द जैसे महान् आस्तिक की भविष्यवाणी सफल हुई और यही युवक आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में ईश्वर-विश्वास के चरम सम्बल से ही स्वधर्म, स्वराष्ट्र तथा मानव-जाति के कल्याणार्थ सर्वस्व

समर्पित कर सका।

जिस समय स्वामी दयानन्द बरेली से विदाई ले रहे थे, उस समय उनका यह नया बना भक्त मुंशीराम तीव्र ज्वर से पीड़ित होकर खाट पर बेहोश पड़ा था। जैसे-तैसे ज्वर से मुक्त हुआ तो पिता की आज्ञा से पत्नी को लिवा लाने के लिए स्वगृह की ओर प्रस्थित हुआ। अब गृहस्थ मुंशीराम आज्ञाकारिणी पत्नी को लेकर बरेली लौटे। शिवदेवी बिना पति को भोजन कराये अन्न का दाना भी मुँह में नहीं डालती थी। इधर मुंशीराम अभी भी लाला भाइयों की कुसंगत से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके थे। एक दिन मुंशी त्रिवेणीसहाय के कहने में आकर भयंकर नशीली शराब पी गये और आवारा दोस्तों के फेर में पड़ मुजरा देखने बाई जी के कोठे पर भी चले गये, परन्तु वहाँ के घिनौने दृश्य को देखकर न जाने कैसी विरक्ति हुई कि "नापाक-नापाक" कहते हुए कोठे से नीचे उतर गये। घर लौटे तब तक शराब ने पूरा असर दिखाया जो वमन के साथ ही शान्त हुआ। होश आने पर देखा कि सहधर्मिणी शिवदेवी अपने विपथगामी पति की शिशुवत् सेवा कर रही है। पत्नी के इस स्नेह-स्निग्ध व्यवहार को देखकर नारी के विविध रूपों वाली बात समझ में आई। सती नारी अपने पति के हित के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग कर सकती है। इस कथन की सत्यता को अनुभव करने का दूसरा अवसर तब आया जब मुंशीराम के शराब के बिलों को चुकाने के लिए शिवदेवी ने अपने स्वर्ण-कंगन पति को अर्पित कर दिये। पतिव्रता पत्नी के इस प्रोज्ज्वल आदर्श को देखकर मुंशीराम की धारणा बनी कि वैदिक आदर्श से गिरकर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य महिलाओं ने किया है, इसी के प्रताप से भारतभूमि रसातल को नहीं पहुँची है।

सरकारी सेवा में प्रवेश और उससे मुक्ति

मुंशीराम के जीवन के इन उतार-चढ़ावों को पिता नानकचन्द जी भी पूरी निगहबानी के साथ देख रहे थे। अनुभवी पुलिस-इन्स्पैक्टर ने समझ लिया कि मुंशीराम का पढ़ने में मन नहीं है। उसे कहीं-न-कहीं नौकरी करानी चाहिए। नानकचन्द जी के बरेली के कमिश्नर से अच्छे सम्बन्ध थे। कमिश्नर एडवर्ड्स साहब ने युवक मुंशीराम को मिलने के लिए बुलाया और उससे अंग्रेजी में बात-चीत कर प्रसन्न हुए। नानकचन्द जी की सिफारिश तो थी ही। उन्होंने अस्थायी तौर पर मुंशीराम की नियुक्ति बरेली में ही नायब तहसीलदार के रूप में कर दी। बरेली तहसील में कार्य करते हुए उन्हें कुछ अधिक कठिनाई नहीं हुई। कुछ समय के लिए उन्हें तहसीलदार के रूप में भी कार्य करना पड़ा, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव कर लिया कि नौकरी आखिर नौकरी ही है और अंग्रेजी सरकार की सेवा में रहकर स्वाभिमान को कायम रखना कठिन है। अंग्रेज कलेक्टर और

जाइँट मजिस्ट्रेट का व्यवहार उन्हें अपमानजनक लगा, किन्तु जैसे-तैसे वे अपने अस्थायी कार्यकाल को पूरा कर ही लेना चाहते थे। इसी बीच एक घटना घटी जिसने मुंशीराम को सदा-सदा के लिए विदेशी शासकों की गुलामी से मुक्त कर दिया।

बरेली तहसील से लगभग ८-१० मील पर गोरी फौज का एक पड़ाव पड़ा। तहसीलदार को वहाँ के लिए रसद की व्यवस्था करनी थी। मुंशीराम उस समय बरेली के कार्यवाहक तहसीलदार होने के कारण गोरों को खाद्य सामग्री पहुँचाने के लिए सेना-शिविर में पहुँचे। फौज के कुछ सिपाहियों ने अण्डेवाले को बिना मूल्य दिये उसके अण्डे लूट लिये। जब तहसीलदार मुंशीराम ने कर्नल से शिकायत की तो परिणाम उल्टा ही निकला। अंग्रेज कर्नल के आगे सिपाहियों की उद्दण्डता को सुनाने का भी जब कोई नतीजा नहीं निकला, तो मुंशीराम अपने अमले के साथ शहर लौट आये। उधर कर्नल ने तहसीलदार के व्यवहार की शिकायत कलेक्टर से की। इधर मुंशीराम स्वयं सारी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कलेक्टर के बँगले पर गए। कलेक्टर ने मुंशीराम द्वारा प्रस्तुत लिखित विवरण को पढ़कर सचाई को जाना तो अवश्य, किन्तु फौज के गोरे अधिकारी को भी सन्तुष्ट करना आवश्यक था। अतः उसने मुंशीराम पर जोर डाला कि वह कर्नल साहब से क्षमा-याचना कर लें। मुंशीराम को भला यह कैसे स्वीकार होता? वह उल्टे पाँव लौट पड़ा। कमिश्नर एडवर्ड्स की सौजन्यता से जैसे-तैसे तीन मास का उनका सेवाकाल समाप्त हुआ और सरकारी नौकरी से उन्होंने सदा के लिए तौबः कर ली।

पिता ने उन्हें एक बार और राजकीय सेवा में प्रविष्ट कराने का यत्न किया। उस समय नानकचन्द जी बुलन्दशहर जिले के कस्बा खुर्जा में नियत थे। वे स्वयं राज्य-सेवा से पेंशन लेने का विचार कर रहे थे। उनकी पश्चिमोत्तर प्रदेश के राजस्व मण्डल के वरिष्ठ सचिव सी० पी० कारमाइकेल से घनिष्ठता थी। कारमाइकेल साहब ने मुंशीराम को रेवेन्यू विभाग में अच्छी नौकरी देने का वचन दिया, किन्तु तहसीलदारी करते हुए उन्होंने जो अनुभव किया वह बहुत सुखद नहीं था, अतः कारमाइकेल के आग्रह को स्वीकार करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ। पिता जी भी मुंशीराम को राजकीय सेवा में देखने के लिए विशेष उत्सुक नहीं थे। उन्होंने मुंशीराम के समक्ष वकील बनने का प्रस्ताव रक्खा। नानकचन्द जी भी सरकारी नौकरी से पेंशन लेकर तलवन में अपनी जायदाद का प्रबन्ध ही देखना चाहते थे। इसमें उन्हें मुंशीराम के सहयोग की आकांक्षा थी। अतः वकील बनने और उसके लिए समुचित योग्यता अर्जित करने का विचार लेकर मुंशीराम अपने ग्राम तलवन आ गये। यहाँ आकर अपने को ग्राम की परिस्थितियों के अनुकूल किया। जमींदार पिता के आज्ञाकारी कारिन्दे की भाँति रहने में मुंशीराम प्रसन्नता

अनुभव करते थे। तलवन में यद्यपि नागरिक जीवन के अनेक प्रलोभनभरे व्यसनों से वे मुक्त हो गये, किन्तु मद्य-मांस का सेवन नहीं छूटा।

लाहौर-आगमन और कानून की शिक्षा

१८८१ की जनवरी में मुंशीराम लाहौर आये और किराये पर मकान लेकर कानून की पढ़ाई में लग गये। अभी तक उनका मन अव्यवस्थित ही था, अतः कानून की पुस्तकों का अध्ययन करने की अपेक्षा वे अपना अधिकांश समय अंग्रेजी उपन्यासों और काव्य-ग्रन्थों को पढ़ने में ही लगाते। आवारागर्दी का शौक अभी बाकी था, अतः किसी व्यक्ति के कहने में आकर एक दूकान में अपनी पूंजी लगाई किन्तु उसमें घाटा होने के कारण फर्नीचर तक नीलाम कर जैसे-तैसे उससे जान छुड़ाई। भतीजी के विवाह में तलवन जाना पड़ा और लौटते समय पत्नी को भी साथ ले आये। कानून की पढ़ाई तो गम्भीरता से की, किन्तु उपस्थिति पूरी नहीं होने के कारण परीक्षा में नहीं बैठ सके।

एक वर्ष यों ही चला गया। १८८२ में लॉ कक्षाओं की उपस्थिति को पूरा किया और अवशिष्ट पढ़ाई के लिए जालंधर चले गये। यहाँ श्वसुरगृह का निवास और बड़े साले लाला बालकराम का संसर्ग मिला। पढ़ाई तो जैसी कुछ हुई वह अधिक सन्तोषप्रद नहीं थी, किन्तु अंग्रेजी उपन्यासों का व्यसन यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ रहा था। अतः यही उचित समझा कि लाहौर लौट चलें। लाहौर में आर्य-समाज के दो सिख अनुयायियों से उनकी भेंट हुई। ये थे ज्ञानी दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह। ज्ञानी जी आर्यसमाज लाहौर के उपदेशक थे और भाई जी आर्य-समाज के तत्कालीन मन्त्री। मुंशीराम कभी आर्यसमाज में, तो कभी ब्रह्मसमाज में जाने लगे। सभा-समाजों में जाने से इतना परिवर्तन तो हुआ कि मद्यपान में कुछ कमी आई, किन्तु इस व्यसन से सर्वथा मुक्त होने का समय अभी नहीं आया था। कानुन की परीक्षा में इस बार भी अनुत्तीर्ण रहे जबकि एक कन्या के जन्म के कारण पारिवारिक दायित्व में वृद्धि हुई। पुत्री का नाम वेदकुमारी रक्खा गया। मुंशीराम के जीवन के ये क्षण अत्यन्त अस्थिरता के थे। एक ओर तो मदिरापान से छुटकारा नहीं मिल रहा था, उधर आर्थिक तौर पर स्वावलम्बी बनने की इच्छा भी थी। कभी सोचते कि यदि कारमाइकेल साहब का कहना मानकर नौकरी ही की होती तो आज आर्थिक पराधीनता से तो मुक्त रहता। इस बार फिर मुख्त्यारी की परीक्षा की भरपूर तैयारी की और परीक्षा देने के लिए लाहौर का टिकट कटाया। यहाँ भी जमकर तैयारी की और परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। मुख्त्यारी की सनद लेकर मुंशीराम जालंधर लौटे और वहाँ की अदालत में ही कानून का व्यवसाय (वकालत) आरम्भ किया।

१८८३ का वर्ष आर्यसमाज के लिए अशुभ सिद्ध हुआ। आठ वर्ष पूर्व ऋषि

दयानन्द ने जिस महान् सुधार-आन्दोलन का आरम्भ बम्बई महानगर से किया था, उन्हीं आर्यसमाज-संस्थापक का देहान्त ३० अक्टूबर को अजमेर में हो गया। उस समय मुंशीराम जालन्धर में ही थे। जालन्धर में इस अवसर पर एक शोक-सभा आयोजित की गई और उसमें प्रमुख वक्ता के रूप में लाहौर से पं० गुरुदत्त और लाला हंसराज को आमन्त्रित किया गया। गुरुदत्त अंग्रेजी में बोले और हंसराज उर्दू में। एम० ए० और बी० ए० के इन दुबले-पतले विद्यार्थियों की प्रभावशाली वक्तृता को सुनकर जालन्धर का पठित समुदाय आश्चर्य-सागर में गोते लगाने लगा। उन्हें विश्वास नहीं हुआ था कि ये कच्ची उम्र के लड़के भी कोई गम्भीर बात कहेंगे।

थोड़े समय बाद लाला मुंशीराम ने जालन्धर के निकटवर्ती कस्बे फिल्लौर में वकालत करने का विचार किया। उनका काम अच्छा चल पड़ा। वकालत की पहली कमाई को तलवन जाकर पिता के चरणों में अर्पित किया तो वृद्ध नानक-चन्द जी की प्रसन्नता का पारावार न रहा। अब वे पत्नी और पुत्री को भी फिल्लौर ले आये। उनका समय भलीभाँति व्यतीत हो रहा था। मुख्त्यारी के काम से अवकाश मिलता तो उर्दू नज्में पढ़ते। शराब का शौक पूर्ववत् कायम रहा। अब तो हालत यह हो गई कि पूरी बोतल चढ़ा लेने पर भी शरीर पर उसका कोई असर न होता। मस्तिष्क को तो दुर्बल होना ही था। सिर में चक्कर आते, स्मृति-शक्ति का ह्रास हुआ और विचार करने की शक्ति भी लुप्त होने लगी।

अब मुंशीराम ने वकालत की परीक्षा देने का निश्चय किया। इसके लिए वे लाहौर गये और विधिवत् कानून के व्याख्यान सुनने लगे। यहाँ भी खाने-पीने के पुराने शौक बरकरार रहे। मित्रों के यहाँ खानपान-गोष्ठियाँ आयोजित की जातीं, जहाँ शराब और मांस के दौर चलते। एक ऐसी ही दावत ने मुंशीराम की आँखें खोल दीं। जब शराब के प्याले छलक रहे थे और पीनेवालों के जाम आपस में टकरा रहे थे तो स्वाभाविक ही था कि "नष्टस्य नान्या गतिः" वाली परिस्थिति भी आती। एक पियक्कड़ मित्र पर शराब इतनी हावी हो गई कि उसने मजलिसवाले कमरे के पास के एकान्त स्थान में किसी युवा स्त्री को अपने बलात्कार का निशाना बनाने की चेष्टा की। युवती की चीख सुनकर मुंशीराम दौड़े और उसे बलात्कारी के पंजे से मुक्त कराया। शराब पीने के इस दुष्परिणाम को सम्पूर्ण बीभत्सता के साथ देखकर उनका दिल दहल गया। जब लौटकर घर आये तो ऐसा लगा कि मद्यपान से पूर्णतया छुटकारा लेने का अवसर अब आ गया है, किन्तु सोचा कि बोतल में बची शराब को तो कम-से-कम खत्म कर ही लूँ। व्यसनग्रस्त लोगों की दुःखान्तिका ऐसी ही होती है। उनके मन की दुर्बलता उन्हें किसी निश्चय तक पहुँचने ही नहीं देती। सिगरेट पीनेवाला सोचता है कि सिगरेट का आखरी कश लगाकर ही वह धूम्रपान से तौबः कर लेगा। शराबी इसी खामखयाली का शिकार

होता है कि इस बोतल की अन्तिम बूँद को पीकर वह फिर कभी अंगूर की बेटी के प्रलोभन में नहीं फँसेगा। ऐसी ही दोलायमान स्थिति मुंशीराम की भी थी। सोचा तो यही था कि शेष बोतल को समाप्त कर मद्यपान को सदा के लिए छोड़ दूंगा, किन्तु इसी बीच मन का पर्दा उठा और—"यति दयानन्द की विशाल मूर्ति कौपीन लगाये, शरीर में विभूति रमाये और हाथ में मोटा लठ्ठ लिये सामने आ खड़ी हुई। ऐसा जँचा मानो महात्मा कह रहे हैं—क्या अब भी परमेश्वर पर तेरा विश्वास न होगा? आँख मली। मूर्ति कहीं सामने न थी, किन्तु हृदय काँप उठा।" नवीन परिवर्तन पर दृढ़ रहने का विचार पक्का किया और शराब की बोतल और गिलास को दीवार पर दे मारा। मद्यपात्र चूर-चूर हो गये। यदि इतनी दृढ़ता नहीं दिखाते तो शराब को छोड़ना भी सहल नहीं होता, क्योंकि पहले भी ऐसे संकल्प कई बार कर चुके थे जो प्रलोभनों के झोंकों के समक्ष कभी टिके नहीं। किन्तु इस बार का निश्चय दृढ़ साबित हुआ। शराब से मुक्ति मिली तो वकालत की पढ़ाई की ओर पुनः ध्यान गया। लाहौर के रहमत खाँ के अहाते के मकान में कमरा लेकर पढ़ने में ध्यान लगाया। यह मानो मुंशीराम का पुनर्जन्म था। किन्तु अभी मांसाहार कहाँ छूटा था?

आर्यसमाज में प्रवेश

मुंशीराम ने अपने आर्यसमाज में प्रवेश को प्रकाश की क्रमशः विजय की संज्ञा दी है। जीवन को व्यवस्थित करने के लिए दिनचर्या को नियमित करना आवश्यक था। प्रातःभ्रमण का कार्यक्रम बनाया और कानून की कक्षाओं में नियमपूर्वक जाने लगे। कानून की पाठ्यपुस्तकों का स्वाध्याय भी आरम्भ किया और रविवार को आर्यसमाज मन्दिर में गये। आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों का यह प्रारम्भिक युग था। उन दिनों भजन गानेवाले उपदेशकों का आर्यसमाज में विधिवत् प्रशिक्षण तो होता नहीं था, इसलिए कभी सिख रागी तो कभी मुसलमान रबाबी भजन-गायन के लिए बुला लिये जाते। व्याख्यानदाता भी किसी निश्चित विषय पर व्यवस्थित रूप से नहीं बोलते, अपितु स्वामी दयानन्द की धार्मिक, सामाजिक तथा नैतिक शिक्षाओं को बिना किसी क्रम के श्रोताओं के मन पर उतारने के साथ-साथ अन्य मतावलम्बियों के मन्तव्यों का खण्डन भी करने लगते। इस प्रकार यदि एक ही भाषण में ईश्वरोपासना, यज्ञ के लाभ, विधवाविवाह और नियोग का समर्थन, देशोन्नति की अपील तथा पुराण-मत-खण्डन और ईसाई-मत-समीक्षा जैसे विषय एक ही साथ आ जावें, तो आश्चर्य ही क्या?

आर्यसमाज का सत्संग प्रातः होता था और ब्राह्मसमाज की उपासना सायंकाल को। मुंशीराम ब्राह्म मन्दिर में भी जा पहुँचे। उस समय पं० शिवनाथ शास्त्री का भक्ति के महत्त्व पर प्रवचन होनेवाला था। दीर्घ श्मश्रुधारी विनय, सौजन्य और

शालीनता की प्रतिमा ब्राह्ममत के आचार्य को देखकर मुंशीराम का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था। वे ब्राह्म प्रवचन से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इस संस्था का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य खरीदा और घर आकर उसके अध्ययन में लग गये।

उस समय तक ब्राह्मसमाज भी आन्तरिक विग्रह का शिकार हो चुका था। भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज से पृथक् होकर केशवचन्द्र सेन ने नवविधान-समाज का गठन कर लिया था और लाला काशीराम लाहौर की नवविधान की इकाई के प्रमुख थे। केशव ने ब्राह्मसमाज में मर्यादाहीन विचार-स्वातंत्र्य के जो बीज बोये थे उनके दुष्परिणाम धीरे-धीरे सामने आ रहे थे। वेद के प्रामाण्य से तो महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के आचार्य-काल में ही किनारा किया जा चुका था, अब यज्ञोपवीत-धारण और पुनर्जन्म की मान्यताओं से भी ब्राह्मों ने छुटकारा पा लिया। ब्राह्मदर्शन में जीवात्मा को उत्पन्न माना जाता है, अनादि नहीं। लाला काशीराम की पुस्तक पढ़ने से जो शंकाएँ मुंशीराम को हुईं, उनका समाधान जानने के लिए वे उक्त सज्जन के घर गये। उन्होंने मुंशीराम को कहा कि वे केशव तथा प्रतापचन्द्र मजूमदार के ग्रन्थ पढ़ें जिससे उनकी शंकाओं का निवारण हो सकेगा। मुंशीराम नवविधान के इन दोनों नेताओं के ग्रन्थ पहले ही पढ़ चुके थे जो पुनर्जन्म तथा कर्मफल-विषयक उनकी धारणा से मेल नहीं खाते थे। अन्ततः उन्हें ऋषि दयानन्द की पुस्तक सत्यार्थप्रकाश का ध्यान आया और इस ग्रन्थ को पढ़ने की इच्छा जागृत हुई। सत्यार्थप्रकाश की प्रति प्राप्त करने के लिए वे इतने व्याकुल हुए कि तुरन्त आर्यसमाज जा पहुँचे, परन्तु ग्रन्थ-विक्रय-विभाग के इंचार्ज लाला केशवराम के घर चले जाने के कारण उन्हें पुस्तक उपलब्ध नहीं हुई। जब वे लाला केशवराम के घर गये तो पता चला कि लालाजी बड़े तारघर गये हुए हैं जहाँ वे नौकरी करते थे। मुंशीराम की सत्यार्थप्रकाश प्राप्त करने की तीव्र इच्छा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वे लाला केशवराम को ढूँढते हुए तार-कार्यालय में भी जा पहुँचे। इधर मुंशीराम तारघर पहुँचे, उधर लाला केशवराम भोजन के अवकाश में पुनः घर की ओर लौट चले। इस प्रकार पीछा करते-करते अन्ततः उन्होंने केशवराम को पकड़ ही लिया और उनसे सत्यार्थप्रकाश प्राप्त किया। सायंकाल होते ही लैम्प जलाकर जिज्ञासु मुंशीराम ने स्वामी दयानन्द की अमर कृति को पढ़ने के लिए तत्परतापूर्वक आसन लगाया। ग्रन्थ की भूमिका को समाप्त किया और प्रथम समुल्लास का अध्ययन आरम्भ किया।

विक्रम संवत् १९४६ के माघ मास का एक रविवार। मुंशीराम ने सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन नियमित रूप से करना आरम्भ कर रक्खा है। अब वे आठवें समुल्लास तक पहुँच चुके हैं। इस अध्याय में पुनर्जन्म की जो विवेचना ऋषि दयानन्द ने की है, उससे पूर्ण सन्तुष्ट होकर लाला मुंशीराम आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हैं। वे लाला सुन्दरदास के साथ आर्यसमाज-

वच्छोवाली के मन्दिर में प्रविष्ट हुए। यद्यपि वे अपने लाहौर-निवास के आरम्भिक दिनों में भी नियमित रूप से आर्यसमाज के सत्संगों में भाग लेते रहे हैं, किन्तु आज तो वे इस युग-परिवर्तनकारी संस्था में विधिवत् प्रविष्ट होने का संकल्प लेकर आये हैं। यह एक संयोग ही था कि उधर तो मुंशीराम जी का आर्यमन्दिर में प्रवेश हुआ और उधर गायकों ने सम्मिलित स्वरों में निम्न पद गाया—

उतर गया मेरे मन दा संसा, जब तेरो दरसन पायो।

मुंशीराम की मनोभावना को ही मानो उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त किया जा रहा था।

लाहौर आर्यसमाज में उस समय लाला साईंदास जैसा कर्मनिष्ठ, साथ ही समर्पित व्यक्तित्ववाला पुरुष अन्य कोई नहीं था। आयु में पर्याप्त वृद्ध साईंदास ने स्वामी दयानन्द को निकटता से देखा था और उस युगनिर्माता महापुरुष की लोकमंगल-विधायिका दिव्य दृष्टि से वे प्रभावित भी हुए थे। स्वामी दयानन्द का धार्मिक चिन्तन तथा उनकी सामाजिक क्रान्ति राष्ट्रहित को सर्वोपरि महत्त्व देती है। उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने तथा प्रचारित करने पर जोर देते हुए लोगों से आग्रह किया था कि स्वदेश में निर्मित वस्त्रों के उपयोग से ही देश-भक्ति की सच्ची भावना जागृत होती है।

स्वामी दयानन्द की इस स्वदेश-भक्ति ने लाला साईंदास को भी प्रभावित किया। वे उस समय पंजाब चीफ कोर्ट में अनुवादक के पद पर कार्यरत थे। स्वदेश-निर्मित वस्त्रों को धारण करना लाला जी का पवित्र व्रत था। वे जब समाजमन्दिर में आते तो मोटी धोती पहनते, किन्तु दफ्तर जाते समय स्वदेशी वस्त्र से सिला पाजामा उनकी पोशाक होती। आर्यसमाज के प्रति उनकी निष्ठा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि १३० रुपये मासिक वेतन पानेवाला यह व्यक्ति प्रतिमास की पहली तारीख को वेतन प्राप्त होने पर सीधा आर्यसमाज-मन्दिर आता और अपनी आय का दशांश (शतांश नहीं) १३ रुपये समाज के कोषाध्यक्ष के पास जमा कर अवशिष्ट वेतन घर ले जाता। लाला साईंदास ने ही आर्यसमाज लाहौर के इन स्वर्णिम दिनों में महात्मा हंसराज, पं० गुरुदत्त, लाला लाजपतराय और महात्मा मुंशीराम जैसे समर्पित जीवनवाले युवकों को स्वामी दयानन्द के लक्ष्य की पूर्ति हेतु कर्त्तव्यनिष्ठा सिखाई थी। उस काल में अनेक सिख भी स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं का प्रबल आकर्षण अनुभव कर आर्यसमाजरूपी प्रदीप के इर्द-गिर्द मँडरानेवाले शलभ बने थे। इनमें एक थे ज्ञानी दित्तसिंह, जो आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के सशक्त उपदेशक थे। एक अन्य भाई जवाहरसिंह तो आर्यसमाज लाहौर के मंत्रीपद पर भी रहे थे। इन्होंने स्वामी दयानन्द की आत्मकथा का उर्दू में अनुवाद तो किया ही था, स्वामी जी की स्वभाषा-प्रेम की शिक्षा का उनपर इतना अधिक प्रभाव था कि वे अच्छी हिन्दी न जानने पर भी

सदा आर्य-भाषा में ही पत्र-व्यवहार करते थे।[1]

जब मुंशीराम ने विधिवत् आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार की, तो मंत्री भाई जवाहरसिंह ने उन्हें सत्संग में कुछ कहने के लिए आदेश दिया। इससे पूर्व मुंशीराम ने किसी सार्वजनिक स्थल पर कभी कोई वक्तृता नहीं दी थी। उन्हें यह भी पता नहीं था कि इस अवसर पर क्या बोलना चाहिए, किन्तु अन्तःप्रेरणा के वशवर्ती होकर वे उठे और २०-२५ मिनट तक कुछ प्रेरणात्मक वचन कहे। बाद में उन्हें पता चला कि लाला साईंदास ने उनके आर्यसमाज-प्रवेश के प्रसंग को लेकर निम्न टिप्पणी की थी—

"आर्यसमाज में यह नई स्पिरिट (स्फूर्ति) आई है। देखें यह आर्यसमाज को तारती है या डुबो देती है।" निश्चय ही साईंदास जी की भविष्यवाणी आर्यसमाज के लिए शुभ परिणामवाली साबित हुई। मुंशीराम के आर्यसमाज-प्रवेश ने इस आन्दोलन को नवीन गति, नवस्फूर्ति और नया जीवन प्रदान किया।

ज्यों ही मुंशीराम के आर्यसमाज में प्रविष्ट होने का समाचार जालंधर के आर्यों को मिला, उन्होंने प्रस्तावित किया कि उन्हें इस समाज के प्रधान-पद पर अभिषिक्त किया जाय। मित्रों के आग्रह को स्वीकार कर मुंशीराम जी ने इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने की सूचना तो उन्हें दे दी, किन्तु अभी तक वे अनेक बातों को लेकर संशयग्रस्त ही थे। सत्यार्थप्रकाश के अष्टम और नवम समुल्लासों के अध्ययन और मनन ने उसके मन की अनेक दार्शनिक शंकाओं का समाधान कर दिया था। पुनर्जन्म और मुक्ति जैसे पारलौकिक विषयों को लेकर उठनेवाली शंकाएँ और प्रश्नों का समाधान वे प्राप्त कर चुके थे, किन्तु दशम समुल्लास के स्वाध्याय ने उनके मन में भक्ष्याभक्ष्य के विषय को एक चुनौती के रूप में उभारकर पेश किया। मद्यपान, धूर्त विषयी पुरुषों के संग जैसे दुर्व्यसनों से मुक्त हो जाने पर भी मुंशीराम अभी तक मांसाहार की आदत से छुटकारा प्राप्त नहीं कर सके थे। पंजाब के अधिकांश हिन्दुओं में आमिषाहार एक सामान्य बात थी। मुंशीराम ने एक दिन प्रातःकालीन भ्रमण के समय मांस की टोकरी सिर पर रक्खे एक कसाई को देखा, तो उनका मन घृणा और जुगुप्सा से भर उठा। मृत पशुओं के क्षत-विक्षत अंगों ने उनमें करुण रस का संचार कर दिया और वे मांसाहार के प्रति विरक्त हो उठे। उधर सत्यार्थप्रकाश के मांसाहार-निषेध के प्रकरण ने भी उनके हृदय में आमिष-भोजन के प्रति विरक्ति जगा दी

---

१. भाई जवाहरसिंह द्वारा स्वामी दयानन्द के नाम लिखे ये पत्र 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' भाग १ में स्वयं म० मुंशीराम जिज्ञासु ने ही संगृहीत किये थे। —सम्पादक

थी। अत: ज्यों ही सायंकालीन भोजन की थाली में उन्होंने पके हुए मांस का कटोरा देखा, अभक्ष्य पदार्थ के प्रति उनकी घृणा पराकाष्ठा पर पहुँच गई और अत्यन्त अमर्ष के साथ उन्होंने मांस के काँसी के बने कटोरे को सामने की दीवार पर दे मारा। पाचक तो घबराया ही, साथ भोजन करनेवाले मित्र भी चौंक पड़े। वे सोचने लगे शायद मांस के पात्र में मक्खी गिर गई है, या पकानेवाले से ही कोई भूल हुई है। किन्तु मुंशीराम ने अपने हृदय की बात को खोलकर कहा कि एक आर्य के लिए मांसाहार पाप से कम नहीं है। तथापि मित्रों को यह शंका अवश्य रही कि यदि मांस नहीं खाना था तो उसे उठाकर थाली से पृथक् रख लेते। कटोरी को दीवार पर मारकर उसके टुकड़े-टुकड़े करने की क्या आवश्यकता थी? मुंशीराम के पास इस बात का भी जवाब तैयार था—यदि मांस के प्रति अपनी तीव्र विरक्ति को इतने आवेश के साथ वे अभिव्यक्त नहीं करते, तो शायद इस दुर्व्यसन से सदा के लिए मुक्ति पाना भी सम्भव नहीं होता। अपने हृदय की दुर्बलता को वे भलीभाँति जानते थे। पहले भी उन्होंने अनेक बार अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए कठोर-से-कठोर प्रतिज्ञाएँ की थीं, किन्तु प्रलोभन के कीचड़ में वे उतनी ही बार फँसते चले गये थे।

आर्यसमाज जालंधर के नवनिर्वाचित प्रधान लाला मुंशीराम का उक्त समाज में पहला व्याख्यान बाल-विवाह के दोष और ब्रह्मचर्य की महिमा पर हुआ। विडम्बना देखिये कि इधर तो लाला देवराज (मुंशीराम के साले) नये प्रधान जी के भाषण पर हर्ष प्रकट कर रहे थे और उधर उनके घर में ही उनके एकवर्षीय पुत्र की सगाई किसी अन्य व्यक्ति की उतनी ही वयस् की कन्या के साथ होने की घोषणा की जा रही थी। परन्तु उसके लिए लाला देवराज को दोष क्यों दिया जाय? यह कार्य तो उनके पिता और मुंशीराम के ससुर राय शालिग्राम ने किया था जो आर्यसमाज की शिक्षाओं से कोसों दूर थे। किन्तु लाला देवराज पिता का विरोध करने का साहस कैसे जुटा पाते? सन्तोष की बात इतनी ही रही कि बालक-बालिका के जिस जोड़े के इस सम्बन्ध की घोषणा नितान्त अल्पावस्था में कर दी गई थी, सौभाग्य से उस लड़के का विवाह पूर्ण युवावस्था में किसी अन्य लड़की के साथ ही हुआ। क्योंकि १४-१५ वर्ष की अवस्था आने पर जब लड़की के पिता ने विवाह का आग्रह किया, तो लाला देवराज ने उसे स्वीकार नहीं किया, फलत: बाल्यकाल में निश्चित हुआ यह नाता टूट गया।

अध्याय ३

आर्यसामाजिक कार्य का आरम्भ

लाला मुंशीराम ने वकालत की परीक्षा की तैयारी यथावत् जारी रक्खी। उधर उनका आर्यसामाजिक जीवन दिन-प्रतिदिन निखर रहा था। धर्मप्रचार का उत्साह अब चरम सीमा पर पहुँच चुका था। अपने साथियों को लेकर वे नगर के किसी चौराहे पर जा खड़े होते और जनसाधारण को वैदिक धर्म की पावन मन्दाकिनी में निमज्जित होने की प्रेरणा देते। इसी बीच पिता के रोगग्रस्त होने का समाचार उन्हें मिला और वे उन्हें देखने के लिए स्वग्राम तलवन आये। पिता जी पक्षाघात से ग्रस्त होकर शय्यासीन थे। उन्हें उपचार से कुछ आराम भी मिला। इसी बीच निर्जला एकादशी का पर्व आया। पारिवारिक प्रथा का अनुसरण कर पिता लाला नानकचन्द ने ब्राह्मणों को देने के लिए खरबूजे, मिठाई तथा नकद दक्षिणा आदि एकत्र कर दान का संकल्प पढ़ा। तदनन्तर उनके अन्य पुत्रों और भतीजों ने भी उनका अनुकरण किया। अब मुंशीराम की बारी आई और पिता का आग्रह हुआ कि वे भी संकल्प पढ़ लें। मुंशीराम की इस पौराणिक कृत्य में तनिक भी श्रद्धा नहीं थी, अतः उन्होंने शिष्टतापूर्वक ऐसा करने से इन्कार कर दिया। अब पिता के क्रोध ने अपना रंग दिखाया और वे पूछ बैठे—क्या एकादशी व्रत और ब्राह्मणों की सेवा में तुम्हारा विश्वास नहीं है? नये-नये आर्यसमाजी बने मुंशीराम ने सारा संकोच त्यागकर कह दिया कि न तो उन्हें एकादशी के दिन में ही कोई विशेषता दिखाई देती है और न वे आज के गुण-चरित्रहीन ब्राह्मणों के प्रति ही कोई श्रद्धाभाव रखते हैं। पुत्र का यह स्पष्ट मत सुनकर आस्थावान् पिता का हृदय चूर-चूर हो गया। उन्होंने मुंशीराम को लेकर जो सपने सँजोये थे, वे मृगमरीचिका सिद्ध हुए। इधर पुत्र भी अपने पिता के इस विरक्तिपूर्ण व्यवहार से कम व्याकुल नहीं था। तलवन के इस निवास-काल में उनका स्वाध्याय-यज्ञ निरन्तर चलता रहा। आर्याभिविनय, पंचमहायज्ञ-विधि तथा आधी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पठन ने उनके समक्ष ऋषि दयानन्द की विचारधारा को बहुत-कुछ स्पष्ट कर दिया था।

दो मास से अधिक समय अपनी पितृभूमि तलवन में व्यतीत कर मुंशीराम जब पुनः लाहौर के लिए चलने लगे तो उनकी आत्मिक परीक्षा की एक और घड़ी आई। जब वे वृद्ध पिता से विदा लेने के लिए आये और उनके चरणों में प्रणिपात किया, तो पिता ने उन्हें ठाकुर जी के आगे मत्था टेकने का आदेश दिया। जड़ पूजा के प्रति घोर विरक्ति रखनेवाले मुंशीराम के समक्ष अब एक विचित्र धर्म-संकट उत्पन्न हुआ। इधर पिता का आदेश, तो उधर दयानन्द-निर्दिष्ट सिद्धान्त के प्रति वचनबद्धता। अन्ततः उनकी धर्म-निष्ठा की ही विजय हुई और उन्होंने मूर्ति के आगे सिर झुकाने से इन्कार कर दिया। उस समय की धर्म-भीरु पिता की मनः-स्थिति की कल्पना कीजिये। उन्हें मुंशीराम के इस कथन से जो निराशा हुई, वह अन्ततः क्रोध में परिवर्तित होकर प्रकट हुई। उन्होंने अपनी निराशा को व्यक्त करते हुए इतना ही कहा कि ऐसा लगता है मानो उनके मरने पर उन्हें पानी देने-वाला भी कोई नहीं रहेगा। मुंशीराम भी बिना कुछ कहे पिता को पुनः प्रणाम कर लाहौर के लिए रवाना हो गये।

जालंधर होते हुए जब लाला मुंशीराम लाहौर पहुँचे तो उन दिनों वहाँ मलेरिया ज्वर महामारी के रूप में फैला हुआ था। मुंशीराम भी इस रोग से नहीं बच सके और भयंकर यंत्रणा भोगी। अन्ततः बड़ी मात्रा में कुनीन खाकर ज्वर-मुक्त तो हुए, किन्तु विषैली ओषधि ने कानों की श्रवण-शक्ति को थोड़े समय के लिए प्रभावित किये रक्खा।

१८८६ ई० के वर्ष में लाहौर के आर्यों के प्रचण्ड पुरुषार्थ से डी० ए० वी० कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। लाला हंसराज अपनी निःशुल्क सेवायें कॉलेज के प्रिंसिपल-पद के लिए अर्पित कर चुके थे। आर्यसमाज लाहौर का वार्षिकोत्सव भी इन्हीं दिनों सम्पन्न हुआ। पं० गुरुदत्त का कॉलेज के लिए सहायता की अपील करते हुए जो भावनाप्रवण व्याख्यान इस अवसर पर हुआ, उसे सुनकर मुंशीराम का इस व्यक्ति के प्रति आकर्षण एक विचित्र प्रकार की प्रणयासक्ति तथा आत्मिक अनुभूति का ही रूप था। उस दिन वे गुरुदत्त के साथ परम आत्मीयता तथा बन्धुत्व के जिस सूत्र से बँधे, वह पण्डित जी के परलोक-गमन तक अविच्छिन्न ही रहा।

मुंशीराम के धर्मभाव ने उनके सनातनी आस्थावाले पिता को भी समय आने पर बदल दिया। बात इस प्रकार हुई कि उनके पिता जब नेत्र-रोग से ग्रस्त होकर रामायण आदि धार्मिक ग्रन्थों के पाठ में अक्षम हो गये तो उन्होंने शैया पर लेटे ही काशीराम नामक एक संस्कृतज्ञ ब्राह्मण को कुछ सुनाने के लिए कहा। संयोग ऐसा बना कि उस समय इस ब्राह्मण ने उन्हें पंचमहायज्ञविधि का ब्रह्म-यज्ञ-प्रकरण पढ़कर सुनाया। दयानन्दप्रतिपादित सन्ध्या-विधान को सुनकर लाला नानकचन्द की श्रद्धा वेद-निरूपित परमात्मा की उपासना के प्रति बढ़ी और

उन्होंने निर्व्याजभाव से स्वीकार किया कि अबतक तो वे अविद्या में ही पड़े थे। आगे से उन्होंने वैदिक सन्ध्या नियमित रूप से करने की प्रतिज्ञा की। विचित्रता यह थी कि दयानन्द-प्रोक्त सन्ध्या के साथ-साथ पंचायतन मूर्तिपूजा[1] का क्रम भी यथापूर्व चलता रहा। इसी मानसिक परिवर्तन के कारण पिता का अपने आर्य-समाजी पुत्र के प्रति पूर्व उत्पन्न अमर्ष का भाव भी बहुत कम हो गया।

वकालत के व्यवसाय में मुंशीराम को जैसे कड़वे-मीठे अनुभव हुए, उन्हें बेबाकी के साथ बेलाग होकर उन्होंने अपनी आत्मकथा में अंकित किया है। उनके पिता की शारीरिक दशा निरन्तर गिर रही थी। अपने जीवन के अवसान को निकट जानकर लाला नानकचन्द ने अपनी सम्पत्ति का बँटवारा करने के लिए वसीयतनामा लिखा। उन्होंने मुंशीराम से बड़े तीनों भाइयों को मकान और जमीन का कुछ हिस्सा दिया और अवशिष्ट नकद राशि तथा मूल्यवान् आभूषण उनके नाम लिख दिये। जब मुंशीराम ने यह वसीयत पढ़ी तो उन्हें लगा कि पिता ने उनके साथ अतिरिक्त पक्षपात किया है। पिता ने उन्हें आश्वस्त किया और कहा कि उन्हें नकद धन देने का कारण उनकी धार्मिक प्रवृत्ति ही है, जिससे वे प्रभावित हुए हैं और उन्हें आशा है कि उनका यह धन अपने इस पुत्र के द्वारा लोकोपकार तथा धर्म-कार्यों में ही व्यय होगा। किन्तु मुंशीराम का कहना था कि वे अपने हिस्से से कुछ अधिक लिये बिना ही उनकी धार्मिक आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए सदा कार्य करते रहेंगे। सबसे छोटे पुत्र की इस निर्लोभ-वृत्ति को देखकर पिता की प्रसन्नता का पारावार नहीं रहा। वे हर्ष-पुलक होकर पुत्र को शत-शत आशीर्वाद देने लगे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में तो नानकचन्द जी मुंशीराम की वैदिक आस्थाओं के प्रति पूर्णतया अनुरक्त हो चुके थे। मृत्युशय्या पर लेटे हुए जब उन्होंने कुछ भजन सुनने की इच्छा प्रकट की तो उनकी तृप्ति सूरदास के एक निर्गुण भजन तथा कबीर के एक पद को सुनने से ही हुई। इस प्रकार संसार से निरासक्त होकर लाला नानकचन्द ने अपने प्राणों का त्याग किया। मुंशीराम के आग्रह की रक्षा करते हुए शव की वैदिक रीति से अन्त्येष्टि हुई, किन्तु ज्येष्ठ भ्राता ने परम्परानुसार गरुड़पुराण की कथा रखाई। उधर मुंशीराम ने शोक के इन दिनों में उपनिषदों का स्वाध्याय किया। मृत्यु के अनन्तर होनेवाली सभी प्रकार की और्ध्वदैहिक क्रियाओं से अवकाश पाकर मुंशीराम जालंधर चले गये और अपने व्यवसाय के साथ-साथ धर्मप्रचार में तन-मन से जुट गये।

जालंधर में धर्मप्रचार

लाला मुंशीराम ने धर्मप्रचार के क्षेत्र में जिस समय कदम रक्खा, उस समय

१. विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश तथा सूर्य की पूजा 'पंचायतनपूजा' कहलाती है।
— सम्पादक

आर्यसमाज में न तो प्रशिक्षित धर्मोपदेशक ही थे और न पर-मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ-समर में जूझनेवाले शास्त्रार्थ-कला-निष्णात पण्डित ही थे। यह सारा कार्य आर्यसभासदों के ही जिम्मे था, जिनमें अपने धर्म को विश्वव्यापी बनाने का एक अद्भुत उत्साह, विचित्र लालसा तथा अनन्य निष्ठा भी थी। उस युग के आर्यपुरुष स्वल्प पठित होने पर भी स्वाध्याय के प्रति रुचि रखनेवाले, नियमित रूप से वैदिक कर्मकाण्डों का आचरण करनेवाले तथा धर्मप्रचार एवं लोकहित के कार्यों में अपना समय लगानेवाले समर्पित कोटि के व्यक्ति होते थे। यही कारण है कि गत शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में आर्यसमाज का जैसा विस्तार हुआ और उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में उसकी जैसी सुदृढ़ नींव जमी, वह इतिहास का एक चमत्कार ही कहला सकता है।

उन दिनों लाहौर नगर आर्यसमाज की सभी धार्मिक और सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ के आर्यपुरुषों ने प्रदेश की समस्त आर्यसमाजों का नेतृत्व और मार्गदर्शन अपने जिम्मे ले रक्खा था। किन्तु खण्डन-मण्डन के उस युग में देहातों तथा छोटे कस्बों की आर्यसमाजों को भी कभी-कभी चुनौतियों का मुकाबिला करना पड़ता। ऐसे समय यदि स्थानीय आर्यसमाजी कार्यकर्ता अपने ही बलबूते पर विपक्ष के पण्डितों का साहसपूर्वक सामना नहीं करते, तो आर्यसमाज की प्रतिष्ठा को आँच आने की पूर्ण सम्भावना रहती थी। मुंशीराम के जीवन में भी एक ऐसा ही प्रसंग आया। अमृतसर के एक पौराणिक पण्डित श्यामलाल ने जब जालंधर आकर आर्यसमाजियों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी, तो मुंशीराम ने अपने ही बलबूते पर इस आह्वान को स्वीकार कर लिया और शास्त्रार्थ करने की स्वीकृति दे दी। जब लाहौर के नेताओं को पता चला कि बिना उनकी राय लिये ही जालंधरी आर्यों ने पौराणिक पण्डित से शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया है, तो उन्होंने किसी भी प्रकार की सहायता देने से यह कहते हुए इन्कार कर दिया कि छोटी समाजों को शास्त्रार्थ के पचड़े में ही नहीं पड़ना चाहिए।

अब जालन्धर के आर्यों की प्रतिष्ठा पर बन आई। यदि वे पं० श्यामलाल का साम्मुख्य नहीं करते हैं तो जनता की दृष्टि में वे पराजित माने जायेंगे। इस दुविधा से मुक्त होने का एक ही उपाय था कि शास्त्रार्थ अवश्य हो। जब रात को शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ तो आर्यसमाज का एक विद्यार्थी लाजपत पं० श्यामलाल से संस्कृत-माध्यम से ही वाग्युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हुआ। पौराणिक पण्डित का आग्रह था कि शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में ही होना चाहिए। किन्तु जब वह स्वयं ही उपस्थित जनता पर प्रभाव जमाने के लिए हिन्दी में बोलने लगा, तो प्रतिज्ञा-भंग का दोष भी उसे ही लगा। अब लाला मुंशीराम आर्यसमाज के प्रवक्ता के रूप में मैदान में आये और उन्होंने अपनी वाग्मिता से श्रोतावर्ग को

सम्मोहित कर दिया। शास्त्रार्थ का कोई स्पष्ट 'इदं इत्थम्' परिणाम तो निकलता ही नहीं, किन्तु उस दिन जालन्धर की जनता ने यह महसूस कर लिया कि आर्य-समाज का पक्ष निश्चय ही प्रबल रहा।

शास्त्रार्थ की इस घटना से मुंशीराम का मनोबल भी बढ़ा। अब वे अधिक तत्परता से स्वाध्याय में जुटे और नियमित रूप से वेद का अध्ययन करने लगे। उनके आत्म-विश्वास का ही यह परिणाम था कि अब वे निर्भीक होकर आर्य-समाज-मन्दिर में उपस्थित विशाल समुदाय के समक्ष पौराणिक मत का खण्डन करते। आर्यसमाज के उत्कर्ष को सहन करना जब जालन्धर की पौराणिक मण्डली के लिए असह्य हो गया, तो उन्होंने आर्यसमाजियों को जातिच्युत करने की धमकी दी और पंचायत बुलाई। किन्तु पंचायत में पौराणिकों का पक्ष लेकर आर्य-समाजियों पर आक्रमण करनेवाले तथाकथित पण्डितों के ही कुछ चारित्रिक दोष इस प्रकार उजागर हुए कि उन्हें पंचायत-स्थल पर आने का साहस ही नहीं हुआ। उधर लाला मुंशीराम ने आर्यसमाज-मन्दिर में पुराणमत का प्रखर खण्डन किया तो जनता की सहानुभूति आर्यसमाज के साथ हो गई और समाज के सदस्यों में भी वृद्धि हुई।

मुंशीराम में धर्मप्रचार का उत्साह इतना अधिक बढ़ चुका था कि वे इसके लिए किसी भी अवसर का उपयोग करने से न चूकते। ईसाई लोग प्रायः हिन्दुओं के मेलों पर जुटनेवाली भीड़ के सामने अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। इस बार आर्यसमाज ने भी दशहरे के मेले पर धर्मप्रचार का आयोजन किया। इसमें एक आश्चर्य की बात यह रही कि मिशन स्कूल के हैडमास्टर महाशय भक्तराम, जो आर्यसमाज जालन्धर के उप-प्रधान थे, स्वयं इस कार्य के पुरस्कर्ता बने। लाला देवराज और लाला मुंशीराम ने मेला-प्रचार के कार्यक्रम को सफल बनाया। उधर परिवारों में वैदिक धर्म के प्रति निष्ठा जगाने के लिए पारिवारिक उपासना आयोजित की जाने लगी। प्रति मंगलवार को किसी सभा-सद् के घर पर यज्ञ, हवन, प्रार्थना, भजन, उपदेश आदि कार्यक्रम रक्खे जाते। निश्चय ही वैदिक धर्मरूपी महावृक्ष के नीचे मानवता को धर्म-प्रेम की स्निग्ध छाया द्वारा अपूर्व विश्रान्ति प्रदान करने में उस समय के सारे आर्य सर्वात्मना लगे थे।

यह वह युग था जब धर्मप्रचार के नित्य नये साधन आविष्कृत किये जाते। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में 'आटा फण्ड' और 'रद्दी फण्ड' की चर्चा की है। प्रत्येक घर में एक घड़ा रख दिया जाता, जिसमें गृहस्थ नारी एक मुट्ठी आटा नित्य डाल देती। मासान्त में इस आटे की बिक्री होती और इस आय को धर्मप्रचार में लगाया जाता। इसी प्रकार घर में एकत्र होनेवाली रद्दी को भी बेचकर उससे होनेवाली आय को आर्यसमाज के वेदप्रचार-फण्ड में जमा कर दिया जाता।

लाहौर में रहते समय लाला मुंशीराम को देवसमाज के प्रवर्तक सत्यानन्द अग्निहोत्री (मूल नाम शिवनारायण अग्निहोत्री) के विचित्र किन्तु आक्षेपजनक क्रियाकलापों को भी निकटता से देखने का अवसर मिला। संन्यास लेकर भी अपनी अल्पवयस्क शिष्या से ब्याह करनेवाले अग्निहोत्री की लाहौर में उस समय बड़ी बदनामी हुई थी।[1] अग्निहोत्री के इस दूषित कृत्य की सार्वजनिक निन्दा करने में आर्यसमाजियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। फलतः अग्निहोत्री सदा के लिए आर्यसमाज का शत्रु बन गया, यद्यपि बहुत पहले भी वह स्वामी दयानन्द से व्यर्थ का विवाद बढ़ाकर लाहौर के धार्मिक जगत् में बदनामी मोल ले चुका था।[2]

१९४३ वि० के पौष मास में आर्यसमाज जालन्धर का प्रथम वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ। उन दिनों के आर्यों की धर्म-भावना और अपने सिद्धान्तों के प्रति अगाध निष्ठा ऐसे ही अवसरों पर दिखाई पड़ती थी। आर्यसमाज के पदाधिकारी और सभासद् जब प्रभु-भक्ति के भजन गाते नगर के प्रमुख मार्गों से गुजरते, तो एक समाँ बँध जाता। लोग इन धर्मप्रेमी महानुभावों की धार्मिक आस्था को देखकर प्रभावित होते और उनकी प्रशंसा करते। बड़े शहरों के वार्षिकोत्सवों में भाग लेने के लिए समीपवर्ती स्थानों के आर्यसमाजी भी आते, जिनके आतिथ्य-सत्कार का बोझ स्थानीय आर्यों को ही उठाना पड़ता। केवल वार्षिक उत्सव ही नहीं, समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों तथा पारिवारिक सत्संगों में भी आर्य लोगों की धर्मनिष्ठा तथा उनका परमात्मा के प्रति सच्चा प्यार लक्षित होता। यही चीजें सामान्य जनता पर प्रभाव डालतीं। लाला मुंशीराम अपने नगर की सभी आर्यसामाजिक गतिविधियों के प्राण थे। वे स्वयं भी नित्यप्रति नियमपूर्वक धर्म-ग्रन्थों का स्वाध्याय करते, फलतः उनके शास्त्र-ज्ञान का क्षितिज निरन्तर विस्तार प्राप्त करता गया।

लाला मुंशीराम ने वकालत के पेशे को अख्त्यार तो कर लिया था, किन्तु वे निरन्तर अनुभव करते थे कि इस व्यवसाय में रहते हुए सत्य पर आरूढ़ रहना कठिन है। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने अनुभवों को अपनी आत्मकथा में विस्तार-पूर्वक लिखा है। सरकारी दफ्तरों में तो रिश्वत चलती ही थी, उस समय पंजाब-विश्वविद्यालय के गोरे रजिस्ट्रार मिस्टर लार्पेण्ट १५०० रुपये देनेवाले को वकालत की डिग्री दे देते थे। यदि कोई इससे अधिक २५०० या ३५०० देनेवाला मिल जाता, तो उसे सर्वप्रथम या सर्वद्वितीय उत्तीर्ण होने का भी प्रमाणपत्र प्राप्त

---

१. द्रष्टव्य—मुन्नालाल शर्मा उप्रैती लिखित पुस्तक 'नवीनचन्द्री अग्निहोत्री का गृहस्थ संन्यास' (१८८८ ई० में लाहौर से प्रकाशित)

२. द्रष्टव्य—'नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती'—ले० डॉ० भवानीलाल भारतीय, पृ० ३३०, शिवनारायण अग्निहोत्री विषयक टिप्पणी।

करने में कोई कठिनाई न होती। अन्तत: इस अनाचार का भी भण्डा फूटा और तत्कालीन वाइस चांसलर के हस्तक्षेप से रिश्वतखोर रजिस्ट्रार को अपराधी के कठघरे में खड़ा होना पड़ा। वकालत करते हुए सचाई को हाथ से न जाने देने का मुंशीराम का हठ उनकी चारित्रिक दृढ़ता का ही प्रमाण है। यद्यपि उनकी आमदनी दिनों-दिन कम होती चली गई, किन्तु न तो उन्होंने असत्य के पथ पर चलने का ही सोचा और न अपने व्यवसाय को ही तिलांजलि दी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि धार्मिक कार्यों में उनकी रुचि निरन्तर बढ़ती ही गई।

इसी समय उनकी सनातन धर्म के प्रसिद्ध पण्डित और प्रभावशाली वाग्मी पं० दीनदयालु से एक विचित्र प्रसंग में भेंट हुई। पं० दीनदयालु को जालन्धर की स्थानीय सनातनधर्म सभा ने पौराणिक मत के पोषण के लिए बुलाया था। पण्डित जी का पाण्डित्य और शास्त्र-ज्ञान तो साधारण कोटि का ही था, किन्तु वे अपनी वाचालता और प्रत्युत्पन्नमति के कारण ही सनातनी जगत् में विख्यात हुए थे। यहाँ भी उन्होंने अपने व्याख्यानों में ऐसी ही बातें कहीं और आर्य-सिद्धान्तों का उपहास किया। जब पं० दीनदयालु जालन्धर में आर्यसमाज के सम्बन्ध में नाना प्रकार की भ्रमात्मक बातें सार्वजनिक रूप से कर रहे थे, उस समय मुंशीराम अपने पैतृक स्थान तलवन गये हुए थे। आर्यसमाजियों ने उन्हें पत्र भेजकर बुलाया और सारी स्थिति की जानकारी दी। वे तुरन्त जालन्धर आये और आते ही पं० दीनदयालु के नाम पत्र भेजकर उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिए आहूत किया। पण्डित जी ने अपनी चतुराईभरी बातों से शास्त्रार्थ की बात को टालना चाहा और इस पत्र की प्राप्ति स्वीकाररूप में हस्ताक्षर करने में भी टालमटोल की, किन्तु मुंशीराम जी का मुंशी काशीराम, जिसके हाथ यह पत्र भेजा गया था, अपने ढंग का एक ही जीव था। वह पं० दीनदयालु से पत्र-प्राप्ति के हस्ताक्षर लेकर ही रहा।

शीघ्र ही सारे नगर में शास्त्रार्थ की चर्चा हो गई। नगरवासियों को यह भी सूचित कर दिया गया कि अगले दिन लाला मुंशीराम का व्याख्यान होगा जिसमें पौराणिक मत की कलई खोली जायेगी। इसी हल्ले-गुल्ले के बीच वे स्वयं अपने कतिपय साथियों को साथ लेकर धर्मसभा के पण्डाल में जा पहुँचे, जहाँ पं० दीनदयालु अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में उसी पर कुछ उपहासपूर्ण टीका-टिप्पणी कर रहे थे, जो उन्हें मुंशीराम ने भेजा था। ज्योंही मुंशीराम जी ने सभा-मण्डप में प्रवेश किया, सनातनधर्म सभा के प्रधान लाला हरभजराय उनकी अगवानी करने के लिए आगे आये और सम्मानपूर्वक उन्हें मंच पर ले-जाकर बिठाया। पं० दीनदयालु ने तो मुंशीराम जी को कभी देखा ही नहीं था, अतः वे तो यही समझे बैठे कि नगर का कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति मंच पर आया है और उसी का स्वागत सनातनधर्म सभा के प्रधान ने किया है। पं० दीनदयालु ने पत्र

को पढ़ते हुए उसी व्यंग्य और उपहासपूर्ण शैली में पत्र-लेखक पर पुन: कटाक्ष किया और ऐसा करते हुए इतनी चालाकी और बरती कि पत्र का एक विशिष्ट अंश, जिससे स्वयं उनके ही कथन का खण्डन होता था, जान-बूझकर नहीं पढ़ा। उन्हें यह तो पता ही नहीं था कि इस पत्र का लेखक तो स्वयं उनके समीप ही बैठा हुआ है। उधर व्याख्यान-वाचस्पति जी ने यह चालाकी दिखाई ही थी कि मुंशीराम जी बीच में ही बोल उठे—अच्छा होता यदि पत्र के बीच का हिस्सा भी आप पढ़ देते, ताकि जनता को सचाई का ज्ञान हो जाता। उनकी इस टिप्पणी से सारी सभा में हलचल मच गई और लोग जान गये कि दीनदयालु जी ने पत्र में से कुछ छिपाया है। इधर सभा के प्रधान लाला हरभजराय ने दीनदयालु जी के कान में कुछ कहा। शायद उन्हें बता दिया कि पत्र भेजनेवाले आर्यसमाज के नेता मुंशीराम जी स्वयं ही यहाँ इस मंच पर बैठे हैं। पण्डित जी थोड़े हतप्रभ तो जरूर हुए, किन्तु उनकी चतुराई और हाजिरजवाबी का भी कोई जवाब नहीं था। वे तुरन्त शास्त्रार्थ के प्रसंग और मुंशीराम जी के पत्र के कथ्य को साफ गोल कर गये और अवशिष्ट पूरे समय तक केवल वैराग्य के महत्त्व पर ही बोलते रहे, मानो इससे पहले कुछ हुआ ही नहीं था। मुंशीराम जी को भी दीनदयालु जी की इस चतुराई का कायल होना पड़ा।

किन्तु अब मैदान आर्यसमाज के हाथ में था। पण्डित जी के व्याख्यान के समाप्त होते ही एक आर्य सदस्य ने तुरन्त घोषणा कर दी कि कल आर्यसमाज-मन्दिर में पं० दीनदयालु के व्याख्यानों के खण्डन में लाला मुंशीराम बोलेंगे। जब दूसरे दिन आर्यमन्दिर में सभा जुड़ी तो उपस्थिति सहस्रों तक पहुँच चुकी थी। आर्य सभासदों ने तो सनातनधर्म सभा के व्याख्यान-स्थल पर ही घोषणा कर दी थी कि जिस प्रकार हमारे प्रधान लाला मुंशीराम निस्संकोच सनातनधर्म के मंच पर आये हैं, उसी प्रकार अपनी बातों का जवाब सुनने के लिए व्याख्यान-वाचस्पति जी को भी आर्यसमाज-मंच पर आना चाहिए। किन्तु दीनदयालु जी को तो न आना था और न वे आये। पता लगा कि वे जालन्धर छावनी चले गये हैं। अब लाला मुंशीराम ने सनातनधर्म के मन्तव्यों की पोल खोलते हुए जो व्याख्यान दिया, उसे सुनकर श्रोतागण लोटपोट हो गये। वक्ता ने उस भाषण को शीर्षक दिया था "चाऊ-चाऊ का मुरब्बा" जो इस बात का द्योतक था कि सनातनधर्म के सिद्धान्तों में न तो संगति ही है और न तार्किकता। वे इतने ऊलजलूल, सृष्टि-क्रम-विरुद्ध तथा अवैज्ञानिक हैं कि युक्ति और तर्क की कसौटी पर उनका टिकना ही सम्भव नहीं है। पं० दीनदयालु के व्याख्यानों पर भी यह टीका पूर्णतया घटित होती थी, क्योंकि उन्होंने अपने व्याख्यानों में किसी एक निश्चित विषय का प्रति-पादन न कर क्रमबद्ध कुछ भी नहीं कहा था। पं० दीनदयालु तो चुपचाप बिना भेंट-पूजा लिये ही विदा हो गये, किन्तु नगरवासियों पर आर्यसमाज के सिद्धान्तों

की धाक जम गई। लाला मुंशीराम को भी इससे एक आर्थिक लाभ हुआ। उनकी वाग्मिता और तर्कशक्ति से प्रभावित होकर एक सिख ने उन्हें १००० रुपये के मेहनताने पर अपना वकील नियत किया और इस मद में ५०० रुपये अग्रिम दे दिये। अब उनकी वकालत और चमक उठी तथा अर्थागम ने उन्हें स्वल्प काल के लिए ही सही, स्वाध्याय से विमुख कर दिया।

अध्याय ४

पंजाब में आर्यसमाज का नेतृत्व

लाला मुंशीराम के छोटे साले भक्तराम बैरिस्टरी के अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड जा रहे थे। निकट का सम्बन्ध होने के नाते मुंशीराम जी को भी उन्हें विदा करने के लिए बम्बई तक जाना पड़ा। यह विक्रम संवत् १६४४ की घटना है। स्वामी दयानन्द को दिवंगत हुए चार वर्ष ही व्यतीत हुए थे। बम्बई में ऐसे लोग विद्यमान थे, जिनका स्वामी दयानन्द से सम्पर्क रह चुका था। लाला मुंशीराम का ऐसे लोगों से भेंट करना स्वाभाविक ही था। यहाँ उनकी मुलाकात सुप्रसिद्ध भाटिया सेठ छबीलदास लल्लूभाई से हुई जो ऋषि के अनन्य भक्त थे। इन्हीं की पुत्री भानुमति[1] का विवाह ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से ही एक अत्यन्त निर्धन किन्तु प्रतिभाशाली युवक श्यामजी कृष्ण वर्मा से उक्त सेठ जी ने किया था। मुंशीराम श्रीमती वर्मा से भी मिले। ऋषि दयानन्द के एक अन्य विश्वासपात्र भक्त और आर्यसमाज बम्बई के मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णदास से भी वे मिले। उनका एक व्याख्यान भी बम्बई आर्यसमाज में हुआ, किन्तु उस समय तक समाज-मन्दिर का निर्माण नहीं हुआ था। बाद में जिस स्थान पर मन्दिर बना, वहाँ उस समय एक चबूतरा ही था। यहाँ उनकी भेंट एक पारसी सज्जन से हुई जो स्वामी दयानन्द के गोरक्षा-विषयक किये गये प्रयत्नों के परम प्रशंसक थे तथा जिन्होंने स्वयं भी इस विषय में पर्याप्त पुरुषार्थ किया था। इस प्रकार बम्बई के अल्पकालीन प्रवास को समाप्त कर वे पुनः जालन्धर लौट आये।

अपनी आत्मकथा में स्वामी श्रद्धानन्द ने जालन्धर के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर कर्नल हार्कोर्ट का एक रोचक संस्मरण कलमबद्ध किया है। जब उनकी मुंशीराम जी से भेंट हुई और दोनों पारस्परिक परिचय के सूत्र में बँधे तो अंग्रेज अफसर को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उनके जैसा आस्तिक और सौम्य व्यक्ति

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में भानुमति को सेठ छबीलदास लल्लूभाई की भतीजी बताया है।—सम्पादक

भी आर्यसमाजी है। इसपर मुंशीराम जी ने उत्तर देते हुए कहा कि आर्यसमाजी तो वे हैं ही, स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान भी हैं। बात यह थी कि उन दिनों सरकारी अधिकारियों में आर्यसमाज को लेकर नाना प्रकार की भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ फैल रही थीं, या जान-बूझकर फैलाई जा रही थीं। आर्यसमाजियों की उन्मुक्त और स्वतन्त्र विचारधारा, रूढ़िवाद और कट्टरता के विरुद्ध उनका संघर्ष, उनकी देश-भक्ति और स्वदेशी के प्रति उनका लगाव तथा सर्वोपरि देश को स्वाधीन देखने की उनकी एकान्त कामना ने सरकारी क्षेत्रों में यह भ्रम फैला दिया था कि आर्यसमाज एक ऐसी राजनैतिक संस्था है जो विदेशी शासन को भारत से शीघ्र ही उखाड़ फेंकेगी। वस्तुस्थिति कुछ वैसी नहीं थी, जैसा अधिकारीवर्ग समझ बैठा था। आर्यसमाज राष्ट्रभक्ति की चेतना उत्पन्न करने तथा देशवासियों की सामाजिक बुराइयों को दूर कर उन्हें स्वराज्य-प्राप्ति की योग्यता दिलाना चाहती थी। देश की प्रचलित राजनीति में सीधा हस्तक्षेप करना उसका लक्ष्य नहीं था। किन्तु तत्कालीन आर्यसमाजियों की राष्ट्रीय चेतना ही उन्हें आशंका के घेरे में डालने के लिए काफी थी।

लाला मुंशीराम का आर्यसमाजी के रूप में परिचय जानकर अंग्रेज अधिकारी ने कहा, हो सकता है कि जालन्धर की आर्यसमाज राजनैतिक संस्था न हो, किन्तु लाहौर का आर्यसमाज तो राजनीति में पूर्णतया लिप्त है। इसपर मुंशीराम ने उन्हें आर्यसमाज के वास्तविक मन्तव्यों और सिद्धान्तों से परिचित कराया तथा उसके सार्वभौम स्वरूप पर प्रकाश डाला। उन्होंने यह भी कहा कि आर्यसमाज का लक्ष्य मनुष्य को सच्चे अर्थ में आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने का है। यदि भारतवासी भी इस प्रकार आर्योचित गुणों से सम्पन्न हो जाते हैं तो सम्भव है कि गुण, आचार और चरित्र में उनसे हीन कोटि के लोग (उनका अभिप्राय अंग्रेजों से था) उनपर शासन न कर सकें। लाला जी के कथन में छिपी व्यंजना को समझने में कर्नल हार्कोर्ट को कोई दिक्कत नहीं हुई और उसने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा—'Then there will be no justification for us to stay here, अर्थात् उस स्थिति में हमारा इस देश में ठहरना न्यायोचित नहीं होगा।

अंग्रेज अधिकारियों के कानों में आर्यसमाज को लेकर विष घोलने का काम अधिकांश में तो ईसाई मिश्नरियों ने ही किया था। जब आर्यसमाज द्वारा उत्पन्न की गई धार्मिक जागृति ने ईसाई प्रचारकों के हिन्दू धर्म पर किये गये आक्रमणों को निरर्थक कर दिया और जब दयानन्द की सामाजिक क्रान्ति ने हिन्दू-समाज की निर्बलता को दूर कर उसे सुसंगठित करने का प्रयास किया, तो हिन्दुओं के ईसाई बनने में रुकावट उत्पन्न हो गई। ईसाई मिश्नरियों की नाराजगी का मुख्य कारण तो यही था कि अब उन्हें एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में आर्यसमाज जैसी शक्तिशाली संस्था से सामना करना पड़ रहा था। किन्तु लाहौर में आर्यसमाज को

लेकर जो शंकाएँ सरकारी क्षेत्रों में फैलीं, उसके कुछ अन्य कारण भी थे। प्रथम तो लाहौर के आर्य नेता वकील मुंशीराम, साधारण बातों के लिए भी गुप्त कमेटियाँ करके बिना प्रयोजन दूसरों के सन्देह के शिकार बनते थे। एक अन्य बात यह थी कि आर्यसमाज लाहौर के सभासदों में से कुछ ऐसे भी थे जिन्हें राजनैतिक मामलों में अधिक रुचि थी और इसी कारण वे स्वयं तथा आर्यसमाज भी सन्देहास्पद बन जाते थे।[1]

२७ नवम्बर १८८७ को लाला मुंशीराम के यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। उस समय वे स्वयं लाहौर में थे और आर्यसमाज के सत्संग में उपस्थित होकर पं० गुरुदत्त के भावपूर्ण व्याख्यान को सुन रहे थे। पं० गुरुदत्त ने ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त (मण्डल १ सूक्त ३२) के चारों मन्त्रों का पाठ किया और उसके पश्चात् इन्द्र-वृत्र-युद्ध का आधिदैविक अर्थ श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया। इसी प्रसंग में उन्होंने जब ऋषि दयानन्द के जीवन के कुछ प्रमुख संस्मरणों को सुनाकर ऋषि के महान् आत्म-बलिदान का उल्लेख किया, तो भावुक श्रोतागण भाव-विह्वल हो गये। उनके नेत्र अश्रुपूरित हो उठे। लाला मुंशीराम तो स्वयं ऋषि के प्रणत भक्त थे। वे भी क्षण-भर के लिए आत्मविभोर हो गये। जब व्याख्यान समाप्त हुआ और वे समाज के द्वार पर आये तो भाई निहालसिंह ने उनके हाथ में तार पकड़ाते हुए पुत्रलाभ की बधाई दी, साथ ही आर्यसमाज को दान देने के लिए भी कहा। पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में भरे मुंशीराम ने तुरन्त १०० रुपये का नोट आर्यसमाज-हेतु भाई जी की झोली में डाल दिया।

जालन्धर जैसी प्रमुख आर्यसमाज के प्रधान होने के नाते लाला मुंशीराम को स्वयं अपने नगर की समाज के वार्षिकोत्सव की व्यवस्था में तो जुटना पड़ता ही था, यदा-कदा समय निकालकर वे निकटवर्ती आर्यसमाजों के उत्सवों में भी जाते और वहाँ के लोगों का मार्गदर्शन करते। उपदेशकों का कोई विशिष्ट वर्ग उस समय तक समुचित प्रशिक्षण और योग्यता अर्जित कर उभर नहीं सका था, अतः समाज के स्वाध्यायशील और सुपठित व्यक्तियों को ही प्रायः व्याख्यान देकर जन-समाज को आर्यसमाज की ओर उन्मुख करने का कर्त्तव्य निभाना पड़ता। १८८८ में लाला मुंशीराम ने वकालत की परीक्षा पास की। इसी वर्ष आर्यसमाज लाहौर की वेदी से उनका प्रथम बार उपदेश हुआ, जिसे लोगों ने पसन्द किया। उनका मुख्य कार्य-क्षेत्र तो जालन्धर ही था। आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में धुन के

---

१. इस तथ्य की पुष्टि में मुंशीराम जी ने लाहौर आर्यसमाज के तत्कालीन मन्त्री भाई जवाहरसिंह का उदाहरण दिया है, जिन्होंने स्वामी दयानन्द को लिखे एक पत्र में स्वीकार किया था कि उनकी रुचि 'पोलिटिकल' मामलों में है।
—सम्पादक

धनी आर्य लोगों ने कितनी निष्ठा से धर्मप्रचार का कार्य किया था, इसकी कई मिसालें मिलती हैं। यद्यपि उस युग के ये प्रचारक न तो बहुत अधिक पठित या शास्त्रज्ञ होते थे, किन्तु स्वधर्म के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा तथा धर्मप्रचार के लिए उनका अदम्य उत्साह ही उन्हें इस पथ पर निर्भीक होकर चलने की प्रेरणा देता था। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में उस युग के एक अनोखे प्रचारक लुधियाना-निवासी चिरंजीलाल[1] का उल्लेख किया है जो यद्यपि बहुत साधारण शिक्षित था, किन्तु पंजाबी भाषा में लिखे बैंत सुनाकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचा देता था। यही चिरंजीलाल मुंशीराम के भाषणों के लिए भीड़ जुटाने का भी कार्य करता। वह बाजार में किसी दूकान पर से मूढा माँगकर ले आता और उसपर खड़ा होकर पंजाबी बैंत सुनाता। जब लोग अधिक संख्या में एकत्र हो जाते, तो इस मूढे को सरका वह थोड़ा आगे ले जाता। साथ के लोग अब उसके साथ ही हो लेते और भीड़ और बढ़ जाती। इस प्रकार जब पर्याप्त लोग इकट्ठा हो जाते तो उस जनसमूह को वह प्रमुख वक्ता लाला मुंशीराम तक ले आता और सहज रूप में अपनी मातृभाषा में उसे सम्बोधित कर कहता—हुण विदवानाँ दियाँ गल्लाँ सुणो, देखो केही अमरित-वरखा हुंदी है! अर्थात् अब आप विद्वानों की बातें सुनें, देखो कैसी अमृत-वर्षा होती है। निश्चय ही दयानन्द की क्रान्तदर्शी विचार-धारा को जन-साधारण तक पहुँचाने में ऐसे निष्ठावान् कार्यकर्ताओं का ऐतिहासिक योगदान रहा है।

जालन्धर नगर लाला मुंशीराम की सामाजिक प्रवृत्तियों का केन्द्र होने के साथ-साथ उनकी आजीविका-निर्वाह का स्थान भी था। उनकी वकालत अच्छी चल रही थी। जीवन भी बहुत-कुछ नियमित हो चला था। अब वे प्रातःकालीन नित्यकर्मों से निवृत्त होकर मुकद्दमों की तैयारी करते और भोजन कर कचहरी चले जाते। वहाँ का कार्य समाप्त कर मध्याह्न में ही घर लौट आते। यों तो मुंशी-राम ने युवावस्था में अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में ग्रस्त रहकर अपने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण भाग को तमसाच्छन्न कर लिया था, किन्तु ऋषि दयानन्द और आर्य-समाज के सम्पर्क में आने के पश्चात् वे इन दूषित कृत्यों से बहुत-कुछ मुक्ति पा चुके थे। तथापि अभी तक दो व्यसन उनसे छूटे नहीं थे—एक तो हुक्का पीना और दूसरा शतरंज खेलना। धूम्रपान का व्यसन आर्यसमाज में गर्हित तो सदा से ही माना गया है, किन्तु हम देखते हैं कि बड़े-बड़े विख्यात नेता और उपदेशक भी इस दुर्व्यसन से मुक्त नहीं हो सके थे।[2] मुंशीराम भी इसके अपवाद नहीं थे। शतरंज-

१. आर्यसमाज के इस उत्साही प्रचारक का जीवनचरित श्री राजेन्द्र जिज्ञासु ने लिखा है जो प्रकाशित भी हो गया है।

२. पं० गणपति शर्मा के हुक्का पीने का उल्लेख मिलता है।

का खेल यों तो बुद्धि को कुरेदनेवाला माना जाता है, किन्तु उसमें समय का जैसा अपव्यय होता है, उसे देखते हुए उसे छोड़ना ही श्रेयस्कर है। लाला मुंशीराम ने भी इन बुराइयों से निजात तो पाई, किन्तु उसमें थोड़ा समय भी लगा।

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि उनकी कार्यप्रवृत्तियों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। वे देश में धार्मिक और सामाजिक जागृति को लाने के लिए आर्यसमाज के मंच का उपयोग करते थे, किन्तु उनके जैसे युग-दृष्टि-सम्पन्न महापुरुष का देश की सामयिक राजनीति से निर्लिप्त रहना भी कठिन था। आर्यसमाज की स्थापना के आठ वर्ष पश्चात् कांग्रेस का जन्म हुआ था, किन्तु इस संस्था का प्रारम्भिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि विगत शताब्दी के अन्त तक कांग्रेस केवल अंग्रेजी-पठित आभिजात्य वर्ग के कुछ विशिष्ट लोगों के वार्षिक व्याख्यान-मंच के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी। उसका न तो जन-समाज से ही कोई लगाव था और न सामान्य जनता की कठिनाइयों से उसका कुछ लेना-देना था। तथापि राजनैतिक संस्था होने के नाते कांग्रेस अपनी विचारधारा को देश के सभी प्रान्तों में फैलाने के लिए यत्नशील थी।

सन् १८८८ में मुंशीराम जी भी इस संस्था के साथ जुड़ गये। इसी वर्ष जब पंजाब में कांग्रेस का जिलेवार गठन हुआ तो कांग्रेसकर्मियों ने लाला मुंशीराम का सहयोग माँगा। जालन्धर में कांग्रेस कमेटी की स्थापना हुई जिसमें मुंशीराम के बड़े साले लाला बालकराम की प्रेरणा से नगर के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष सम्मिलित हुए। एक राजनैतिक मंच होने के कारण कांग्रेस में हिन्दुओं की ही भाँति मुसलमान, पारसी, सिख और ईसाइयों का भी प्रवेश होना आवश्यक था। मुसलमानों में अलीगढ़ आन्दोलन के प्रवर्त्तक सर सैयद अहमद खाँ कांग्रेस की राष्ट्रीय विचारधारा के कट्टर विरोधी थे। उनके प्रभाव में आकर पंजाब के मुसलमान भी कांग्रेस से अपना सम्बन्ध तोड़ बैठे। मुंशीराम ने कांग्रेस से अपने प्रारम्भिक सम्बन्धों की चर्चा उन संस्मरणात्मक निबन्धों में की है, जो आगे चलके उनके ही द्वारा प्रकाशित 'दि लिबरेटर' नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक में धारावाही छपे थे।[1] किन्तु अभी तक कांग्रेस में उनकी कोई बहुत अधिक रुचि नहीं बन सकी थी।

लाला मुंशीराम तो मुख्यत: आर्यसमाज के लिए ही समर्पित थे। पारिवारिक और आजीविका-विषयक दायित्वों से निवृत्त होकर वे अपना अवशिष्ट समय आर्यसमाज को ही समर्पित करते। उनकी प्रथम लिखित पुस्तक वर्णव्यवस्था शीर्षक से

---

१. इन्हीं निबन्धों को आगे चलकर 'इनसाइड कांग्रेस' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। प्रस्तुत ग्रन्थावली में इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

उर्दू में छपी। जालन्धर में उन्होंने अपनी कोठी बनवाई और एक सम्पन्न भद्र नागरिक का-सा जीवन व्यतीत करने लगे। समीपवर्ती नगरों और कस्बों के आर्य-समाजों के उत्सवों में वे प्राय: सम्मिलित होते। अपने नगर की आर्यसमाज की तो प्राय: सभी प्रवृत्तियों के वे केन्द्र ही थे। अपने निज के ग्राम तलवन में उन्होंने एक कन्या पाठशाला स्थापित की, किन्तु योग्य अध्यापिका के अभाव के कारण वह दीर्घजीवी नहीं हुई।

आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना

शिक्षा-प्रचार में आर्यसमाज का योगदान आरम्भ से ही रहा है। स्वयं आर्य-समाज के संस्थापक ने ही देश में अनेक स्थानों पर संस्कृत पाठशालाएँ स्थापित कर शिक्षा-विषयक अपने प्रयोगों को आरम्भ कर दिया था। यह भिन्न बात है कि उपयुक्त शिक्षकों और छात्रों के अभाव में आर्ष पठन-पाठन की परिपाटीवाले इन विद्यालयों को वे अधिक काल तक नहीं चला सके। नारी-शिक्षा के क्षेत्र में आर्य-समाज का कार्य भी युगप्रवर्त्तनकारी माना जायगा। स्वामी दयानन्द के जीवन-काल में ही मेरठ और लाहौर में कन्या पाठशालाओं की स्थापना की जा चुकी थी। जालन्धर में उन दिनों ईसाइयों द्वारा संचालित कन्या-शाला में लाला मुंशीराम की बड़ी पुत्री वेदकुमारी को भी प्रविष्ट कराया गया था। एक वार जब वकील मुंशीराम कचहरी से घर लौटकर आये तो लाडली बेटी वेदकुमारी दौड़कर आई और पिता को अपने स्कूल में सीखा भजन सुनाने लगी। भजन के बोल इस प्रकार थे—

इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल।
ईसा मेरा राम रमैया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।।

राम और कृष्ण के देश की सन्तानों के मुख से ईसा का यह विचित्र कीर्तन सुन-कर मुंशीराम को धक्का-सा लगा और उन्होंने निश्चय किया कि आर्य-संस्कृति से विचलित करनेवाली इन ईसाई पाठशालाओं की बनिस्बत यदि हम अपनी संस्कृति की सीख देनेवाली पुत्री-पाठशालाएँ खोलें तो उससे भारत की नारी-जाति का कल्याण सुनिश्चित है। जब उनका ऐसा संकल्प बना तो उसे क्रियान्वित करना भी कठिन नहीं रहा। बख्शी सोहनलाल से उन्होंने विचारविमर्श किया और पाठ-शाला के लिए चन्दा एकत्रित करना आरम्भ किया। ३ नवम्बर १८८८ को आर्य कन्या पाठशाला की स्थापना हुई, जो कालान्तर में आर्य कन्या महाविद्यालय के रूप में एक विशाल शिक्षण-संस्थान के रूप में विकसित होता चला गया। लाला देवराज[1]

१. लाला देवराज का विस्तृत जीवनचरित पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा है।

ने इस महाविद्यालय को उन्नत बनाने में अपना सम्पूर्ण जीवन ही होम दिया।

उन दिनों लाहौर आर्यसमाज के उत्सव किसी बड़े समारोह से कम महत्त्व नहीं रखते थे। इनमें स्थानीय जनता तो भाग लेती ही थी, समीपवर्ती नगरों और ग्रामों के आर्य लोग भी प्रचुर संख्या में एकत्र होते। लाहौर का उत्सव तीर्थ-यात्रा से कम लाभप्रद और पुण्यदायी नहीं समझा जाता था। इसी आर्यसमाज के १२वें वार्षिकोत्सव में जालन्धर के आर्यों के सामूहिक रूप से भाग लेने का उल्लेख स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा में किया है। रात को २ बजे जालन्धर से छूटनेवाली रेल को पकड़ने के लिए आर्यों का एक छोटा समूह निशीथ वेला में ही स्टेशन पर एकत्र हुआ। तीसरे दर्जे का मुसाफिरखाना प्रचार-स्थल के रूप में परिणत हो गया। तब उपस्थित जन-समूह के समक्ष लाला देवराज ने वेद-मंत्र को आधार बनाकर परम पिता की स्तुति की और लाला मुंशीराम ने पौन घण्टे तक धर्मोपदेश दिया। उस काल के इन धर्म-प्रचारकों में कैसा उत्साह और स्वधर्म के प्रसार की कैसी उत्कट लालसा थी! रेलवे के विश्रामगृह को ही आर्यसमाज का व्याख्यानस्थल बना दिया। रात की गाड़ी से चलकर प्रातः लाहौर पहुँचे तो रास्ते में पड़नेवाले स्टेशनों पर इन आर्यपुरुषों का भजन-गायन यथापूर्व चलता रहा। कैसी उमंग थी, कैसा उत्साह था! लाहौर में भी अपने डेरे से चलकर समाज-मन्दिर तक आर्यपुरुषों की यह दीवानी टोली प्रभु-महिमा का कीर्तन करते हुए ही पहुँची।

लाहौर के इस उत्सव में मुंशीराम को जिन दो वक्ताओं ने सर्वाधिक प्रभावित किया, वे थे मास्टर दुर्गाप्रसाद और पं० गुरुदत्त। पं० गुरुदत्त के तो वे पहले से ही प्रशंसक थे, किन्तु त्याग और सादगी की मूर्ति मास्टर दुर्गाप्रसाद का सोलह संस्कारों पर प्रदत्त व्याख्यान भी मुंशीराम के लिए स्मरणीय था। धूम्रपान के व्यसन से मुक्त होने की प्रेरणा भी उन्हें इसी उत्सव के बाद मिली और इस प्रकार बहुत दिनों की यह आदत सहज में ही छूट गई।

लाहौर की ही भाँति जालन्धर की आर्यसमाज का उत्सव भी किसी पुण्यपावन पर्व से कम महत्त्व का नहीं होता। उत्सव के कई दिन पूर्व आर्यों का प्रातःकालीन नगर-कीर्तन आरम्भ हो जाता। इकतारे पर प्रभु-भक्ति के गीत गाते आर्यों की टोली बहुत सवेरे ब्राह्ममुहूर्त में ही निकल पड़ती और गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले में ईश्वर-भक्ति की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगती। कभी-कभी तो भोली माताओं को भ्रम हो जाता कि संकीर्तन करनेवाले आर्यों की यह टोली भिखमंगों की मण्डली ही है, किन्तु उनके आश्चर्य का पारावार नहीं रहता, जब वे देखतीं कि ये भजन-गायक न तो भीख के लिए कोई याचना ही करते हैं और न उन्हें कोई कुछ देता ही है। कोई-कोई माता तो दयार्द्र होकर इनको जबरदस्ती कुछ लेने के लिए कहती, तो आर्यपुरुष अपना परिचय देते हुए कहते कि वे तो आर्यसमाज के सेवक हैं और वार्षिकोत्सव के पूर्व प्रभातफेरी के द्वारा नगर के लोगों को समाज-

मन्दिर में आकर व्याख्यान सुनने की सूचना दे रहे हैं। इतने पर भी कोई श्रद्धालु महिला दयानन्द के इन भिक्षुओं की झोली में अनाज या कुछ सिक्के डाल ही देती, जो बाद में प्रचार-फण्ड में जमा हो जाते। तो यह थी उन आर्यपुरुषों की धर्म-प्रचार की अद्‌भुत लगन, जिसका उदाहरण इतिहास में शायद ही कहीं मिलेगा।

स्वामी श्रद्धानन्द ने जालन्धर आर्यसमाज के तृतीय वार्षिकोत्सव का विस्तृत विवरण अपनी आत्मकथा में दिया है। यह उत्सव १८८८ ई० के दिसम्बर मास के अन्तिम दिनों में हुआ था। इसमें सम्मिलित होने के लिए लाहौर से कोई ४० आर्य लोग आये थे। इनमें पं० गुरुदत्त के अतिरिक्त स्वामी अच्युतानन्द तथा स्वामी स्वात्मानन्द जैसे संन्यासी भी थे जो पं० गुरुदत्त के व्यक्तित्व के अदम्य आकर्षण को ही अनुभव कर आर्यसमाज की शरण में आये थे। इन सभी विद्वानों और महात्माओं के प्रवचनों में जनता के लिए अद्‌भुत आकर्षण था। पं० गुरुदत्त के दार्शनिक व्याख्यानों को सुनने के लिए तो नगर की शिक्षित जनता के साथ-साथ नगरवासी अंग्रेज भी लालायित रहते। स्वामी प्रकाशानन्द की वक्तृता हास्य रस से ओतप्रोत होती थी। इसी उत्सव में पं० गुरुदत्त के व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा को निकटता से देखने और परखने का अवसर मुंशीराम को मिला और वे सदा-सदा के लिए उनकी मित्रता के बन्धन में बँध गये। जालन्धर के इस उत्सव के बाद मुंशीराम ने उपन्यास-पठन और शतरंज के खेल से भी मुक्ति पा ली। ऐसा ज्ञात होता है कि व्यसनों के जिस कुचक्र में पड़कर उन्होंने अपने कैशोर और युवाकाल का बहुमूल्य समय जिस प्रकार नष्ट किया था, अब उनसे वे अविलम्ब मुक्त होकर स्वजीवन को सम्पूर्णतया लोकहित के लिए ही समर्पित करना चाहते थे। वार्षिकोत्सव का नकद लाभ तो आर्यसमाज के सदस्यों की अभिवृद्धि के रूप में ही मिलता था। इस अवसर पर भी अनेक लोगों ने आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण की। स्वयं मुंशीराम के दो बड़े भाई भी आर्य-धर्म में दीक्षित हुए और नकोदर के एक जैन मुनि ने आर्हत मत को त्यागकर वेद-धर्म की दीक्षा ली। इस प्रकार मुंशीराम के लिए यह उत्सव अनगिनत आशीर्वादों की वर्षा करनेवाला सिद्ध हुआ।

आर्यसमाज जालंधर के इस महोत्सव की सफलता ने लाला मुंशीराम को धर्मप्रचार का शैदाई बना दिया। वे कोई अवसर न छोड़ते जबकि आर्यसमाज के संदेश को प्रचारित करने का कोई प्रसंग आये और वे उसका लाभ न उठायें। यदा-कदा पंजाब की राजधानी लाहौर की भी यात्रा होती, जो उस समय तो समस्त भारत के आर्यसमाजों की भी धार्मिक राजधानी थी और जहाँ के आर्य नेताओं के क्रियाकलापों को देशभर के आर्यसमाजी आदर्श मानते थे। लाला साईंदास, लाला हंसराज, लाला मुल्कराज जैसे आर्य नेताओं से मुंशीराम जी का वैयक्तिक सम्पर्क था। पं० गुरुदत्त उनके श्रद्धाभाजन थे। बुजुर्ग नेता साईंदास ने

मुंशीराम को Extreme Radical (परम अतिवाद) की उपाधि दे रक्खी थी, क्योंकि वे गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था के इतने कायल हो चुके थे कि प्रचलित जाति-बन्धनों को तोड़कर विवाह-सम्बन्ध करने का प्रचार करने लगे थे।

अब पंजाब के आर्यजगत् में लाला मुंशीराम का नाम एक जाना-पहचाना नाम था। उनका पत्र-व्यवहार बढ़ रहा था और वे शीघ्र ही एक समाचारपत्र निकालने का विचार करते थे। इन सब सार्वजनिक कार्यों के साथ-साथ वे वैयक्तिक स्वाध्याय की उपयोगिता को भी अनुभव करते थे। इन्हीं दिनों उन्होंने एक भजन-पुस्तक लिखने का विचार किया[1] और ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य का गम्भीर अध्ययन भी आरम्भ किया। पश्चिमी दार्शनिकों में हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थों को पढ़ने में उनकी विशेष रुचि थी। १८८९ ई० में उन्होंने अपने कतिपय आर्यसमाजी मित्रों के सहयोग और आर्थिक सहायता से 'सद्धर्मप्रचारक' नामक आठ पृष्ठों का उर्दू साप्ताहिक निकालना आरम्भ किया। मुंशीराम और देवराज दोनों ने पत्र के सम्पादन का जिम्मा अपने कंधों पर लिया। पत्र की रीति-नीति निर्धारित करने का दायित्व भी सम्पादक-द्वय पर ही था और नीति-विषयक सम्पादकीय वक्तव्य मुंशीराम ने प्रारम्भ में ही लिखकर प्रकाशित कर दिया था। स्वाध्याय में पश्चिमी दार्शनिकों की महत्त्वपूर्ण कृतियों के साथ-साथ सत्यार्थप्रकाश और वेदभाष्य का भी नियमित अध्ययन चल रहा था। संस्कृत का ज्ञान भी आवश्यक था। अतः, लघुसिद्धान्तकौमुदी की पुनरावृत्ति आरम्भ की। यों कॉलेज के दिनों में उन्होंने संस्कृत पढ़ी ही थी। 'सद्धर्मप्रचारक' का स्वत्व कुछ उन हिस्सेदारों का था जिन्होंने पत्र को चलाने के लिए प्रारम्भ में धनराशि एकत्रित की थी, किन्तु दो वर्ष तक पत्र-प्रकाशन में जब निरन्तर घाटा ही होता रहा, तो मुंशीराम जी ने हिस्सेदारों को उनका धन लौटा दिया और स्वयं ही पत्र के मालिक बन गये। इस प्रकार वे अब पत्र को अपनी स्वतंत्र नीति के अनुसार चलाने में पूर्ण सक्षम हो गये। आर्यसमाज के भावी क्रियाकलापों और रीति-नीति को इस पत्र ने किस प्रकार प्रभावित किया, यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

लाला मुंशीराम का यह कर्मठ जीवन का काल था। वे स्वयं स्वाध्याय करते, अपने साथियों को धर्मशास्त्रों के गूढ़ रहस्य समझाते, उनकी शंकाओं का समाधान करते, कन्या-शिक्षा और विधवा-विवाह जैसे सामाजिक कार्यों में अपना योगदान करते। उपदेशक विद्यालय खोलने का विचार भी उनके समक्ष था, किन्तु इसके लिए प्रचुर साधन अपेक्षित थे। डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर की स्थापना के द्वारा छात्रों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था तो हो गई, किन्तु अभी तक कन्याओं की उच्च शिक्षा के लिए कोई अच्छा महाविद्यालय नहीं था। लाला मुंशीराम ने 'सद्धर्म-

---

१. 'आर्य संगीतमाला' नामक यह पुस्तक १९०० ई० में जालन्धर से छपी थी।

प्रचारक' में एक लेखमाला लिखकर कन्या-गुरुकुल की स्थापना की आवश्यकता पर प्रकाश डाला, परन्तु अभी इसके लिए उपयुक्त समय नहीं आया था।

धर्मप्रचार के लिए नित-नये प्रयोग करना मुंशीराम का प्रिय कार्य था। पौराणिक वर्ग में भागवत, गीता, रामचरितमानस आदि की सार्वजनिक कथाओं का प्रचलन प्रायः रहा है। कोई कथावाचक किसी गली या मुहल्ले के चौक में अपना आसन जमाकर बैठ जाये और किसी धार्मिक ग्रन्थ की कथा करने लगे, तो श्रोताओं की कमी नहीं रहती और कथा की समाप्ति पर कथावाचक को प्रचुर द्रव्य भी दक्षिणा के रूप में मिल जाता है। मुंशीराम ने इसी प्राचीन परिपाटी पर जालन्धर के सूदों के चौक में सत्यार्थप्रकाश की कथा करना आरम्भ किया। २४ मई १८८६ से इस कार्य को जब आरम्भ किया और मुंशीराम स्वयं कथा-व्यास की गद्दी पर आकर विराजमान हुए, तो श्रोताओं की संख्या अधिक नहीं थी। किन्तु जब कथावाचक ने वेदमंत्रों का उच्च स्वर में उच्चारण कर अपने वक्तव्य को मातृभाषा पंजाबी में कहना आरम्भ किया, तो समीप की दूकानों पर बैठे लाला लोग हुक्कों की गुड़गुड़ी हाथ में लिये दरी पर आ-आकर बैठने लगे। दो-चार दिन पश्चात् सुननेवालों की संख्या भी बढ़ी, किन्तु वक्ता के एक मास पश्चात् इतर कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण यह कथाक्रम बन्द हो गया।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में पं० पूर्णानन्द के आर्यसमाज में प्रविष्ट होने तथा उपदेशक विद्यालय की स्थापना-विषयक आन्दोलन के बारे में विस्तारपूर्वक लिखा है। पं० पूर्णानन्द सिन्ध के निवासी थे। वे पहले संन्यासी थे और काशी में स्वामी रामानन्द से वैदिक धर्म की दीक्षा लेकर स्वामी पूर्णानन्द के नाम से जाने जाते थे। रामानन्द और पूर्णानन्द, दोनों गुरु-शिष्य जालन्धर आये और मुंशीराम के समक्ष द्वावा उपदेशक मण्डली खोलने का सुझाव रक्खा। अन्ततः यह निश्चय हुआ कि लाहौर की डी०ए०वी० कॉलेज कमेटी को उपदेशक-क्लास प्रारम्भ करने के लिए प्रेरित किया जाये। पं० गुरुदत्त को कॉलेज-कमेटी से कई शिकायतें थीं। उन्हें यह ज्ञात था कि कॉलेज के छात्रावास में आमिष भोजन पकाया जाता है। उन्हें इस बात का भी दुःख था कि डी०ए०वी० कॉलेज में वेदादि शास्त्रों तथा संस्कृत के शिक्षण की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तविकता यह थी कि कमेटी के संचालक धीरे-धीरे कॉलेज को पाश्चात्य शैली की शिक्षा का ही केन्द्र बनाने के अधिक इच्छुक थे। अतः पं० गुरुदत्त जैसे सिद्धान्तप्रिय व्यक्ति का कॉलेज के प्रबन्धकों से नीतियों को लेकर समझौता होना कठिन ही था। ऐसी स्थिति में वे भला पं० गुरुदत्त के उपदेशक-क्लास खोलने के प्रस्ताव पर अपनी अनुकूल प्रतिक्रिया कैसे व्यक्त करते? जब कॉलेज-कमेटी ने उपदेशक-श्रेणी के प्रति अपनी बेरुखी जाहिर की, तो मुंशीराम ने पं० गुरुदत्त के पक्ष का समर्थन करते हुए 'सद्धर्म प्रचारक' में लेख लिखे, एतदर्थ

धन की भी अपील की। तीन वर्ष तक कॉलेज-कमेटी और लाला मुंशीराम के बीच उपदेशक-श्रेणी को लेकर नोक-झोंक चलती रही। शायद आगे के वर्षों में आर्यसमाज में जो एक प्रचण्ड गृहकलह होनेवाला था, उसकी यह भूमिका मात्र थी। उपदेशक-क्लास के लिये साधन तो जुटा लिये गये, किन्तु जिन स्वामी रामानन्द को उसका संयोजक बनाया गया था, उनकी अस्वस्थता के कारण इस योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा में पं० गुरुदत्त के जीवन के अन्तिम दिनों और उनकी असामयिक मृत्यु का भी मार्मिक उल्लेख मिलता है। आर्यसमाज में मांसाहार के औचित्यानौचित्य को लेकर जो विवाद चला, उसमें पं० गुरुदत्त की निर्णायक भूमिका रही। वे मांसाहार के कट्टर विरोधी थे, इसीलिये राय मूलराज जैसे मांसाहार के समर्थक उनके प्रबल प्रतिपक्षी बन गये थे। लोगों में उनके बारे में जान-बूझकर नाना प्रकार की विद्वेषपूर्ण भ्रान्तियाँ फैलाई गईं। यह कहा गया कि वे डी० ए० वी० कॉलेज के प्रिंसिपल-पद के अभिलाषी हैं, इसीलिये प्रोफेसर-पद को स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं होते। जब स्वयं मुंशीराम जी ने १९४६ वि० के ज्येष्ठ मास में लाहौर जाकर पं० गुरुदत्त से बहुत-सी बातों की जानकारी चाही, तो उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि पण्डित जी के सम्बन्ध में अनेक तरह के प्रवाद जान-बूझकर फैलाये जा रहे हैं। वे कॉलेज के प्रिंसिपल-पद के अभिलाषी कभी नहीं रहे, क्योंकि उनकी धारणा थी कि जिस संस्था के लिए उन्होंने स्वयं धन दिया और अन्यों से भी भीख माँगी, उसके वेतन-भोगी प्रिंसिपल बनना उन्हें शोभा नहीं देता। वे इसी कॉलेज में विज्ञान के प्रोफेसर बनना भी नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी रुचि वेद पढ़ाने में थी। कॉलेज के अधिकारी उन्हें विज्ञान के प्रोफेसर का पद तो देना चाहते थे, किन्तु वेदपीठ की स्थापना कर उसके आचार्य-पद पर पं० गुरुदत्त जैसे शास्त्रनिष्णात व्यक्ति को बिठाना उन्हें मंजूर नहीं था। पं० गुरुदत्त लाला साईंदास को पिता-तुल्य आदर देते थे, क्योंकि लाला जी के मार्गदर्शन में ही पण्डित जी का आर्यसामाजिक जीवन निरन्तर उन्नति के शिखर पर चढ़ता रहा था। किन्तु द्वेष फैलानेवाले लोगों ने लाला साईंदास को भी गुरुदत्त के विरुद्ध करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। मुंशीराम जी ने इन दोनों में पुनः सौमनस्य स्थापित कराने के लिए प्रयास किये और लाला साईंदास से मिलकर उनसे अनुरोध किया कि वे स्वयं आगे बढ़कर पं० गुरुदत्त से बात करें और परस्पर सुलह-सफाई कर लें। लाला जी इसके लिए तैयार भी हो गये और मुंशीराम के साथ पं० गुरुदत्त के घर भी गये, किन्तु इसे दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कहा जाय कि पण्डित जी उस समय घर नहीं मिले और इस प्रकार इन वृद्ध और युवा आर्य नेताओं को परस्पर सद्भावपूर्वक चर्चा करने का अवसर ही नहीं मिला। १९ मार्च १८९० को युवा मनीषी पं० गुरुदत्त

ने असमय में ही परलोक प्रस्थान किया और इस प्रकार मुंशीराम जी के आदर और श्रद्धा का पात्र यह महापुरुष आर्यसमाज के रंगमंच से यकायक नेपथ्य की ओर चला गया।

इसी बीच मुंशीराम जी के बड़े साले लाला बालकराम का देहान्त हो गया। उनके ससुराल के लोगों के समक्ष यह बड़ी विपत्ति का समय था। अपने प्रिय भ्राता के वियोग से दुःखी अपनी पत्नी शिवदेवी की उदासी को दूर करने के लिए मुंशीराम अपनी दो पुत्रियों और पुत्र हरिश्चन्द्र को लेकर हरिद्वार चले गये। वहाँ से एक दिन के लिए ऋषिकेश भी हो आये। परिवार को किसी के साथ तलवन भेज दिया और खुद मेरठ आ गये। मेरठ आर्यसमाज ने उनके व्याख्यानों का आयोजन किया। संयुक्तप्रान्त की इस संक्षिप्त यात्रा से निवृत्त होकर वे जालन्धर लौट आये।

पंजाब के विभिन्न स्थानों पर मुंशीराम जी की प्रचार-यात्रायें यथापूर्व जारी रहीं। जालन्धर की समीपवर्ती सिख रियासत कपूरथला के अर्थ-मन्त्री अछरूमल मिश्र कट्टर सनातनधर्मी तथा आर्यसमाज के उग्र विरोधी थे। उन्होंने तो मुंशीराम जी को चेतावनी दे रक्खी थी कि यदि वे उनकी रियासत में आयेंगे तो उन्हें फौरन गिरफ्तार कर लिया जायगा। स्वामी पूर्णानन्द तो पहले से ही वहाँ धर्म-प्रचार कर रहे थे। उन्होंने मुंशीराम को भी वहाँ आने के लिए कहा। अछरूमल मिश्र की चुनौती को ध्यान में रखकर मुंशीराम ने यही उचित समझा कि वे उन्हें अपने कपूरथला आने की अग्रिम सूचना दे दें। यथासमय वे पहुँचे और उनका व्याख्यान भी हुआ। अछरूमल के बहुत चाहने पर भी रियासत का कोई मजिस्ट्रेट उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट जारी करने के लिए तैयार नहीं हुआ, परन्तु किसी उद्दण्ड व्यक्ति ने व्याख्यान के दौरान समीप की छत से उनके सिर को ताककर ईंट फेंक मारी। किन्तु संयोग ऐसा बना कि वे उस घातक प्रहार से बच गये और ईंट मेज पर आकर गिरी। उपस्थित जनता ने बदमाश को पकड़ लिया और उसकी ताड़ना की। इसके बाद तो मुंशीराम कई बार कपूरथला गये और दीवान अछरूमल उनका बाल भी बाँका नहीं कर सके।

मुंशीराम का धर्मप्रचार केवल व्याख्यानों तक ही सीमित नहीं था। वे यदा-कदा शास्त्रार्थ द्वारा सत्यधर्म का निर्णय करने के लिए भी तैयार रहते थे। मण्डी के राजा विजयसेन के आग्रह को स्वीकार कर जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच मैत्रीपूर्ण वातावरण में शास्त्रार्थ-चर्चा आरम्भ हुई। सनातनधर्म के प्रवक्ता की भूमिका स्वयं महाराजा विजयसेन ने ली। उनकी सहायता के लिए पटियाला के पं० श्रीकृष्ण शास्त्री थे। आर्यसमाज का पक्ष प्रस्तुत करने के लिए जो विद्वन्मण्डल गठित हुआ, उसमें मुंशीराम जी के अतिरिक्त स्वामी पूर्णानन्द और लाला देवराज को रक्खा गया।

राजा साहब आर्यसमाज के अधिकांश मन्तव्यों से तो सहमत प्रतीत हुए, किन्तु मूर्तिपूजा को लेकर उनका वैमत्य स्पष्ट था। १८८६ के दिसम्बर मास में पं० प्रीतमदेव शर्मा नामक एक सनातनी पण्डित ने जब जालन्धर आकर स्वामी दयानन्द को कुछ अवाच्य शब्द कहे, तो आर्यसमाज के सभासदों ने उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। प्रीतमदेव का सारा जोश हवा हो गया और वह नगर छोड़-कर भाग खड़ा हुआ।

पं० गुरुदत्त के निधन को मुंशीराम जी ने अपनी वैयक्तिक क्षति माना था। अभी तक वे इस शोक से उबरे ही नहीं थे कि आर्यसमाज लाहौर के भीष्मपितामह लाला साईंदास का ५१ वर्ष की आयु में १३ जून १८९० को देहान्त हो गया। लाहौर में इन दो ही व्यक्तियों ने मुंशीराम को स्नेहबन्धन में बांध रक्खा था। अब इन दोनों के परलोक-गमन के पश्चात् उनके लिए लाहौर में कोई आकर्षण शेष नहीं रहा। फगवाड़ा, लुधियाना, नवाँशहर, राहों, नूरमहल, नकोदर आदि स्थानों पर धर्म-प्रचारार्थ जाने के अतिरिक्त उन्होंने द्वाबा-गुरदासपुर आर्य उप-प्रतिनिधि सभा का संगठन किया और इस क्षेत्र में प्रचार का काम स्वामी पूर्णानन्द और ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द को सौंप दिया। कालान्तर में इस सभा का संविधान बना और विधिवत् चुनाव भी हुए। लाला मुंशीराम प्रधान और लाला रामकृष्ण मन्त्री निर्वाचित हुए।

इस बार जब वे लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर गये तो उन्हें पं० गुरुदत्त की अनुपस्थिति का अहसास हुआ। इस वर्ष डी० ए० वी० कॉलेज के लिए अपील करने का जिम्मा लाला लाजपतराय ने लिया था। कॉलेज में शिक्षा की पद्धति को लेकर पं० गुरुदत्त और लाला जी के विचारों में आकाश-पाताल का अन्तर था। लाला लाजपतराय का दृढ़ विश्वास था कि भारत की युवा पीढ़ी को केवल शास्त्रीय शिक्षा देना ही पर्याप्त नहीं है। उसे पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से भी परिचित कराया जाना चाहिए। जबतक पश्चिम की पदार्थविद्या और पूर्व की ब्रह्मविद्या का उचित समन्वय नहीं होता, तबतक देश का कल्याण होना कठिन है। आर्यसमाज में वैचारिक मतभेद धीरे-धीरे उभर रहे थे। शिक्षा की नीति को लेकर डी०ए०वी० कॉलेज के संचालक यदि एक छोर पर खड़े थे, तो आगे चल-कर गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रस्तोता महाशय मुंशीराम और उनके साथी दूसरे किनारे पर थे। इनकी दिन-प्रतिदिन यह धारणा बन रही थी कि स्वामी दयानन्द की स्मृति में स्थापित डी० ए० वी० कॉलेज में यदि वेदों और संस्कृत की शिक्षा पर बल नहीं दिया जाता, तो उसको चलाना ही व्यर्थ है। मांसाहार को लेकर भी पंजाब के आर्यसमाज में फूट के बीज बोये जा रहे थे। लाला हंसराज के बड़े भाई लाला मुलकराज और परोपकारिणी सभा के उपप्रधान तथा आर्यसमाज लाहौर के प्रथम प्रधान राय मूलराज खुलेआम मांस का समर्थन कर आर्यसमाज में

मतविभ्रम पैदा कर रहे थे[1] और ऐसा लगता था कि निकट भविष्य में इसी प्रश्न को लेकर विस्फोटात्मक स्थिति पैदा हो सकती है। एक अन्य प्रश्न उच्चस्तरीय स्त्रीशिक्षा को लेकर भी चर्चित हो रहा था। कॉलेज विभागवालों की धारणा थी कि स्त्रियों की उच्च शिक्षा अनावश्यक है; जबकि मुंशीराम जी के द्वारा सम्पादित 'सद्धर्म प्रचारक' इसका प्रबल समर्थक था।

मुंशीरामजी 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से आर्यसमाज से सम्बन्धित सभी प्रश्नों और समस्याओं पर सतर्क नजर रखते थे। यहाँ तक कि समुद्रपारीय देशों की गतिविधियाँ भी उसकी दृष्टि में आये बिना नहीं रहती थीं। सुप्रसिद्ध वेदज्ञ प्रो० मैक्समूलर ने वेद की भाषा और छन्द का अनुकरण करते हुए स्वनिर्मित मत्स्य सूक्त[2] की रचना की और स्वयं को उसका ऋषि घोषित किया। 'प्रचारक' के सम्पादक की दृष्टि में यह कार्य मैक्समूलर की अनधिकृत चेष्टा थी। 'प्रचारक' द्वारा आर्यसमाज की प्रचारात्मक गतिविधियों को भी प्रोत्साहित किया जाता था। १६४८ वि० में हरिद्वार में कुम्भ का महामेला होनेवाला था। पंजाब और संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने इस अवसर पर धर्मप्रचार का आयोजन किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का दायित्व भी मुंशीराम जी के कंधों पर ही रहा। इस कार्य में उन्हें स्वामी आत्मानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, ब्रह्मचारी नित्यानन्द, स्वामी पूर्णानन्द तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द आदि संन्यासियों का पूर्ण सहयोग मिला। परोपकारिणी सभा की स्थापना स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के प्रकाशन, यंत्रालय आदि की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था करने के लिए की थी। महाशय मुंशीराम भी इसके सदस्य थे। जब श्यामजी कृष्ण वर्मा को वैदिक यंत्रालय का अधिष्ठाता नियुक्त किया गया और उनका यंत्रालय के सुयोग्य प्रवन्धक भक्त रैमल से झगड़ा हुआ[3], तो इस पेचीदा मसले को सुलझाने में भी मुंशीराम जी ने पूरी दिलचस्पी दिखाई। उस समय 'प्रचारक' में उनके जो लेख निकले, उनकी प्रशंसा सभा के उपप्रधान राय मूलराज को भी करनी पड़ी। अन्ततः इस उलझन को सन्तोषपूर्वक सुलझा लिया गया।

---

१. लाला मुल्कराज ने तो मांसाहार के समर्थन में एक पुस्तक लिखी और राय मूलराज ने अपनी आत्मकथा में आमिष भोजन की खुली वकालत की।
—सम्पादक

२. कई वर्ष पूर्व हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' में यह मत्स्य सूक्त सम्पादकीय टिप्पणीसहित छपा था।

३. द्रष्टव्य—श्यामजी कृष्ण वर्मा का जीवनचरित, ले० डॉ० भवानीलाल भारतीय तथा "आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स : ए विण्डिकेशन" के पूर्वार्द्ध का ५वाँ अध्याय।

अब तक लाला मुंशीराम अपने पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों को पूर्ण सन्तुलन के साथ निभा रहे थे। शिवदेवी गृहस्थ-विषयक कर्त्तव्यों के पालन में उनको पूरा सहयोग दे रही थीं। यद्यपि वे बहुत साधारण शिक्षिता ही थीं किन्तु वैदिक धर्म की सचाई को आत्मसात् करने में वे भी अपने धर्मप्रवण पति से पीछे नहीं थीं। मुंशीराम ने तो स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उनकी धर्मशीला पत्नी अचानक ही उनसे बिछुड़ जायेंगी। पाँचवें प्रसव में मुंशीराम जी की गृहिणी को अपार कष्ट हुआ। सद्योजात पुत्री तो जन्म लेते ही मर गई और कुछ दिन का कष्ट भोगकर देवी भी परलोकवासिनी हो गई। पत्नी के देहान्त ने मानो मुंशीराम को तृतीय आश्रम में प्रविष्ट होने का संकेत दे दिया। मातृविहीन बच्चों को पालने का जिम्मा उनकी बड़ी भौजाई ने ले लिया और मुंशीराम पहाड़ी नगर धर्मशाला की ओर चल पड़े। वहाँ के आर्यसमाज के उत्सव में भाग लिया और स्वास्थ्य-सुधार के लिए वे लगभग चार मास तक वहाँ रहे। समीपवर्ती काँगड़ा और पालमपुर आदि स्थानों में भी धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया।

जब वे लौटकर जालन्धर आये, तो उन्हें पता चला कि मांसाहार के प्रश्न को लेकर आर्यसमाज में विभाजन के आसार बढ़ गये हैं। दोनों विचारधाराओं के अनुयायी जोर-आजमाइश की तैयारी कर रहे थे। एक-दूसरे पर छींटाकशी और व्यंग्य-वचनों का प्रहार आरम्भ हो गया था। आनेवाले संकट का अनुमान कर मुंशीराम का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इसी वर्ष उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रधान चुन लिया गया। अब से उनका जीवन पूर्णतया आर्यसमाज के लिए समर्पित हो गया। यहाँ आकर स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा भी समाप्त हो जाती है। उनकी जीवनयात्रा का यह दूसरा पड़ाव था। इससे आगे का उनका जीवन धर्म, शिक्षा, राष्ट्र तथा हिन्दू संगठन के लिए ही समर्पित रहा।

अब तक लाला मुंशीराम जालन्धर आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर ही वैदिक धर्मप्रचार की विविध गतिविधियों का संचालन कर रहे थे। यों लाहौर के आर्य बन्धुओं से उनका परिचय तथा घनिष्ठता भी थी, किन्तु उन्होंने सम्भवतः यह कभी नहीं सोचा था कि आनेवाले दिनों में कतिपय विवादास्पद विषयों पर उन्हें लाहौर के इन्हीं आर्य नेताओं से संघर्ष में उतरना पड़ेगा। इधर तो इनके नेतृत्व के क्षेत्र का विस्तार हो रहा था और उधर आर्यसमाज में उत्पन्न होनेवाला आसन्न गृहकलह मानो पुकारकर रहा था कि अब उन्हें संघर्षरत दो दलों में से एक का मार्गदर्शन करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

अध्याय ५

आर्यसमाज का आन्तरिक विग्रह

आर्यसमाज के इतिहास-लेखकों ने गत शताब्दी के अन्तिम दशक में पड़ी आर्यसमाज की इस फूट पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है। इस कलह और विग्रह के लिए जिम्मेदार स्थितियाँ एक ही दिन में नहीं बनी थीं। वैचारिक मतभेद और दृष्टिकोणों का अन्तर जो भीतर-ही-भीतर सुलग रहा था, अवसर पाते ही प्रकट हुआ और कुछ काल के लिए यह मत-वैभिन्य विद्वेष और विग्रह की प्रचण्ड ज्वाला का रूप धारण कर उठा। आर्यसमाज के शत्रुओं ने तो शायद यह उम्मीद लगा रक्खी थी कि परस्पर की यह फूट इस उदीयमान आन्दोलन की सारी ऊष्मा को ही समाप्त कर उसे ठण्ठी राख के रूप में बदल देगी, परन्तु ऐसा सोचनेवाले शायद यह भूल गये थे कि चाहे दोनों दलों में कितने ही मतभेद क्यों न रहे हों, दोनों पक्षों के लोग दयानन्द के प्रचण्ड और विराट् व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर ही आर्यसमाज में आये थे। इसलिए वैदिक धर्म की पुनरुद्धारक इस संस्था का सर्वथा विनाश तो अकल्पनीय ही था।

आर्यसमाज का यह आन्तरिक विग्रह मुंशीराम के जीवन के साथ कुछ इस तरह जुड़ गया है कि इसका समग्र विवेचन किये बिना उनकी जीवन-कथा को आगे बढ़ाना सम्भव ही नहीं है। हमें सर्वप्रथम इस गृहकलह के कारणों को खोजना होगा। १८८३ में स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए जिस दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना का निर्णय पंजाब के आर्यों ने लिया था, उसे किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता। स्वामी दयानन्द के शिक्षा-दर्शन में जहाँ पुरातन संस्कृत वाङ्मय और आर्ष शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन पर जोर दिया गया था, वहाँ यह भी मान लिया गया था कि भौतिक विज्ञान का अध्ययन, कला-कौशल की जानकारी तथा पश्चिमी देशों की भाषा और साहित्य का ज्ञान भी छात्रों के लिए लाभप्रद ही है। अतः डी० ए० वी० कॉलेज में शिक्षा की जो पद्धति लागू की गई, उसमें प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-प्रणालियों के सुखद समन्वय पर ही जोर दिया गया था। किन्तु

आगे चलकर कॉलेज के संचालकों में कतिपय मुद्दों पर विवाद पैदा हुआ, जो धीरे-धीरे उग्र से उग्रतर होता गया। पं० गुरुदत्त और उनके अनुयायी कट्टर दयानन्द-भक्त थे। वे चाहते थे कि दयानन्द-अनुमोदित संस्कृत शास्त्रों के पाठ्यक्रम को इस कॉलेज में दृढ़ता से लागू किया जाय। यदि अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग करें तो कहना होगा कि वे दयानन्दीय शिक्षा-प्रणाली को Letter and Spirit दोनों प्रकार से अनुष्ठित करने के पक्ष में थे, जबकि लाला लालचन्द, लाला हंसराज और लाला लाजपतराय आदि कॉलेज के संचालकगण युगीन आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व देते हुए संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी और विज्ञान की पढ़ाई पर अधिक जोर देने के पक्षपाती थे।

दोनों पक्षों के विचारों का यह अन्तर मूलतः उनके जीवनदर्शन के अन्तर को ही प्रतिफलित करता है। पं० गुरुदत्त तथा लाला मुंशीराम जैसे दयानन्द के प्रति अनन्य निष्ठावान् महानुभावों की धारणा थी कि आर्यसमाज में रहकर हमें अपने जीवन को धर्मानुकूल, चरित्रवान् तथा नैतिक मूल्यों के प्रति समर्पित बनाना है, जबकि कॉलेज-समर्थक नेताओं की दृष्टि में आर्यसमाज का आन्दोलन केवल हिन्दू धर्म और समाज को पुनरुज्जीवित कर उसे अन्य मतों की तुलना में अधिक शक्ति-शाली तथा समर्थ बनाने का एक सामयिक प्रयास ही था। स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनी-लेखक पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने दोनों प्रकार की विचारधाराओं के अन्तर को श्रेय और प्रेय का अन्तर माना है। महात्मा-पक्ष[1] के लिए धर्म, नैतिकता, सदाचार और चरित्र ही सब-कुछ था, किन्तु कॉलेजवालों के लिए सिद्धान्तवादी होना उतना महत्त्व नहीं रखता था जितना आर्यसमाज को हिन्दू हितों की रक्षा के लिए बलवान् बनाने का प्रयास।

शिक्षा-पद्धति को लेकर उत्पन्न इस विवाद में कुछ वैयक्तिक प्रश्न भी समाविष्ट हो गये थे। कॉलेज को पश्चिमी ढर्रे पर चलाने के पक्षपाती लोग पं० गुरुदत्त जैसे त्यागी, तपस्वी तथा ब्राह्मण मनोवृत्तिवाले महापुरुष पर भी आक्षेप करने का कोई अवसर नहीं छोड़ते थे। उस स्थिति में पण्डित जी के भक्त और प्रशंसक लाला मुंशीराम को भी अपने पत्र के द्वारा उनके समर्थन में आगे आना पड़ता था। किन्तु गृहकलह का एक और कारण जो स्वल्प समय पश्चात् अत्यन्त विकराल रूप धारण कर सामने आया, वह था मांसाहार का सवाल। पंजाब के सवर्ण हिन्दुओं में मांसाहार एक आम बात है। दयानन्द के जादूभरे व्यक्तित्व से सम्मोहित होकर पंजाब की आर्यसमाज की पहली पीढ़ी के जो लोग इस क्षेत्र में

१. स्वामी श्रद्धानन्द और उनके साथवालों को महात्मा दल (व्यंग्य में घासपार्टी) तथा डी०ए०वी० कॉलेज के संचालकों को कॉलेज दल (व्यंग्य में मांसपार्टी) कहकर पुकारा जाता था।

आये, उन्होंने शायद मांस खाने या न खाने को इतना महत्त्व नहीं दिया था कि उसे आर्यसमाज में विग्रह का कारण समझ लिया जाता।[1] तत्कालीन लाहौर के शीर्षस्थ आर्य नेता प्रायः सभी मांसाहारी थे। उनके नाम गिनाना यहाँ अनावश्यक ही है। इधर जालन्धर में लाला मुंशीराम के इर्द-गिर्द आर्यों का जो समर्पित भक्त और प्रचारक-मण्डल उभरा, वह वैचारिक दृष्टि से तो दृढ़ सिद्धान्तवादी था ही, आचार-व्यवहार, खानपान तथा अन्य लौकिक आचरणों में भी आर्य आदर्शों का दृढ़ता से पालन करने का पक्षपाती था। इसलिए वह मांसाहार को आर्यसमाज में छूट देने के खिलाफ था। शायद मांसाहार को लेकर उत्पन्न विवाद भी शान्त हो जाता, यदि कॉलेज-दल के कुछ कर्णधार मांसाहार के मुखर प्रचारक बनकर उसकी सार्वजनिक वकालत करने के लिए आगे न आते। ऐसे लोगों में लाला मुल्कराज, राय मूलराज तथा लाला लाजपतराय की गणना की जा सकती है। क्रिया ही प्रतिक्रिया को जन्म देती है। मांसाहार के इन घोर समर्थकों का प्रतिवाद करने के लिए महात्मा-दल के लाला आत्माराम अमृतसरी तथा मास्टर दुर्गाप्रसाद[2] जैसे विचारशील चिन्तकों को आगे आना पड़ा।

जब मांसाहार की समर्थक टोली ने देखा कि लाहौर में उनका पक्ष कुछ दुर्बल हो रहा है तो उनकी दृष्टि जोधपुर राज्य के तत्कालीन प्रशासक और महाराजा के छोटे भाई कर्नल महाराजा प्रतापसिंह की ओर गयी। प्रतापसिंह ने यद्यपि स्वामी दयानन्द का शिष्यत्व पूर्ण निष्ठा के साथ स्वीकार किया था, किन्तु मांसाहार की अपनी वंशवत और चरित्रगत दुर्बलता को छोड़ना उनके लिए सम्भव नहीं था। जब लाहौर की ओर से इन्हें मांसाहार का समर्थन करने और इसके पक्ष में एक पूरे प्रचारतन्त्र को स्थापित करने का संकेत मिला, तो उन्होंने न केवल मुक्तहस्त होकर रियासत के कोष को ही इसके लिए खोल दिया, अपितु स्वामी प्रकाशानन्द और स्वामी अच्युतानन्द जैसे संन्यासियों की भी सेवायें इस कार्य के लिए ले लीं। उनकी चेष्टा तो यह भी थी कि स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पं० भीमसेन शर्मा से मांसाहार के समर्थन में व्यवस्था प्राप्त की जाय। इसके लिए कुछ प्रयत्न भी किये गये। आर्थिक लाभ को ही महत्त्व देनेवाले पं० भीमसेन जोधपुर रियासत से सम्मान और पुरस्कार पाने की लालसा लेकर जोधपुर आ भी गये। किन्तु पं० लेखराम के सामयिक हस्तक्षेप से उन्होंने महाराजा प्रतापसिंह और स्वामी प्रकाशानन्द की दुरभिसन्धि के अनुकूल मांसाहार को वेद-विहित मानने से इन्कार कर दिया।

---

१. राय मूलराज तो यह दावा करते थे कि स्वामी दयानन्द से उनकी मांस-भक्षण की आदत अविदित नहीं थी।

२. मास्टर दुर्गाप्रसाद ने मद्य और मांस-निषेध के लिए एक व्यवस्थित आन्दोलन चलाया तथा अनेक पुस्तकें लिखीं।

फलतः उनकी दक्षिणा में तो कटौती हुई, किन्तु आर्यसमाज में वे अपनी प्रतिष्ठा को यथा-तथा बचा पाने में सफल हो ही गये।

दोनों दलों के मतभेद जब खुलकर सामने आए तो पंजाब में आर्यसमाज का सारा उपदेशक-मण्डल और इसके अखबार भी किसी-न-किसी गुट के साथ जुड़ गए। अब खण्डन-मण्डन, आरोप-प्रत्यारोप, आक्षेप-प्रत्याक्षेप का दुष्चक्र चल पड़ा और पंचनद की पवित्र आर्यभूमि कुछ काल के लिए यादवस्थली बन गई। 'आर्य-पत्रिका' और 'आर्य-गजट' जैसे पत्र कालेज-दल के प्रवक्ता थे, तो मुंशीराम का "प्रचारक" महात्मा-दल की बात कहता था। इन दो प्रश्नों के साथ-साथ उच्चतर स्त्री-शिक्षा जैसे कुछ गौण प्रश्न भी जुड़े हुए थे। कन्या महाविद्यालय की स्थापना के साथ जालंधर के आर्यों का पुरुषार्थ इसे स्त्री-शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में विकसित करने में लग रहा था, जबकि कल्चर्ड पार्टी[1] के लोग अपनी शक्तियों को डी० ए० वी० कॉलेज के विकास और विस्तार में लगा रहे थे।

दोनों पक्षों के विवाद में एक अन्य अन्तर्धारा भी प्रच्छन्न रूप से बहती दिखाई पड़ी। राय मूलराज तथा उनकी-सी विचारधारा के कुछ लोगों ने यह धारणा व्यक्त की कि आर्यसमाज का सभासद् बनने के लिए दयानन्द की मान्यताओं और उनके सभी विचारों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।[2] उनके अनुसार आर्यसमाज का सभासद् बनने के लिए केवल दस नियमों को मानना ही पर्याप्त है। इसके विपरीत महात्मा-दल की धारणा थी कि दयानन्द के वेदानुमोदित मन्तव्यों तथा उनके द्वारा की गई आर्य सिद्धान्तों की व्याख्याओं को यथावत् स्वीकार किये बिना आर्यसमाज की सदस्यता का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

अन्ततः विचारों के इस विभेद ने इन लोगों द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर अपने-अपने गुट का अधिकार जमाने का रूप लिया। कॉलेज के प्रबन्धकों का इस विकसनशील संस्था पर आधिपत्य जमाए रखना ही प्रमुख लक्ष्य बन गया, क्योंकि किसी शिक्षण-संस्था का संचालन अनेक प्रकार की लौकिक उपलब्धियों और स्वार्थों का हेतु बन जाता है। किन्तु मुंशीराम और उनके मित्रों के लिए वैदिक धर्मप्रचार का महत्त्व अधिक था। शिक्षा-पद्धति के स्वरूप और मांसाहार के औचित्यानौचित्य को लेकर आर्यसमाज का बहुमत मुंशीराम के ही विचारों का पक्षपाती था। अतः जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का निर्वाचन हुआ, तो लाला मुंशीराम ही उसके प्रधान निर्वाचित हुए। मंत्री का पद मास्टर दुर्गाप्रसाद को मिला जो यद्यपि उस कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए थे जहाँ मांसाहार वर्जित नहीं

---

१. कालेज दल को कभी-कभी कल्चर्ड पार्टी के नाम से भी पुकारा जाता था। —सम्पादक

२. द्रष्टव्य—राय मूलराज की अंग्रेजी में लिखित आत्मकथा।

माना जाता, किन्तु वे स्वयं आमिष-भोजन के प्रति घोर विरक्ति रखते थे तथा जिन्होंने मद्यपान और मांसाहार के विरुद्ध एक जबरदस्त अभियान चला रक्खा था। कॉलेज की प्रबन्ध-समिति पर मांसाहार के समर्थक हावी रहे और धर्म-प्रचार के लिए उन्हें एक पृथक् सभा की आवश्यकता अनुभव हुई। परिणामस्वरूप आर्य प्रादेशिक सभा का गठन हुआ और पंजाब तथा समीपवर्ती प्रान्तों की आर्य-समाजें अपनी-अपनी धारणा के अनुसार इस या उस प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित हो गईं। आर्यसमाज के इस विग्रह का एक घृणाजनक पहलू उस समय सामने आया, जबकि संस्थानों पर अपने ही गुट का अधिकार रखने के लिए दोनों दलों में शारीरिक शक्ति-परीक्षण हुआ, परस्पर डण्डे चले और एक-दूसरे को आलीशान शब्दों में कोसा गया। लाहौर की पुरानी आर्यसमाज वच्छोवाली महात्मा-दल के अधिकार में ही रही। मांसाहार के पक्षपोषकों को अनारकली मुहल्ले में अपना मन्दिर बनाना पड़ा।

लाला मुंशीराम जैसे निष्ठावान् आर्यसमाजी को इस यादवी युद्ध को देखकर पीड़ा ही हुई, जिसे उन्होंने यदा-कदा अपने पत्र के माध्यम से व्यक्त भी किया। उनका प्रयास भी रहा कि येन-केन-प्रकारेण इस कलह और विग्रह को समाप्त किया जाय और दोनों पक्ष कोई सम्मानजनक समझौता कर लें। एतद्विषयक प्रयत्न भी हुए, किन्तु कतिपय व्यक्तियों के हठ और दुराग्रह के कारण बात बनी नहीं। कॉलेज के समर्थक अपनी संस्था के विकास के लिए कॉलेज-फण्ड की अपीलें करते थे। उधर महात्मा-पक्ष के लोगों ने वेदप्रचार-फण्ड के लिए पुरुषार्थ करना आरम्भ किया ताकि धर्मप्रचार के कार्य को संगठित किया जाय तथा उपदेशकों की संख्या में वृद्धि की जा सके।

६ मार्च १८९७ को आर्यपथिक पं० लेखराम ने एक आततायी मुसलमान के छुरे से घायल होकर शहादत पाई। संयोग ऐसा बना कि उस दिन लाला मुंशीराम भी अचानक लाहौर पहुँच गए। आर्यमुसाफिर की मृत्युशय्या पर जब वे पहुँचे तब तक पं० लेखराम का प्राणरूपी पक्षी शरीररूपी पिंजड़े से उड़ा नहीं था। क्षत-विक्षत, आहत शरीरवाले पं० लेखराम के ओठों से अस्फुट शब्द सुनाई पड़े, 'लालाजी नमस्ते ! अच्छा हुआ आप भी आ गए।' धर्मप्रचार के कार्य में अपने विश्वसनीय साथी और सहयोगी पं० लेखराम की महाप्रयाण-वेला को निकट आया देखकर मुंशीराम जी ने जिस आन्तरिक पीड़ा को अनुभव किया, वह हमारे लिय सर्वथा अवर्णनीय है।

दूसरे दिन जब शहीद की चिता प्रज्वलित हुई तो मुंशीराम ने दिवंगत आर्य-मुसाफिर को जो श्रद्धांजलि अर्पित की, वह अत्यन्त मार्मिक तथा हृदयवेधक थी। उन्होंने आर्यसमाज के दोनों दलों से आग्रह किया कि संकट की इस वेला में अपने सारे मतभेदों को भुला दें और दयानन्द की शिक्षाओं का प्रसार करने में एकजुट

होकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगायें। उनकी इस भावभरी अपील का दोनों पक्षों ने स्वागत किया और उस सप्ताह का अधिवेशन आर्यसमाज वच्छोवाली में सम्मिलित रूप से सम्पन्न हुआ। सुलह-सफाई के लिए कुछ आधारभूत मुद्दे भी तलाशे गए किन्तु अपने-अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों में बँधे आर्यों के इन गुटों का सौहार्दभाव श्मशानजन्य वैराग्य की भांति क्षणस्थायी ही सिद्ध हुआ। आर्यसमाज की इस हानिकर फूट के लिए वास्तव में कौन जिम्मेदार था, इसके लिए इतिहासकार कोई समाधानकारक उत्तर ढूंढने में असमर्थ रहे हैं। लाला लाजपतराय ने अपनी आत्मकथा में इस प्रसंग में लिखा है, "महात्मा-दल की धारणा थी कि राय मूलराज अंग्रेजों के जासूस हैं और वे ही शासकों की शह पाकर आर्यसमाज में फूट डलवा रहे हैं, जब कि कॉलेज-दल के लोग राय पेड़ाराम की गतिविधियों को आशंका की दृष्टि से देखते थे।" अब तक उपर्युक्त धारणाओं की पुष्टि या निषेध में कोई वस्तुनिष्ठ प्रमाण तो इतिहासकारों को उपलब्ध नहीं हो सका है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का नेतृत्व—

जैसा कि हम लिख चुके हैं आर्यसमाज में लाला मुंशीराम का कार्य-क्षेत्र निरन्तर बढ़ रहा था। १८९२ ई० के साधारण अधिवेशन में वे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान चुने गए और निरन्तर कई वर्षों तक इस पद पर रहे। उन्होंने इस पद की गरिमा के अनुकूल ही कार्य किया। यद्यपि अभी तक विधिवत् उन्होंने वानप्रस्थ की दीक्षा नहीं ली थी, किन्तु अपने जीवन के अधिकांश को समाज-सेवा और धर्मप्रचार-हेतु समर्पित कर वे तृतीयाश्रम की मर्यादा का ही निर्वाह कर रहे थे। यों आजीविका के लिए अब भी वे वकालत के पेशे से जुड़े हुए थे, किन्तु यह कार्य तो अब सर्वथा गौण हो गया था। आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष के पद पर विराजमान होकर उन्होंने जो पहला कार्य किया, वह था वेद-प्रचार-निधि की स्थापना। वे सभा से सम्बद्ध आर्यसमाजों के उत्सवों में जाते तो उक्त निधि के लिए दान देने की सार्वजनिक अपील करते। इस निधि के अन्तर्गत जिन प्रवृत्तियों को चलाया जाना था, वे निम्न थीं—उपदेशकों की नियुक्ति, पुस्तक-प्रकाशन तथा पुस्तकालय स्थापित करना, उपदेशकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा लाहौर में विद्यार्थी-आश्रम जारी करना।

उनके अध्यक्षता-काल में पंजाब सभा में अनेक उच्चकोटि के उपदेशकों की नियुक्ति हुई, जो न केवल इसी प्रान्त में, अपितु बुलाये जाने पर अन्य प्रान्तों में जाकर वैदिक धर्म का प्रचार करते। 'वेद प्रचार निधि' से इन उपदेशकों को वेतन दिया जाता था। यों तो 'सद्धर्मप्रचारक' मुंशीराम का निजी पत्र था, किन्तु उसे वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों और उसकी रीति-नीति के प्रचार-प्रसार के उपयुक्त माध्यम के रूप में ही प्रयुक्त करते थे। इसलिए पंजाब से इतर प्रान्तों की आर्य-

समाजें तथा आर्यगण 'प्रचारक' में प्रकाशित लेखों और सूचनाओं को सदा ध्यान से पढ़ते थे। 'आर्य पत्रिका' भी आर्य प्रतिनिधि सभा का अंग्रेजी साप्ताहिक था। पं० लेखराम की स्मृति में अक्टूबर १८९८ से 'आर्य मुसाफिर' नामक उर्दू पत्र भी निकलने लगा। मुंशीराम जी ही इसके सम्पादक थे।

अब मौखिक प्रचार पर अधिक जोर दिया जाता। मुंशीराम जी स्वयं स्थान-स्थान पर जाकर आर्यसमाज का सन्देश जनसामान्य को देते। उनकी इन धर्म-प्रचार-यात्राओं का विवरण 'सद्धर्मप्रचारक' में नियमपूर्वक छपता। १८९६ में वे राजस्थान की यात्रा पर निकले और अजमेर तथा शाहपुरा का दौरा किया। परोपकारिणी सभा के सदस्य होने के नाते वे इस सभा की गतिविधियों में भी रुचि लेते थे। इस प्रकार यदि अहर्निश धर्मप्रचार की धुन और लगन को हृदय में बसानेवाले मुंशीराम जी का स्वास्थ्य बिगड़ जाता, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? १८९६ में वे उन्निद्र रोग से ग्रस्त हो गए। निरन्तर १६ दिन तक निद्रा देवी उनके पास तक नहीं आई। कुछ दिन विश्राम में बिताये, तब स्वास्थ्य में सुधार हुआ। वस्तुतः आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को एक प्राणवान् संस्था बनाने तथा उसके द्वारा वैदिक धर्म को प्रसारित करने में मुंशीराम जी का ऐतिहासिक योगदान रहा है। उनके परिश्रम और निष्ठा का ही परिणाम था कि यह संस्था उस समय उत्तर भारत में धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति की ध्वजवाहक बन सकी।

पं० गोपीनाथ का मुकद्दमा और सनातनधर्मी खेमे से टक्कर

जिस युग में महाशय मुंशीराम ने वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार को अपने जीवन का मिशन बनाया था, उन दिनों आर्यसमाज के कार्य में बाधक तत्त्वों की संख्या भी कम नहीं थी। ईसाई, मुसलमान आदि भारत से भिन्न देशों में उत्पन्न मत-मतान्तर तो आर्यसमाज के विरोधी थे ही, इसी देश की साधारण जनता द्वारा स्वीकृत सनातन धर्म भी आर्यसमाज का विरोध करने का कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता था। भारतधर्म महामण्डल के रूप में पौराणिक मतावलम्बियों ने संगठित रूप से आर्यसमाज का विरोध तो बाद में करना आरम्भ किया, किन्तु प्रत्येक स्थान पर आर्यसमाज के कार्य में रुकावट डालना और ऋषि दयानन्द को प्रचलित हिन्दू धर्म के विरोधी के रूप में प्रख्यापित करने की दुष्चेष्टा काफी पहले ही आरम्भ हो गई थी। स्वयं स्वामी दयानन्द ने भी अपने जीवनकाल में इस प्रकार के विरोध का सामना अनेक स्थानों पर किया था। पंजाब में स्वामी दयानन्द की विचारधारा का विरोध करनेवालों में मुख्य पं० श्रद्धाराम फिल्लौरी थे। किन्तु अब इस क्षेत्र में एक अन्य व्यक्ति का आगमन हुआ। पं० गोपीनाथ, जो अपने-आपको कुलीन कश्मीरी गुर्टू पण्डित घराने का कहता था, लाहौर से

प्रकाशित होनेवाले उर्दू पत्र 'अखबारे-आम' का संचालक था। सनातनधर्म सभा का स्वयं को मंत्री कहनेवाला यह शख्स 'सनातन धर्म गजट' नामक एक साम्प्रदायिक अखबार भी निकालता था।

इसी गोपीनाथ ने लाला मुंशीराम को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। नवम्बर १८९८ के अन्तिम सप्ताह में आर्यसमाज बच्छोवाली के उत्सव पर मुंशीराम जी का पं० गोपीनाथ से दो विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ—(१) वेद के नाम से कौन ग्रन्थ पुकारे जा सकते हैं? (२) मूर्तिपूजा क्या वेदानुमोदित है? इन शास्त्रार्थों को सुनने के लिए लाहौर के नागरिक हजारों की संख्या में उपस्थित होते थे। दिसम्बर १८९८ की ३० और ३१ तारीख को जालंधर आर्यसमाज में भी पं० गोपीनाथ के साथ मुंशीराम जी का एक अन्य शास्त्रार्थ हुआ। वस्तुतः गोपीनाथ में शास्त्रों का पाण्डित्य तो लेशमात्र भी नहीं था, किन्तु उर्दू पत्रकारिता से जुड़े रहने के कारण वह अपने पत्रों में लच्छेदार मुहावरों का प्रयोग कर आर्यसमाज और उसके प्रवर्त्तक की शान के खिलाफ गन्दी-से-गन्दी भाषा का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करता था। शायद वह समझता था कि इस प्रकार की भ्रष्ट और अपमानजनक शब्दावली का प्रयोग कर वह आर्यसमाज की बढ़ती हुई लोकप्रियता को क्षति पहुँचा सकेगा। १८९९ की होली पर उसने अपने पत्र 'सनातन धर्म गजट' में 'होली के चुटकुले' छापे और इसमें ऋषि दयानन्द के अमल-धवल चरित्र पर गन्दगी उछाली। सरकार की ओर से उसपर फौजदारी कानून की धाराओं (१५३-ए, २०२ तथा ५०५) के अन्तर्गत मुकद्दमा चलाया गया। यद्यपि उसने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना भी की, किन्तु लाहौर के डिप्टी कमिश्नर ने 'गजट' में छपे इन लेखों को सम्राट् की प्रजा के दो वर्गों के बीच वैमनस्य फैलानेवाली हरकत माना और पं० गोपीनाथ को कारावास की सजा सुनाई। गोपीनाथ द्वारा अपील करने पर यह सजा जुर्माने में बदल दी गई।

पं० गोपीनाथ को इस अभियोग में जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा, उसका परिणाम यह हुआ कि उसके हृदय में लाला मुंशीराम और आर्यसमाज के प्रति विद्वेष की अग्नि धू-धू करके जलने लगी। रोपड़ में आर्यसमाजियों और सनातनधर्मियों के बीच किसी बात को लेकर तकरार हुआ और यहाँ तक नौबत आई कि आर्य पुरुषों को स्थानीय धर्मसभा के मंत्री तथा उपमंत्री एवं पं० गोपीनाथ के विरुद्ध मानहानि का अभियोग दायर करना पड़ा। अन्ततः इन तीनों को माफी माँगनी पड़ी और १०० रुपये का जुर्माना भी भरना पड़ा। यह मामला तो इस प्रकार निपट गया किन्तु पं० गोपीनाथ के हृदय में द्वेष की गाँठें और दृढ़ता के साथ बँध गईं। उसकी समझ में यही आया कि उसे पदे-पदे नीचा दिखाने के पीछे मुंशीराम का ही हाथ है। अतः उसने 'सद्धर्मप्रचारक' के कुछ लेखों के आधार पर लाहौर के प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में 'प्रचारक' के सम्पादक (मुंशीराम), सहायक

सम्पादक (वजीरचन्द विद्यार्थी) और मैनेजर (बस्तीराम) पर मानहानि का दावा दायर किया।

इस मुकद्दमे की कार्यवाही ने सारे लाहौर को चौंका दिया।[1] दोनों ओर के गवाहों के बयान और वकीलों की बहस हुई। गोपीनाथ ने अपने बयानों द्वारा सिद्ध करना चाहा कि मुंशीराम के "प्रचारक" में छपे लेखों से उसका चरित्र हनन हुआ है, उसकी प्रतिष्ठित सार्वजनिक छवि को आघात पहुँचा है। उसने यह भी दावा किया कि वह एक कुलीन कश्मीरी पण्डित खानदान का इज्जतदार शहरी है और दो उर्दू पत्रों का संचालक एवं सम्पादक है तथा सनातनी जगत् में उसकी प्रतिष्टा है। किन्तु इस रोचक मुकद्दमे ने उस समय एक नाटकीय मोड़ ले लिया, जब अपनी कोठी के बरामदे में टहलते हुए मुंशीराम जी को कोई अजनबी व्यक्ति कागजों का एक पुलिंदा देकर चला गया। जब लाला जी ने इन कागजों को देखा तो उन्हें पता लगा कि यह तो गोपीनाथ के चारित्रिक पतन तथा उसकी अनीति-पूर्ण कार्यवाहियों का ही कच्चा चिट्ठा है। जब इन दस्तावेजों की सत्यता को प्रमाणित करते हुए गोपीनाथ के ही एक लंगोटिया यार करीमबख्श की गवाही हुई तो कुछ चौंकानेवाले तथ्य प्रकाश में आए। इन बयानों से जाहिर हुआ कि गोपीनाथ वेश्यागामी, शराबी तथा अत्यन्त दुष्चरित्र है। उसने धोखाधड़ी से जो धन कमाया, उसे चरित्रहीन वेश्याओं में व्यय किया। सनातन धर्म का नेता बनने-वाले इस व्यक्ति को हिन्दू धर्म में पूज्य गाय का मांस खाने में भी संकोच नहीं हुआ।

इस सनसनीखेज मुकद्दमे की समाप्ति मि० क्लेवर्ट, प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट लाहौर द्वारा फैसला सुनाए जाने से हुई। इस निर्णय से गोपीनाथ की सारी कलई खुल गई। उसका कुलीन कश्मीरी पण्डित होना भी संशयास्पद माना गया और मुसलमानों को खुश करने के लिए गोवध के हक में 'अखबारे-आम' में कुछ लेख लिखने का भी उसे दोषी पाया गया। गोपीनाथ द्वारा दायर किए गए इस मान-हानि के अभियोग में मुंशीराम जी का बेदाग बरी होना उनकी सच्चरित्रता तथा सचाई का प्रत्यक्ष सबूत था। हजारों की संख्या में उपस्थित लाहौर के नागरिकों ने उनका अदालत में ही अभिनन्दन किया और विजय पर बधाई दी। कालान्तर में स्वयं लाला मुंशीराम ने इस अभियोग का समग्र विवरण हिन्दी एवं उर्दू में पुस्तकाकार प्रकाशित कराया, ताकि जनसामान्य को गोपीनाथ की हरकतों की जानकारी मिल सके।

सामाजिक प्रश्नों पर लाला मुंशीराम सदा से ही क्रान्तिकारी रुख अपनाते

---

१. विस्तार के लिए देखें—इसी ग्रन्थावली में प्रकाशित 'सद्धर्म प्रचारक पर पहला लाइबल केस'। मूलग्रन्थ १९०१ में छपा था।

रहे। हम देख चुके हैं कि गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को प्रचलित करने तथा जन्मगत विचार को पृथक् रखकर समान शील और रुचि के आधार पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की वकालत करने के ही कारण लाला साईंदास ने उन्हें अतिशय क्रान्तिकारी की उपाधि दी थी। समय आने पर उन्होंने अपनी द्वितीय पुत्री अमृतकला का विवाह अरोड़ा जाति के डॉ० सुखदेव से १९०१ ई० में किया। मुंशीराम स्वयं कुलीन खत्री थे, जबकि अरोड़ों को खत्रियों से अवर माना जाता था।

अब तक मुंशीराम जी की गतिविधियाँ मुख्यत: आर्यसमाज और उसके धर्म-प्रचार के कार्य तक ही सीमित थीं। उस समय तक आर्यसमाज का विस्तार उत्तर भारत के लगभग सभी प्रान्तों में हो चुका था और मुंशीराम जी को आर्यसमाज में सर्वत्र एक सम्मानित नेता के रूप में जाना जाता था। किन्तु उनकी राष्ट्रीय छवि तब उभरकर आई, जब उन्होंने पुरातन शिक्षाप्रणाली के आदर्श को साकार करने के लिए गंगातटवर्ती प्रदेश में गुरुकुल की स्थापना का विचार किया। डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर की जिस समय स्थापना हुई, उस समय तक तो मुंशीराम जी को इस बात का सन्तोष था कि भारत की युवा पीढ़ी का सही पथप्रदर्शन करने में इस कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी, क्योंकि जिस शिक्षणसंस्था के साथ प्रात:स्मरणीय स्वामी दयानन्द और 'वैदिक' जैसे नामों का सम्बन्ध हो, उससे ऐसी अपेक्षा रखना गलत नहीं था। किन्तु पं० गुरुदत्त की ही भाँति मुंशीराम जी का भी कॉलेज को लेकर स्वप्न भंग होने लगा। जब कॉलेज के संचालकों ने वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन की तो बात ही अलग, संस्कृत के सुचारु शिक्षण की भी सन्तोषप्रद व्यवस्था नहीं की, तो मुंशीराम जी का दुःखी होना स्वाभाविक ही था।

उनके विचारों का क्रम कुछ इस प्रकार भी गतिशील था—यदि भारत का सामाजिक दृष्टि से नवनिर्माण हमें इष्ट है, तो इसकी आधारशिला के रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था को उसके सही रूप में प्रतिष्ठापित करना होगा। वर्ण-धर्म की प्रतिष्ठा तब तक सम्भव नहीं है, जबतक मानव-जीवन का संचालन आश्रम-प्रणाली के अनुसार न किया जाय। सभी आश्रमों की नींव है ब्रह्मचर्य आश्रम और उसका कठोरतापूर्वक पालन। ब्रह्मचर्य आश्रम को चरितार्थ करना और ब्रह्मचारी की मर्यादाओं का शिक्षण गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली को पुनरुज्जीवित किए बिना सम्भव ही नहीं है। यदि ब्रह्म का अर्थ परमात्मा, वेद और वीर्य लिया जाय तो यह प्रत्यक्ष है कि प्रचलित शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षित छात्र न तो ईश्वर-विश्वासी बनते हैं और न वेदों के प्रति ही उनकी कोई निष्ठा होती है। वीर्य-रक्षण की ओर भी वे प्रमादी रहते हैं, अत: उनका न तो शारीरिक विकास ही हो पाता है और न बौद्धिक और आत्मिक विकास। इस प्रकार गुरुकुल की उपयोगिता को लेकर जो विचार उनके मन में मेघ-घटाओं की तरह उमड़ते रहे, उन्हें वे समय-समय पर

'प्रचारक' में अपने लेखों द्वारा व्यक्त भी करते थे। उनके इन लेखों की अनुकूल प्रतिक्रिया पंजाब के आर्य-जगत् में और अन्य प्रान्तों में भी हो रही थी।

अन्ततः मित्रों और शुभचिन्तकों से पर्याप्त विचार-विमर्श करने के पश्चात् निश्चय हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्वावधान में ही गुरुकुल की स्थापना हो। विभिन्न लोगों की तरफ से सहायता के आश्वासन भी आने लगे थे। अन्तिम रूप में मुंशीराम और उनकी मित्रमण्डली ने निश्चय किया कि प्रान्तीय सभा के समक्ष गुरुकुल का प्रस्ताव रक्खा जाय और सभा की स्वीकृति मिलने पर इसके लिए आगे उद्योग किया जाना ठीक होगा। २६ नवम्बर १८९८ को पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल-स्थापना के प्रस्ताव को मंजूरी दे दी। निश्चय हुआ कि गुरुकुल-स्थापना और ऋषि दयानन्द के अपूर्ण वेदभाष्य को पूरा कराने का श्रमसाध्य कार्य इस सभा के द्वारा कराये जायँ और यदि इन दोनों आयोजनों के लिए ८-८ हजार की राशि एकत्र हो जाय, तो दोनों कार्य साथ-साथ में लिये जा सकते हैं। जब सभा से गुरुकुल-निर्माण की औपचारिक स्वीकृति मिल गई, तो मुंशीराम जी ने एतद्विषयक अपनी विस्तृत योजना सभा को सौंपी और खुद ही आगे होकर घोषणा कर दी कि वे गुरुकुल-स्थापना-हेतु तीस हजार रुपये की राशि एकत्र करने का संकल्प लेते हैं और इस कार्य को पूरा करके ही वे अपने घर में कदम रखेंगे। मुंशीराम की इस घोषणा से सर्वत्र स्फूर्ति और उत्साह फैल गया। घोषणा के बाद नौ मास का वृत्तान्त मुंशीराम जी की गुरुकुल-विषयक यात्राओं की ही कहानी हैं। इन यात्राओं में वे जहाँ भी गए, वहाँ उन्हें आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायता के भरपूर वचन मिले। प्रथम बार के दौरे में वे गुजराँवाला, लालामूसा, लून मियाँनी, रावलपिण्डी, पेशावर, कोहमरी, वजीराबाद, सियालकोट, लायलपुर, अकालगढ़, रामनगर होते हुए लाहौर गए। दूसरी यात्रा में अम्बाला और सहारनपुर होकर हरिद्वार पहुँचे तथा गुरुकुल के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश की। उन्हें गंगा के उस पार चण्डी पर्वत की तराई की भूमि गुरुकुल के एकान्त वातावरण के अनुकूल जान पड़ी, यद्यपि यह स्थान उस समय नितान्त उजाड़ तथा सुनसान था।

यात्रा के एक अन्य क्रम में वे लायलपुर, मुलतान, डेरा इस्माइलखाँ, मुजफ्फरगढ़ तथा अमृतसर आदि स्थानों में जाकर लाहौर आए। अब तक उन्हें काफी धन मिल चुका था। गुरुकुल किसी एक प्रान्त की बपौती तो बननेवाली थी नहीं, अतः पंजाब से भिन्न प्रान्तों में जाकर गुरुकुल के लिए अलख जगाना भी आवश्यक था। इस बार वे पहले हैदराबाद दक्षिण गए और उसके बाद लखनऊ पहुँचे जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन के कारण गुरुकुल के सन्देश को अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुँचाने की आशा थी। लखनऊ में उन्हें कांग्रेस के स्थानीय नेताओं—बाबू गंगाप्रसाद वर्मा तथा पं० बिशननारायण दर का अच्छा सहयोग मिला। अधिवेशन

की समाप्ति पर उसी पण्डाल में मुंशीराम ने गुरुकुल के महत्त्व को एक बड़ी सभा के सम्मुख निरूपित किया। गुरुकुल-योजना की मुद्रित प्रतियाँ भी वितरित की गईं। उस समय कांग्रेस अधिवेशन के साथ सोशल कान्फ्रेंस के भी जलसे होते थे। समाज-सुधारक होने के नाते मुंशीराम जी की इस संस्था में पूरी दिलचस्पी थी। यहाँ भी उन्होंने गुरुकुल की चर्चा की, जिसका उत्साहजनक स्वागत हुआ। 'प्रचारक' में मुंशीराम जी की प्रचार-यात्राओं के विवरण छपते थे, अतः दूर-दराज के लोगों को भी उनके पुरुषार्थ की जानकारी मिलती रहती थी। अफ्रीका में बसे आर्यसमाजी विचारों के लोगों ने भी गुरुकुल के प्रस्ताव का स्वागत किया और इस कार्य के लिए अच्छी धनराशि भेजी।

इस प्रकार ८ अप्रैल १९०० तक मुंशीराम जी की प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उनका संकल्प तो तीस हजार रुपया एकत्र करने का ही था, किन्तु अब तक उन्हें चालीस हजार की राशि मिल चुकी थी। जब वे अपनी प्रतिज्ञा को पूरा कर लाहौर आए तो आर्यसमाज में उनका हार्दिक स्वागत और अभिनन्दन किया गया। जो लोग गुरुकुल की स्थापना को पागलों का स्वप्न कहकर पुकारते थे, उन्हें भी मुंशीराम जी की कर्मठता का कायल होना पड़ा। वस्तुतः महान् कार्यों को मूर्त रूप प्रदान करनेवाले महापुरुष एक अर्थ में स्वप्नदर्शी ही होते हैं। ऐसे दिव्य स्वप्नों के द्रष्टाओं ने ही धरती की कायापलट की है। ऐसे लोगों ने ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति की है। गुरुकुल के आदर्श को साकार करनेवाले लाला मुंशीराम ने इस उद्देश्य की पूर्ति के आगे न तो अपने परिवार की चिन्ता की और न अपने पेशे वकालत की। इस प्रकार जाति-हित का ही एकान्त चिन्तन करनेवाले लाला मुंशीराम को यदि अब आर्य पुरुषों ने "महात्मा मुंशीराम" कहकर पुकारना आरम्भ कर दिया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

अध्याय ६

गुरुकुल-गाथा

गुरुकुल-स्थापना का जब निश्चय हो गया तो उसकी प्रारम्भिक तैयारियाँ की गईं। प्रारम्भ में गुजराँवाला के वैदिक आश्रम में ही छात्रों को प्रविष्ट किया गया। पं० गंगादत्त, जो आगे चलकर स्वामी शुद्धबोध तीर्थ के नाम से विख्यात हुए, आचार्य-पद पर अभिषिक्त किये गये। महात्मा मुंशीराम ने अपने दोनों पुत्रों—हरिश्चन्द्र और इन्द्र को वैदिक आश्रम में प्रविष्ट करा दिया। ३४ अन्य विद्यार्थी भी भर्ती किये गये। गुरुकुल के लिए हरिद्वार के निकट उपयुक्त स्थान की तलाश की गई। मुंशीराम जी तो पहले ही चण्डी पर्वत की तलहटी के स्थान को गुरुकुल के लिए उपयुक्त मान चुके थे। पंजाब सभा ने भी यह निर्णय कर लिया कि हरिद्वार के निकट गुरुकुल के लिए उपयुक्त भूमि खरीदी जाय तथा मुंशीराम जी गुरुकुल के अधिष्ठाता-पद को स्वीकार करें। भवन-निर्माण तथा अध्यापकों की नियुक्ति के काम भी उनके ही सुपुर्द किये गये।

संयोग ऐसा बना कि नजीबाबाद के एक रईस मुंशी अमनसिंह जी ने गुरुकुल के लिए अपना काँगड़ी नामक ग्राम तथा उसके समीप की १२०० बीघा भूमि दान में देने का निश्चय किया। जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा गया तो सभा ने दानदाता का आभार मानते हुए उनके द्वारा प्रदत्त भूमि और गाँव को गुरुकुल के लिए लेना स्वीकार कर लिया। निश्चय हुआ कि मार्च १९०२ में होली के अवसर पर गुरुकुल का विधिवत् उद्घाटन हो। मुंशीराम जी १९०१ के नवम्बर मास में ही कनखल पहुँच गये और गुरुकुल-भूमि की सफाई तथा वहाँ फूँस की कच्ची झोंपड़ियाँ बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया। सभा का तो विचार था कि उद्घाटन का उत्सव विशाल स्तर पर मनाया जाय, किन्तु हरिद्वार में प्लेग फैल जाने के कारण इस प्रस्ताव को स्थगित करना पड़ा। छोटे पैमाने पर ही सही, गुरुकुल के प्रारम्भ का उत्सव मनाना आवश्यक ही था। २ मार्च १९०२ को गुजराँवाला के वैदिक आश्रम से चलकर पं० गंगादत्त जी के निरीक्षण में अध्ययनरत ब्रह्मचारी रेल के आरक्षित डिब्बे में हरिद्वार के

स्टेशन पर उतरे। उनके साथ महात्मा मुंशीराम भी थे जिन्हें अब गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता के रूप में इस नवीन पौधे को एक विशाल वृक्ष के रूप में पल्लवित और पुष्पित करना था। ब्रह्मचारी-गण एक जुलूस के रूप में चार मील पैदल चलकर गुरुकुल-भूमि में पहुँचे। हरिद्वार जैसे तीर्थ-स्थान पर दयानन्द के इन शिष्यों का इस प्रकार कतारबद्ध निकलना अपने-आपमें एक अनोखा दृश्य था। कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि इसी हरिद्वार में 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' फहराने तथा सर्वमेधयज्ञ के पश्चात् गंगा के तटवर्ती प्रान्त में पद-चारण करते हुए वैदिक धर्म के सन्देश को जन-जन तक पहुँचानेवाले दयानन्द के ही अनुयायी इसी पुण्यस्थली के समीपवर्ती स्थान में एक ऐसा मनोरम ब्रह्मचर्याश्रम स्थापित कर रहे हैं, जहाँ से वीतराग, अवधूत दयानन्द की लोक-पावनी विचार-गंगा प्रवाहित होकर जनसमाज के अज्ञान और कल्मष को निरन्तर प्रक्षालित करती रहेगी।

महामारी के प्रकोप के कारण गुरुकुल के उद्‌घाटनोत्सव पर उपस्थित होने के लिए यद्यपि किसी को औपचारिक रूप से आमन्त्रित नहीं किया गया था, किन्तु लगभग ५०० आर्यपुरुष इस अनोखे दृश्य को देखने के लिए स्वतः ही वहाँ पहुँच गये। फाल्गुन पूर्णिमा संवत् १९५८ वि० को ४५ ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ-संस्कार हुआ तथा विक्रम के १९५९ सम्वत्सर के प्रथम दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से उनका नियमित अध्ययन आरम्भ हो गया। इस प्रकार महात्मा मुंशीराम का वर्षों पूर्व का स्वप्न साकार हुआ। उन्होंने पुराकालीन गुरुकुलों के आदर्श को पुनरुज्जीवित कर दिखाया और संसार को बता दिया कि भौतिकवाद की चाक-चिक्य में फँसी मानव-जाति का सम्यक् उद्धार तभी सम्भव है, जब कि ऋषियों द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मचर्य आश्रम के परिपालन पर जोर दिया जाय और इसके लिए गुरुकुल-प्रणाली से ही भारत के छात्र-समुदाय को शिक्षित किया जाय।

जब से महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल-स्थापना का संकल्प लेकर उसके लिए उद्योग आरम्भ किया, तभी से लोग नाना प्रकार की शंकाएँ उठाकर इस योजना का उपहास करने लगे थे। बहुतों को तो यह भरोसा ही नहीं था कि इस प्रकार की शिक्षण-संस्था चल भी सकती है। महात्मा जी के विरोधी तो इसे दिवा-स्वप्न और उनकी खाम-खयाली ही समझते थे। उनके सन्देह कुछ इस प्रकार के थे—सबसे बड़ा भ्रम तो यह फैलाया गया कि ऐसे घनघोर जंगल में अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भला कौन भेजेगा? पुत्र तो माँ-बाप के कलेजे के टुकड़े होते हैं। उन्हें हिंस्र जन्तुओं से भरे बीहड़ वनों में भेजकर मृत्यु का ग्रास बनाना कौन चाहेगा? यदि किसी तरह पिता मान भी जाय, तो पुत्र की माता को तो यह हरगिज स्वीकार नहीं होगा। एक शंका यह भी थी कि आयु के २५ वर्ष पूरे होने तक क्या उन्हें माता, पिता, परिवार और समाज से सर्वथा पृथक् इस ब्रह्मचर्य-

आश्रम में सर्वथा एकान्त में रखना सम्भव और व्यावहारिक होगा ? पुनः यह भी कहा गया कि यदि वादितोषन्याय से यह मान भी लें कि २५ वर्ष गुरुकुल में पढ़-कर ये छात्र सब प्रकार से शास्त्र-निष्णात हो जायेंगे, किन्तु स्नातक बनने के पश्चात् जीविकोपार्जन के लिए मात्र संस्कृत-पठित ऐसे व्यक्ति तो संसार और समाज के किसी काम के ही नहीं रहेंगे। किन्तु समय आने पर ऐसा लगा कि शंका करनेवालों के सभी सन्देह व्यर्थ और आधारहीन हैं। गुरुकुल में विद्यार्थियों को प्रविष्ट कराने की तो एक होड़-सी लग गई और अच्छी तरह से देख-परखकर ही उन्हें प्रवेश दिया जाने लगा। जहाँ तक २५ वर्ष की आयु तक गुरुकुल में रहने का सम्बन्ध था, इसमें कभी कोई व्यवधान या बाधा नहीं आई। गुरुकुल के एकान्त वातावरण में रहकर निरन्तर विद्याध्ययन करनेवाले छात्रों को भी अवकाश के दिनों में वनों, पर्वतों तथा अन्य रमणीय स्थानों पर भ्रमणार्थ ले-जाया जाता था। मानसिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ उनके शारीरिक विकास पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। अतः बालकों के गुरुकुल में रहकर अन्यमनस्क होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। जहाँ तक शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् व्यवसाय चुनने की बात थी, इस प्रश्न का समाधान तो समय आने पर अपने-आप ही हो गया। उपदेशक, पुरोहित, अध्यापक, पत्रकार आदि के व्यवसाय चुनने में तो स्नातकों को कोई कठिनाई थी ही नहीं, आयुर्वेद के स्नातकों के लिए चिकित्सा का व्यवसाय तैयार ही था। व्यापार-व्यवसाय के क्षेत्र भी उनके लिए खुले हुए थे। जहाँ तक सरकारी सेवा में जाने का प्रश्न था, स्नातक बनने के उपरान्त अनेक लोगों ने सरकारी बोर्डों और विश्वविद्यालयों की परीक्षाएँ पास कीं और उसके बाद यथेच्छ व्यवसायों को चुन लिया।

गुरुकुल का विस्तार

१९०२ में गुरुकुल काँगड़ी रूपी जिस लघु पादप को गंगातटवर्ती भूमि में आरोपित किया गया था, स्वल्प समय पश्चात् वह नाना शाखा-प्रशाखाओं से युक्त एक महावृक्ष के रूप में विस्तार पाता गया। ज्यों-ज्यों आवश्यकता पड़ती गई, भवनों का निर्माण होता गया, छात्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई तथा अपने-अपने विषयों के मर्मज्ञ अध्यापकों और उपाध्यायों ने यहाँ रहकर विद्यादान के पवित्र यज्ञ में अपनी-अपनी आहुति देना आरम्भ किया। गुरुकुल काँगड़ी का सम्पूर्ण इतिहास यों तो भारतीय शिक्षा के इतिहास का एक रोचक अध्याय है, किन्तु हमारा प्रयोजन तो महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व में इस राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था के विकास को ही बतलाना है। सं० १९६५ वि० में इसे महाविद्यालय का रूप मिला और तीन वर्ष पश्चात् १९६८ वि० में यह विश्वविद्यालयों की श्रेणी में आ गया। इसी वर्ष गुरुकुल काँगड़ी का प्रथम दीक्षान्त-समारोह हुआ और

महात्मा मुंशीराम के दोनों पुत्रों को गुरुकुल का प्रथम स्नातक घोषित किया गया।

धीरे-धीरे गुरुकुल के वार्षिकोत्सवों ने तो बड़े मेलों का ही रूप धारण कर लिया। उत्सव के दिनों में गुरुकुल-परिसर में पर्याप्त चहल-पहल रहती। छात्रों के माता, पिता तथा परिजन तो आते ही थे, नवीन प्रवेश के लिए आनेवाले छात्र भी अपने संरक्षकों के साथ आते। किन्तु सामान्य आर्य जनता तो गुरुकुल के उत्सव पर आयोजित यज्ञ, सत्संग, उपदेश, प्रवचन आदि का लाभ लेने के लिए बड़ी संख्या में एकत्र हो जाती। गुरुकुल का उत्सव हरिद्वार में एक लघु कुम्भ का-सा दृश्य उपस्थित कर देता। दीक्षान्त-भाषण देने के लिए देश के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को आमन्त्रित किया जाता। इस प्रकार धर्म, समाज और राष्ट्र का नेतृत्व करनेवाले आर्यसमाजेतर महापुरुषों को भी गुरुकुल में आने तथा महात्मा मुंशीराम द्वारा शिक्षा में किये गये इस नवीन प्रयोग को प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिलता रहा।

गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली की कुछ निश्चित धारणाएँ और मान्यताएँ थीं। प्रयास यह किया गया था कि स्वामी दयानन्द द्वारा निर्धारित शिक्षा के सिद्धान्तों और आदर्शों को ही गुरुकुल में मूर्तिमान् रूप दिया जायगा। अतः गुरुकुल काँगड़ी में निम्न नियमों का दृढ़ता से पालन किया जाता था—

१. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पिता-पुत्र के पावन आदर्श से अनुप्राणित होने चाहिएँ। उसी का परिणाम था कि वर्षों तक अपने जन्मदाता माता-पिताओं से पृथक् निर्जन कान्तार तथा हिंस्रजन्तु-समाकुल वातावरण में रहकर भी गुरुकुल के छात्र अपने परिजनों का कभी स्मरण नहीं करते थे। आचार्य मुंशीराम का पितृतुल्य स्नेह उन्हें सदा मिलता रहता था। यदि कोई छात्र रोगग्रस्त हो जाता, तो स्वयं आचार्य जी मातृवत् वात्सल्य से उसकी सेवा और देखभाल करते।

२. गुरुकुल का शिक्षाक्रम एक आदर्श व्यवस्था थी जिसमें छात्रों के बौद्धिक, शारीरिक तथा आत्मिक विकास पर सर्वोपरि ध्यान दिया जाता था। नियमित सन्ध्योपासना तथा आध्यात्मिक प्रवचनों के द्वारा उनमें आस्तिकता तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा के भावों का बीजारोपण किया जाता, तो वेद-वेदांग, उपनिषद्, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि पुरातन शास्त्रों का विधिवत् प्रशिक्षण देकर उन्हें आर्ष विद्याओं में पारंगत बनाया जाता। किन्तु केवल प्राच्य विद्याएँ पढ़ाना ही गुरुकुल का लक्ष्य नहीं था। भौतिकी, रसायन, गणित, जीव-विज्ञान, भूगर्भ विद्या, इतिहास, भूगोल, नृतत्त्व विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति-विज्ञान, समाजशास्त्र आदि प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की उच्चस्तरीय शिक्षा की व्यवस्था भी गुरुकुल में थी और प्रत्येक विषय के अधिकारी विद्वानों को उपाध्याय-पद पर लाया गया था। उन दिनों वेद, व्याकरण, दर्शन, आदि विषयों

को साधिकार पढ़ानेवाले अध्यापकों की आर्यसमाज में तो प्रायः कमी ही थी। इसलिए महात्मा मुंशीराम का यह प्रयत्न रहा कि आर्यसमाज से भिन्न आस्था-वाले उच्च कोटि के विद्वानों को गुरुकुल में लाकर अध्यापक नियुक्त किया जाय, ताकि यहाँ के छात्र वाङ्मय की किसी भी विद्या के अध्ययन में पीछे न रहें।

जहाँ तक शारीरिक विकास का सम्बन्ध है, गुरुकुल में नियमित व्यायाम, खेल-कूद आदि की व्यवस्था थी। फुटबाल और हॉकी जैसे खेलों के अतिरिक्त कबड्डी, कुश्ती, तैराकी जैसे देशी व्यायामों का भी प्रशिक्षण दिया जाता। समय-समय पर समीपवर्ती वनों, पर्वतों तथा अन्य बीहड़ स्थलों के भ्रमण की योजनाएँ बनाई जातीं, जिससे छात्रों में साहस, स्फूर्ति तथा आत्मविश्वास जैसे भावों का विकास होता। गुरुकुल के छात्र एक सीमित परिसर में रहकर भी संसार की गतिविधियों से अपरिचित न रहें, इसके लिए पुस्तकालय तथा वाचनालय की व्यवस्था तो थी ही, समय-समय पर गोष्ठियों, प्रतियोगिताओं तथा सरस्वती-सम्मेलनों के आयोजनों के द्वारा उनके मानसिक क्षितिज के विस्तार हेतु प्रयत्न किया जाता।

३. गुरुकुल में निवास करनेवाले छात्रों का खानपान, रहन-सहन, आहार-विहार सब एक प्रकार का था। अतः यहाँ रहकर उन्हें यह आभास ही नहीं होता था कि वे धनी पिता के पुत्र हैं या दरिद्र कुल के लाल हैं। इसी प्रकार जाति, वर्ण और समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के विचारों से भी ये छात्र सर्वथा मुक्त होते थे। "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्" जैसे आदर्शों को लेकर विद्याध्ययन करनेवाले ये ही छात्र जब स्नातक बनकर जीवन की कर्मभूमि में अवतीर्ण होते, तो जाति, मत, सम्प्रदाय और नस्ल की विभाजक रेखाओं के घेरे में बँधना कभी पसन्द नहीं करते थे।

४. गुरुकुल में मातृभूमि से प्रेम, राष्ट्रभक्ति तथा स्वदेश-गौरव का जो पाठ पढ़ाया जाता, वह तो तत्कालीन, ब्रिटिश शासन के अधीन संचालित शिक्षण-संस्थाओं में सर्वथा दुर्लभ ही था। स्वदेशाभिमान और राष्ट्रीय अस्मिता पर गर्व करनेवाले इन स्नातकों ने आगे चलकर देश और समाज के लिए जो कुर्बानी दी, उससे तो हमारे देश की स्वाधीनता के इतिहास के अनेक पन्ने रँगे हुए हैं। गुरु-कुल के विद्यार्थियों में प्रविष्ट की जानेवाली इसी राष्ट्रीय भावना को देखकर ही तो तत्कालीन शासकों में इस संस्था के प्रति जिस प्रकार नाना आशंकाएँ उत्पन्न हुईं और अविश्वास का जैसा वातावरण बना, यदि समय रहते महात्मा मुंशीराम जैसी सूझबूझवाले व्यक्ति उसका निराकरण नहीं करते, तो गुरुकुल पर विपत्ति की घटाओं का घिर आना कोई कठिन बात नहीं थी।

५. इन सब उपलब्धियों के बावजूद, गुरुकुल के संचालक इस बात पर कटिबद्ध थे कि वे इस संस्था का सम्बन्ध न तो किसी सरकारी विश्वविद्यालय से करेंगे और न सरकारी महाविद्यालयों में प्रचलित पाठ्यक्रम को ही अपने यहाँ

चलायेंगे। उन्हें सरकार से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता की भी अपेक्षा नहीं थी, क्योंकि वे जानते थे कि यदि सरकार से धन की या अन्य किसी प्रकार की सहायता किसी भी रूप में ली, तो गुरुकुल को सरकार का मुखापेक्षी तो बनना पड़ेगा ही, उसकी प्रत्येक उचित-अनुचित बात को मानने के लिए भी बाध्य होना पड़ेगा। आचार्य मुंशीराम को यह कदापि स्वीकार नहीं था कि गुरुकुल को सरकार पर किसी प्रकार निर्भर रहना पड़े। किन्तु वे यह भी नहीं चाहते थे कि सरकारी क्षेत्रों में गुरुकुल को लेकर शंकाएँ फैलें या झूठे प्रवादों को फैलाने का अवसर लोगों को मिले। इस प्रकार की सभी निर्मूल और अलीक धारणाओं का उन्मूलन करने के लिए वे प्रत्येक स्तर पर तैयार रहते थे।

६. गुरुकुल की शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाती थी। यों तो गुरुकुल में प्रवेश पानेवाले ब्रह्मचारी भारत के विभिन्न प्रान्तों से आते थे, अत: उनके घर-परिवार में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोली जाती थीं, किन्तु यहाँ गुरुकुल में आर्य-भाषा हिन्दी को ही मातृभाषा-तुल्य आदर दिया जाता था। स्नातक-स्तर तक की विज्ञान और मानविकी के विभिन्न विषयों की पाठ्यपुस्तकें तैयार करवाना तथा हिन्दी माध्यम से जैविकी, रसायन, भौतिकी, गणित आदि विज्ञानों की शिक्षा देना वास्तव में किसी चमत्कार से कम नहीं था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुकुल स्वामी दयानन्द के शिक्षा-विषयक आदर्शों को साकार करनेवाली एक महत्त्वपूर्ण प्रयोगशाला या कर्मशाला बन गई थी। गुरुकुल काँगड़ी के अनुकरण पर संयुक्तप्रान्त, गुजरात, महाराष्ट्र, तथा अन्य सुदूरवर्ती प्रान्तों में भिन्न-भिन्न गुरुकुल स्थापित किये गये, किन्तु गुरुकुल काँगड़ी का महत्त्व और माहात्म्य तो सर्वोपरि था। आर्य जनों की यहीं आकांक्षा रहती थी कि वे अपने बालकों का प्रवेश यहीं पर करायें। जब प्रारम्भिक श्रेणियों में छात्रसंख्या में अकल्पनीय वृद्धि होने लगी, तो यह तय किया गया कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर शाखा गुरुकुलों की स्थापना हो, ताकि वहाँ की अधिकृत परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् महाविद्यालय-श्रेणियों में पढ़ने के लिए छात्रों को वहाँ से यहाँ सीधा प्रविष्ट किया जा सके। इस प्रकार जो शाखा गुरुकुल खुले, उनका विवरण इस प्रकार है: गुरुकुल मुलतान—१३ फरवरी १९०९ को आरम्भ हुआ। गुरुकुल कुरुक्षेत्र—१९१२ में थानेसर के रईस ज्योतिप्रसाद जी द्वारा प्रदत्त धन-राशि और भूमि से खोला गया। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ—दिल्ली से १२ मील दूर मथुरा मार्ग पर स्थित पहाड़ी पर यह गुरुकुल १९१३ में स्थापित हुआ; दानवीर सेठ रघूमल जी ने इसके लिए एक लाख रुपया दिया था। गुरुकुल मटिण्डू—रोहतक जिले में मटिण्डू ग्राम के निकट यमुना नहर की एक शाखा के किनारे अत्यन्त रमणीय स्थान पर इस गुरुकुल की स्थापना १९१५ ई० में हुई। गुरुकुल रायकोट—लुधियाना जिले के रायकोट नामक ग्राम में इसका आरम्भ १९१९

में हुआ; कालान्तर में स्वामी गंगागिरि जी ने इसे अपने पुरुषार्थ से चलाया। गुरुकुल सूपा —गुजरात में सूपा गुरुकुल की स्थापना १९२४ ई० में हुई।

कन्याओं के लिए देहरादून में काँगड़ी की शाखारूप में ही कन्या गुरुकुल की स्थापना हुई। यहाँ की पाठ-विधि, शिक्षण-पद्धति तथा व्यवसाय काँगड़ी के ही अनुरूप थी। गुरुकुल काँगड़ी के अनुकरण पर विभिन्न प्रान्तों में और भी अनेक विशाल गुरुकुल खोले गये। इस प्रकार महात्मा मुंशीराम ने प्राचीन आर्षशिक्षा-पद्धति के पुनरुद्धार के लिए जो पुरुषार्थ किया, उसका देशव्यापी परिणाम अब जनता के समक्ष आ रहा था। आर्यसमाज के गुरुकुलों की ही नकल पर सनातन-धर्मियों ने हरिद्वार आदि स्थानों पर ऋषिकुल स्थापित किये और जैन मताव-लम्बियों ने भी अपने मत की शिक्षा-दीक्षा के लिए जैन गुरुकुलों का प्रवर्तन किया।

गुरुकुल का विरोध और तद्विषयक भ्रान्तियाँ

किसी संस्था की सफलता अनेक प्रकार के विरोधों और भ्रमों को भी उत्पन्न कर देती है। गुरुकुल काँगड़ी जैसी संस्था का दिन-प्रतिदिन विकास की ओर उन्मुख होना तथा उसे राष्ट्रीय ख्याति मिलना अनेक लोगों में द्वेषबुद्धि और विरोध-भाव जागृत करने का कारण बना। बहुत-कुछ भ्रम और विरोध तो गैरों के बनिस्बत अपनों द्वारा ही फैलाये गये। गुरुकुल की स्वामिनी संस्था आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में समय-समय पर विरोधी धड़े की ओर से अनेक प्रकार के आक्षेप किये जाते। महात्मा मुंशीराम जी पर वैयक्तिक रूप से जो लांछन लगाये गये वे तो अत्यन्त पीड़ादायक थे, तथापि महात्मा जी ने नितान्त तटस्थ भाव से उन्हें झेला। किन्तु जब उनके विरोधियों की हरकतें चरम सीमा पर पहुँच गईं, तो उनके धैर्य का प्याला भी लबरेज हो गया। अपना स्पष्टीकरण उन्होंने एक बृहदाकार उर्दू पुस्तक लिखकर दिया जिसका शीर्षक था—**दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तान**[1]। इसमें उन्होंने आक्षेपकर्ताओं की शंकाओं और भ्रमों का समाधान तो किया ही, यह भी बताया कि इस प्रकार के निर्मूल आक्षेप कर उन्होंने गुरुकुल का कितना अहित किया है। गुरुकुल के संचालन, उसकी कार्य-प्रणाली तथा उसके अध्ययन-क्रम पर जो आक्षेप किये जाते थे, वे हास्यास्पद तो थे ही, उनके पीछे आक्षेपकर्ताओं की दुर्भावना ही लक्षित होती थी।

यदि गुरुकुल का विरोध आर्यसमाज के बाहर के क्षेत्रों से होता, तो वह समझ में आनेवाली बात थी, किन्तु जब घर के लोग ही स्वयं द्वारा पोषित संस्था की रीति-नीति के प्रति आशंकित होकर उसकी कार्यप्रणाली पर आक्षेप करें तो

१. १९०६ ई० में जालन्धर से प्रकाशित।

उसका समाधान अतीव दुष्कर हो जाता है। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में वर्षों तक मन्त्रीपद का निर्वाह करनेवाले महाशय कृष्ण ने अपने पत्र 'प्रकाश' के माध्यम से गुरुकुल पर हमला करने का निरन्तर प्रयास किया। महात्मा मुंशीराम को गुरुकुल की स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से एक प्रमुख शिकायत इस बात की थी कि शुद्धि, शास्त्रार्थ, धर्मप्रचार आदि कार्यों में व्यस्त रहने के कारण यह सभा गुरुकुल की ओर न तो अपेक्षित ध्यान ही दे पाती थी और न उसके लिए आर्थिक साधन जुटाने के लिए ही पूरा प्रयत्न करती थी। इसपर जब महाशय कृष्ण ने गुरुकुल के संचालन के तौर-तरीके तथा वहाँ के पाठ्यक्रम पर आक्षेप किये, तो महात्मा मुंशीराम का व्यथित हो जाना स्वाभाविक ही था। महाशय जी का विचार था कि गुरुकुल को एक ऐसी वैदिक पाठशाला के रूप में चलाया जाना चाहिए, जहाँ पढ़कर विद्यार्थी वैदिक धर्मप्रचार का व्रत लें। उनकी दृष्टि में गुरुकुल का मूल उद्देश्य आर्यसमाज के लिए पुरोहित, प्रचारक और उपदेशक ही तैयार करना होना चाहिए। महात्मा मुंशीराम तो गुरुकुल को एक विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करना चाहते थे और वे अपनी आकांक्षा के अनुरूप ऐसा कर भी रहे थे। गुरुकुल में पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त कृषि, आयुर्वेद, शिल्प आदि का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया जाता था। महाशय कृष्ण की दृष्टि में लुहारी-तरखानी की यह शिक्षा गुरुकुल के आदर्श के अनुरूप नहीं थी, किन्तु महात्मा जी का दृष्टिकोण भिन्न था। उनकी यह मान्यता थी कि जीविकोपार्जन के लिए गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को नाना प्रकार के शिल्प, कृषि-कर्म तथा चिकित्सा-विज्ञान का प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है। ऐसा करके वे इन छात्रों को स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करने की ही शिक्षा दे रहे हैं, अन्यथा विदेशी सरकार के दफ्तरों में दास-वृत्ति कर जीविकायापन करने की शिक्षा देनेवाले सरकारी स्कूलों और कॉलेजों की संख्या तो पहले से ही बहुत अधिक है। इतना होने पर भी महात्मा मुंशीराम की एकान्त कामना थी कि गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने-वाला ब्रह्मचारी स्नातक बनकर देश, धर्म और समाज की निष्ठापूर्वक सेवा अवश्य करे। गुरुकुल के इन आलोचकों की निरर्थक बातों से महात्मा मुंशीराम कभी हतोत्साहित नहीं हुए, किन्तु पक्षपातग्रस्त आलोचना से वे दुःख और ग्लानि का अनुभव तो करते ही थे।

अपनों के आक्षेपों का उत्तर देना तो सरल होता है, किन्तु यदि परायों की नजर फिर जाय, तो उसका समाधान करना अधिक कष्टदायक हो जाता है। गुरु-कुल की उन्नति और प्रगति को देखकर विदेशी सरकार का आशंकित होना स्वाभाविक ही था। गुरुकुल के उत्सवों और वहाँ की कार्य-प्रणाली की गुप्त रिपोर्ट नियमित रूप से सरकारी अधिकारियों को मिलती। उधर ऐंग्लो-इण्डियन पत्र भी गुरुकुल-शिक्षाप्रणाली को लेकर अनेक प्रकार की अफवाहें फैलाते थे। मुंशीराम

जी का इनसे चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। सरकार समझती थी कि गुरुकुलीय शिक्षा का आदर्श है स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित पाठ्यप्रणाली। सरकार की धारणा थी कि आपाततः निर्दोष प्रतीत होनेवाली इस शिक्षा-पद्धति का चरम प्रयोजन देशभक्तों की एक ऐसी जमात पैदा करना है, जो आगे चलकर विदेशी सरकार के लिए खतरा हो सकती है। गुरुकुल की शिक्षा न तो सरकारी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को स्वीकार करती थी और न वहाँ की पाठ्य-पुस्तकों को ही गुरुकुल में पढ़ाया जाता था। गुरुकुल काँगड़ी सरकार से न तो आर्थिक सहायता की याचना ही करता था और न किसी अन्य बात के लिए ही वह शासन का मुँह जोहता था। स्वावलम्बन और स्वाभिमान की शिक्षा देनेवाले ऐसे गुरुकुल में पढ़कर जो स्नातक बाहर आयेंगे, क्या वे अपनी मातृभूमि की पराधीनता की बेड़ियों को काटने के लिए प्रयत्नशील नहीं होंगे ? यह थी सरकार की आशंका।

इसी प्रकार की आशंकाओं और पूर्वनिर्मित धारणाओं के वशवर्ती होकर जब अंग्रेज अफसरों ने गुरुकुल के क्रियाकलाप पर दृष्टिपात किया, तो उनको अपनी शंकाओं की पुष्टि में बहुत-कुछ अनुकूल प्रमाण भी मिल गये। उदाहरणार्थ, वे सोचने लगे कि गुरुकुल की यज्ञशाला के नीचे बारूद भरा तहखाना है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को शस्त्र-चालन की शिक्षा दी जाती है। वे सोचते, घुड़सवारी का प्रशिक्षण पानेवाले ब्रह्मचारी क्या आगे चलकर अंग्रेजी सरकार के लिए सिर-दर्द साबित नहीं होंगे ? उनकी शंकाओं के कुछ अन्य कारण भी थे। गुरुकुल के उत्सवों में हजारों-लाखों लोग एकत्र होते हैं। इतने विशाल जन-सम्पर्क के एकत्रित होने पर भी वहाँ न कोई दिक्कत होती है और न कठिनाई। इस विशाल आयोजन की व्यवस्था गुरुकुल के स्वयंसेवक स्वतः ही कर लेते। उन्हें पुलिस और मजिस्ट्रेट की सहायता की अपेक्षा नहीं रहती। तो क्या सरकार के प्रति ऐसी निरपेक्ष वृत्ति रखनेवाली संस्था आर्यसमाज का यह गुरुकुल खुद सरकार के लिए ही कहीं खतरा तो नहीं बन जायगा ?

इन और ऐसे ही आरोपों की गिरफ्त में गुरुकुल का आ जाना कालान्तर में उसके लिए हानिप्रद हो सकता था। किन्तु गुरुकुल के कुछ हितैषियों ने ही सरकारी क्षेत्रों में उत्पन्न इन आशंकाओं का निवारण करने का प्रयत्न किया। इनमें दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है। एण्ड्रूज को गुरुकुल और उसके आचार्य मुंशीराम जी का परिचय उसी समय मिल गया था, जब वे दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी से मिले थे, जिन्होंने उनसे अनुरोध किया था कि भारत जाने पर वे गुरुकुल काँगड़ी की यात्रा अवश्य करें और उसके मुख्याधिष्ठाता महात्मा मुंशीराम से भेंट करें। एण्ड्रूज ने अंग्रेज अधिकारियों को विश्वास दिलाया कि वास्तव में गुरुकुल तो एक सर्वथा निर्दोष संस्था है और वहाँ राजद्रोह के पनपने या पनपाये जाने की जो आशंकायें सरकारी क्षेत्रों में व्यक्त

की जाती हैं, वे सर्वथा निर्मूल हैं। इधर मुंशीराम जी ने स्वयं भी अपने स्तर पर कुछ ऐसे ही प्रयत्न किये। संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जान हीवेट से वे देहरादून में मिले और उन्हें गुरुकुल की वास्तविकता बताई। कुछ समय बाद उसी प्रान्त के एक अन्य गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल की यात्रा की।[1] वास्तव में मेस्टन साहब तो एकाधिक बार गुरुकुल में भी आये थे, और वहाँ की गतिविधियों को निकटता से देखा भी था। उन्होंने गुरुकुल-विषयक सभी शंकाओं का पूर्ण निराकरण करते हुए उसकी प्रशंसा में यहाँ तक कह दिया कि एक आदर्श विश्वविद्यालय के लिए मेरा आदर्श तो यह गुरुकुल ही है।

२१ अक्टूबर १९१६ को सर जेम्स मेस्टन जब अन्तिम बार गुरुकुल आये, तो उनके साथ भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड तथा उनकी पत्नी लेडी चैम्सफोर्ड भी थीं। इस यात्रा में गुरुकुल के उपाध्यायों और छात्रों ने उनका भाव-भीना स्वागत किया। उनके अभिनन्दन में संस्कृत में लिखा मानपत्र पढ़ा तथा पकौड़ों के साथ तुलसी की चाय से महामहिम वायसराय और उनकी पत्नी का आतिथ्य किया गया। वास्तव में गुरुकुल के पास छिपाने जैसी तो कोई चीज या रहस्य था ही नहीं, अतः अंग्रेज अधिकारियों की सन्तुष्टि में अधिक समय नहीं लगा। समय-समय पर अनेक विदेशी अतिथि भी गुरुकुल में आये और वहाँ की शिक्षा-प्रणाली को देखकर उल्लसित हुए। इंग्लैण्ड के मजदूर दल के नेता रेम्जे मैकडॉनल्ड ने तो अपनी यात्रा के उपरान्त 'डेली क्रॉनिकल' में गुरुकुल-विषयक जो संस्मरणात्मक लेख लिखा, उससे सरकारी क्षेत्रों में व्याप्त रही-सही भ्रान्तियाँ भी दूर हो गईं।

गुरुकुल काँगड़ी में समय-समय पर देश-विदेश के अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का पदार्पण होता रहता था। गुरुकुल की कार्य-प्रणाली और वहाँ के सौम्य वातावरण को देखकर वे विस्मय-विमुग्ध हो जाते। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कमीशन भी गुरुकुल में आया। डॉक्टर एम० ए० अन्सारी और बैरिस्टर आसिफ अली जैसे राष्ट्रवादी मुसलमानों ने गुरुकुल को देखकर प्रसन्नता प्रकट की। अन्य आगन्तुकों में सर आशुतोष मुखर्जी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, लाला लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, पं० मदनमोहन मालवीय, सेठ जमनालाल बजाज, श्रीमती सरोजिनी नायडू, महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा सर्वोपरि महात्मा गांधी के नाम उल्लेखनीय हैं।

महात्मा गांधी तो गुरुकुल और उसके संस्थापक के नाम और काम से उसी समय परिचित हो गये थे, जब उनका कार्य-क्षेत्र दक्षिण अफ्रीका ही था। वहाँ रहकर जब वे प्रवासी भारतीयों के अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे, उस समय

१. द्रष्टव्य—'The Gurukula through European Eyes' with an Introduction by Mahatma Munshi Ram (II Edition, 1917)

गुरुकुल के छात्रों ने अपने भोजन में घृत और दुग्ध की मात्रा कम करके तथा हरिद्वार के निकट बननेवाले एक बाँध पर मेहनत-मजदूरी कर १५००१ रुपये 'दक्षिणी अफ्रीका सत्याग्रह सहायता कोष' के लिए एकत्र किये और पं० गोपाल-कृष्ण गोखले के द्वारा उसे गांधी जी को भेजा। गोखले को बड़ी हैरानी हुई थी कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी सार्वजनिक लोकहित के कार्यों के लिए कितना त्याग कर रहे हैं।

महात्मा गांधी जब भारत में आये तो उन्होंने महात्मा मुंशीराम से भेंट करना अपना प्राथमिक कर्त्तव्य समझा। उस समय तक गांधी जी भारत के राजनैतिक क्षितिज पर एक अल्प प्रकाशमान नक्षत्र की भाँति उदय ही हुए थे, किन्तु उनकी जनसेवा से प्रभावित होकर भारत की जनता ने उनको हाथों-हाथ उठा लिया और 'कर्मवीर गांधी' के नाम से पुकारा। यही कर्मवीर गांधी जब ८ अप्रैल १९१५ को प्रथम बार गुरुकुल पधारे, तो ब्रह्मचारी और उपाध्याय-समुदाय ने उनका हार्दिक स्वागत किया। इस अवसर पर गुरुकुल की ओर से उन्हें जो अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया उसमें कर्मवीर गांधी को प्रथम बार 'महात्मा गांधी' कहकर सम्बोधित किया गया। वस्तुतः उस समय तक आचार्य मुंशीराम ही देश में सर्वत्र 'महात्मा' के नाम से जाने जाते थे। स्वयं गांधी जी उनसे पत्र-व्यवहार करते समय उन्हें 'महात्मा जी' कहकर ही सम्बोधित करते थे। किन्तु अब जब कि महात्मा मुंशीराम ने मोहनदास गांधी को 'महात्मा' कहकर सम्मान दिया, तो गांधी जी विश्ववन्द्य महात्मा गांधी बन गये। इसके बाद तो महात्मा गांधी का गुरुकुल काँगड़ी में एकाधिक बार आगमन हुआ और वे इस राष्ट्रीय संस्था के भारी प्रशंसक बन गये।

गुरुकुल के लिए महात्मा मुंशीराम का अपूर्व त्याग

सच पूछा जाय तो मुंशीराम जी ने गुरुकुल के लिए अपना सब-कुछ निछावर कर दिया था। यह संस्था तो उनके स्वप्नों का ही दिव्य रूप थी, जिसे उन्होंने स्वयं न जाने कितने अरमानों के साथ सजाया था, सँवारा था। १९०२ में उन्होंने गुरुकुल को अपना निजी पुस्तकालय अर्पित कर दिया। १९०८ में 'सद्धर्म प्रचारक' प्रेस भी गुरुकुल को दे दिया। तब से गुरुकुल का समस्त मुद्रण और प्रकाशन का कार्य इसी प्रेस के द्वारा होता था। १९१२ में जालन्धर-स्थित अपनी विशाल कोठी गुरुकुल को अर्पित कर देने का विचार उनके मन में हुआ। परन्तु ऐसा करने से पहले वे अपने दोनों पुत्रों से स्वीकृति ले लेना चाहते थे। इन्द्र जी ने अपने यशस्वी पिता के संस्मरणों में लिखा है कि वे उस दिन को नहीं भूल सकते जब उन्हें और उनके भाई हरिश्चन्द्र को आचार्य जी के कक्ष में बुलाया गया। पिता ने उन्हें

—११

कहा कि अब उनके पास यदि कोई अचल सम्पत्ति अवशिष्ट रही है, तो वह जालन्धर-स्थित उनकी भव्य कोठी ही है। यही वे अपने पुत्रों के लिए बचा सके हैं। उनकी इच्छा तो इस कोठी को भी गुरुकुल को दान करने की है। किन्तु जब तक वे इसके लिए अपने दोनों पुत्रों की स्वीकृति नहीं ले लेते, तब तक उस भवन को दान करना उन्हें ठीक नहीं लगता। आचार्य जी के इस कथन को सुनकर इन्द्र और हरिश्चन्द्र थोड़ी देर के लिए भाव-विभोर होकर खड़े रहे। तत्पश्चात् उन्होंने उस दानपत्र पर अपने हस्ताक्षर कर दिये और इस प्रकार महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल के लिए अपना सर्वस्व देकर सर्वमेध यज्ञ में अपनी अन्तिम आहुति डाल दी।

गुरुकुल की कार्य-प्रणाली और पाठ्य-पद्धति में गत्यवरोध

गुरुकुल-स्थापना के कुछ वर्षों तक तो यह संस्था सुचारु रूप से चलती रही। यहाँ के अध्यापक और छात्र सभी एकनिष्ठ होकर स्वकर्त्तव्य-पालन में लगे रहे। किन्तु १९०६ में गुरुकुल की कार्य-प्रणाली तथा पाठ्यक्रम में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का समय आया। इस समय तक आचार्य रामदेव अंग्रेजी के प्राध्यापक बनकर गुरुकुल में आ चुके थे। वे चाहते थे कि गुरुकुल को किसी पुरानी संस्कृत पाठशाला के ढर्रे से हटाकर व्यवस्थित विद्यालय के रूप में चलाया जाय। अब तक यहाँ पं० गंगादत्त शास्त्री, पं० भीमसेन शर्मा, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा पं० नरदेव शास्त्री जैसे अपने-अपने विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् अध्यापन-कार्य में रत थे। वे लोग संस्कृत के प्राचीन पण्डितों की परिपाटी पर एक ही स्थान पर आसीन होकर वेद, वेदांग, काव्य, साहित्य आदि नाना विषयों का पठन-पाठन कराने में सक्षम थे। इनमें से अधिकांश को तो अपने विषय पर असामान्य अधिकार था और वे बिना पुस्तक हाथ में लिये अजस्र भाव से शास्त्रों की व्याख्या करने में समर्थ थे। किन्तु गुरुकुल के नए उपाचार्य रामदेव जी चाहते थे कि गुरुकुल विद्यालय का पठन-पाठन कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में प्रचलित ढंग से हो। पृथक्-पृथक् विषयों के लिए पृथक् कालांश (Period) रहें तथा समय-विभागचक्र (Time Table) का अनुसरण करके ही अध्यापन-कार्य किया जाय। ऐसा होने पर कालांशसूचक घण्टे बजने तथा अध्यापक के स्वयं कक्षा में जाकर पढ़ाने की व्यवस्था को क्रियान्वित किया जाना था। अब शास्त्रीय विषयों के ही तुल्य पश्चिमी विज्ञानों तथा अंग्रेजी को भी पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। पुराने पण्डितों का जी तो इन नई व्यवस्थाओं को देखकर गुरुकुल से ही उचाट हो गया। परिणाम यह निकला कि पं० गंगादत्त और अन्य विद्वान् गुरुकुल को छोड़कर चले गये। आचार्य मुंशीराम जी के लिए यह विचित्र धर्म-संकट का समय था। वे न तो यही चाहते थे कि पं० गंगादत्त तथा उनके साथी

पण्डित गुरुकुल छोड़कर जायें। उधर आचार्य रामदेव को गुरुकुल में नवीन प्रकार की कार्य-व्यवस्था से विरत करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। जैसा कि आर्य-समाज का इतिहास हमें बताता है, पं० गंगादत्त, पं० भीमसेन शर्मा, पं० पद्म-सिंह शर्मा तथा पं० नरदेव शास्त्री समीपवर्ती गंगा की नहर के कूल पर स्वामी दर्शनानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में चले गये और इस संस्था के माध्यम से निःशुल्क शिक्षादान के महत् अनुष्ठान में प्रवृत्त हुए। कालान्तर में गुरुकुल काँगड़ी और महाविद्यालय ज्वालापुर में कभी स्वस्थ, तो कभी अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता के अनेक दृश्य देखने में आये, किन्तु उनका विवरण इस ग्रन्थ की परिसीमा में नहीं आता।

महात्मा मुंशीराम का चतुर्थाश्रम-प्रवेश

आर्यों के आश्रम-विधान में परम आस्था रखनेवाले महात्मा मुंशीराम ने १२ अप्रैल १९१७ को गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में अन्तिम दिन लगभग २०००० उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष तुरीयाश्रम में प्रवेश किया। संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का यह समारोह मायापुर वाटिका कनखल में सम्पन्न हुआ। यज्ञ तथा अन्य कर्मों से निवृत्त होकर वे जनता के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने संन्यास की दीक्षा लेते समय किसी अन्य संन्यासी को अपना गुरु नहीं बनाया था और न पूर्वाश्रम के अपने नाम को त्यागकर चतुर्थाश्रम के अभिधान को ग्रहण करने में ही किसी गुरु से मार्गदर्शन लिया था। वे अपने सम्पूर्ण जीवन को ही श्रद्धा की दिव्य भावना से उत्प्रेरित मानते थे, अतः उन्होंने उपस्थित जनता को सम्बोधन कर कहा—"**श्रद्धा से प्रेरित होकर ही आज तक के इस जीवन को मैंने पूरा किया है। श्रद्धा मेरे जीवन की आराध्या देवी है, अब भी श्रद्धाभाव से प्रेरित होकर ही मैं संन्यास-आश्रम में प्रवेश कर रहा हूँ। इसलिए इस यज्ञकुण्ड की अग्नि को साक्षी रखकर मैं अपना नाम 'श्रद्धानन्द' रखता हूँ जिससे मैं अगला सब जीवन भी श्रद्धामय बनाने में सफल हो सकूँ।**" अब उन्होंने पीत वस्त्र को उतारकर काषाय वस्त्र धारण किया। श्मश्रुविहीन, मुण्डित मस्तक स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में मानो धर्म की वेदी पर बलिदान होने के लिए दयानन्द के पश्चात् एक अन्य तेजस्वी महापुरुष का अवतरण हुआ।

संन्यासी बनने के पश्चात् स्वामी जी ने गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य-पद के दायित्व से स्वयं को मुक्त कर लिया। इस गरिमामय पद पर वे निरन्तर १५ वर्ष (१९०२–१९१५) तक रहे थे। गुरुकुल की स्थापना से लेकर उसके एक विशाल राष्ट्रीय शिक्षण-केन्द्र के रूप में विकसित होने तक की सारी गतिविधियाँ उनके ही मार्ग-निर्देशन में सम्पन्न हुई थीं। यह संस्था मानो उनकी औरस सन्तान ही थी। किन्तु जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी पुत्रैषणा को त्याग करके ही चतुर्थाश्रमी

बनता है, उसी प्रकार इस आश्रम में प्रवेश करते समय उसे अपनी लोकैषणा का भी त्याग करना पड़ता है। गुरुकुल का संचालन चाहे महात्मा मुंशीराम ने पूर्ण तटस्थता, निर्लेपता तथा मात्र कर्त्तव्यबुद्धि को ही सामने रखकर किया, किन्तु अब स्वामी बन जाने पर इस संस्था को त्यागना ही उन्हें उचित जान पड़ा। जब घर और परिवार का मोह त्याग दिया, तो संस्था का मोह क्यों रहे ?

अब वे गुरुकुल कुरुक्षेत्र चले गये और वहाँ बैठकर आर्यसमाज के इतिहास-लेखन के कार्य में हाथ लगाया। इस कार्य को पूरा करने के लिए आधारभूत सामग्री जुटाना आवश्यक था। बहुत-कुछ सामग्री तो उनके पास थी ही, किन्तु दो मास तक पंजाब का भ्रमण कर कुछ मसाला उन्होंने और इकट्ठा किया। इसी बीच १६१८ में गढ़वाल के इलाके में भयंकर सूखा पड़ा। अकाल-पीड़ित गढ़वाल की सहायता के लिए स्वामी जी अपने साथियों को लेकर निकल पड़े और तीन मास तक सेवा-कार्य में जुटे रहे। अभी वे गढ़वाल के सहायता-कार्य को पूरा कर पुन: कुरुक्षेत्र आये ही थे कि उनके समक्ष धौलपुर आर्यसमाज का मामला आ गया। धौलपुर राज्य के अधिकारियों ने समाज-मन्दिर पर अधिकार कर लिया था। समाज-मन्दिर में आर्यसमाज के अधिवेशन लगने बन्द हो गये और इस स्थान को राज्य के द्वारा संचालित बैंक के कार्यालय के लिए अधिगृहीत कर लिया गया। यहाँ स्वामी जी को आर्यसमाज-मन्दिर को बचाने के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। अन्तत: सरकार से उनका समझौता हो गया और आर्यसमाज-मन्दिर की मर्यादा सुरक्षित हो सकी। १६१८ के अन्तिम दो महीनों में उन्होंने इन्फलुएन्जा की महामारी से पीड़ित लोगों की सहायता की।

यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल काँगड़ी के दायित्व से मुक्त होकर तथा अपने अवशिष्ट जीवन को देश और समाज की सेवा में अर्पित करने का विचार बनाकर वहाँ से हट चुके थे, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में गुरुकुल की इतनी अधिक अधोगति हुई कि उसकी दशा को सँभालने के लिए एक बार और उनकी पुकार मची। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने उन्हें पुन: गुरुकुल का आचार्य-पद सौंपा और गुरुकुल-विषयक उनकी सभी योजनाओं को भी स्वीकार किया। स्वामी जी चाहते थे कि गुरुकुल का संचालन करने के लिए एक पृथक् समिति का निर्माण किया जाय। उसकी वित्तीय व्यवस्था के लिए भी अलग से समिति बने। वे गुरुकुल में कृषि-संकाय तथा उद्योग-विभाग की भी स्थापना करना चाहते थे।

जुलाई १६२० में उन्होंने गुरुकुल के लिए २० लाख की स्थायी निधि स्थापित करने की अपील की और इस धनराशि को एकत्र करने के लिए समस्त देश तथा निकटवर्ती देश बर्मा तक जाने की योजना बनाई। वे प्रारम्भ में कलकत्ता गये किन्तु अस्वस्थ होने के कारण गुरुकुल लौट आये। २७ अक्टूबर १६२० को उन्होंने कलकत्ता से बर्मा के लिए अंगोरा नामक जहाज में प्रस्थान किया। बर्मा में उनके

अनेक स्थानों पर भाषण हुए और ६० हजार की राशि एकत्रित हुई जो गुरुकुल में आयुर्वेदिक कॉलेज खोलने के लिए पर्याप्त थी। गुरुकुल लौट आने पर उन्होंने अनुभव किया कि महाशय कृष्ण की 'प्रकाश'-पार्टी उन्हीं पुराने मुद्दों को उठाकर गुरुकुल में कार्य करने में उनकी बाधक बन रही है। २२ मार्च १९२१ को पंजाब सभा ने स्वामी जी की गुरुकुल-विषयक योजनाओं को स्वीकृति दे दी, जिसके आधार पर गुरुकुल को एक बहुसंकाय-युक्त विश्वविद्यालय का रूप दिया जाना था। इसमें वेद, सामान्य शिक्षण, आयुर्वेद, कृषि तथा व्यवसाय-शिक्षण के लिए पृथक्-पृथक् संकायों की स्थापना का प्रावधान था।

वर्ष १९२१ के गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में स्वामी जी ने अन्तिम बार भाग लेकर अपनी इस प्रिय संस्था से सदा के लिए विदा ली। देश के सार्वजनिक जीवन में उनकी प्रतिष्ठा दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। इस वर्ष के उत्सव में देश की बड़ी-बड़ी राजनैतिक हस्तियों ने भाग लिया था। लाला लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, विट्ठलभाई पटेल, तथा पं० मदनमोहन मालवीय जैसे वरिष्ठ नेता इस अवसर पर उपस्थित थे। इसी वर्ष के अक्टूबर मास में स्वामी जी ने गुरुकुल से अन्तिम विदा ले ली।

अध्याय ७

ब्रिटिश सरकार की वक्र दृष्टि

भारत में नवजागरण का दौर तो विगत शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। ब्रह्मसमाज की स्थापना के साथ ही भारतीय धर्म तथा समाज में नवचेतना का संचार हुआ। इस देश के विगत गौरव पर गर्व करना तथा पश्चिम के ग्राह्य आदर्शों को निस्संकोच ग्रहण करना भारतीय नवजागरण की प्रमुख विशेषता थी। आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के विचारों में स्वदेश-गौरव को सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त था। उन्होंने इस देश के पुरातन नाम 'आर्यावर्त' का उल्लेख करते हुए इसे ज्ञान, विज्ञान, विद्या, ऐश्वर्य और वैभव की खान बताया था। उनकी दृष्टि में आर्यावर्त ही वह सच्ची पारसमणि थी जिसके स्पर्शमात्र से दरिद्र विदेशीरूपी पत्थर भी वैभव-सम्पन्न बन जाते थे। उन्होंने जहाँ देश की विगत गरिमा का बखान किया, वहाँ उसकी वर्तमान अधोगति पर भी आँसू बहाये। स्वदेशी राज्य को सर्वोपरि उत्तम ठहराते हुए उन्होंने विदेशी राज्य को कदापि स्पृहणीय नहीं माना, चाहे वह मत-मतान्तर के पक्षपात से रहित, माता-पिता के समान सुख-दायक तथा न्याययुक्त ही क्यों न हो।

दयानन्द की इसी राष्ट्रवादी शिक्षा से अनुप्राणित होकर उनके अनुयायियों ने देशवासियों को स्वदेश के नवनिर्माण में जुट जाने का आह्वान किया। आर्यसमाज यद्यपि मूलतः एक धार्मिक संस्था ही है और उसके समस्त क्रियाकलाप वेद की उदात्त शिक्षाओं तथा पुरातन आर्ष विचारधारा से ही अनुप्राणित होते हैं, किन्तु इन्हीं प्राचीन स्रोतों से उसने देशभक्ति और स्वतंत्रता का भी पाठ पढ़ा है। इसलिए देश के प्रचलित राजनैतिक आन्दोलन से पूर्ण तटस्थ रहते हुए भी वह भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में अपना नैतिक और व्यावहारिक योगदान सदा से देता रहा है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक की राष्ट्रवादी भावनाओं से ही अनुप्राणित होकर श्याम-जी कृष्ण वर्मा तथा लाला लाजपतराय जैसे स्वाधीनता-सेनानियों ने मातृभूमि को विदेशी शासन की जंजीरों से मुक्त करने के अथक प्रयास किये थे।

आर्यसमाज के इस राष्ट्रवाद का विदेशी शासकों ने गलत अर्थ लगाया। उन्हें

जान-बूझकर यह समझाया गया कि आर्यसमाज में दीक्षित लोग विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के प्रयास में निरन्तर लगे हुए हैं। आर्यसमाज की स्वदेश-भक्ति तथा स्वभाषा-प्रेम, स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने में उसकी रुचि को अन्य प्रकार से आख्यात किया गया। यह तो सत्य है कि आर्यसमाज की वेदी से स्वदेशी का प्रचार किया जाता था, स्वदेश-भक्ति के गीत गाये जाते थे, आर्य-जाति के गौरवशाली अतीत का श्लाघापूर्ण वर्णन किया जाता था, तथा मातृभूमि को दासता की शृंखलाओं से मुक्त करने के लिए दयानन्द के अनुयायियों को प्रेरित किया जाता था; किन्तु यह भी सत्य है कि देश की सक्रिय राजनीति में पड़ना आर्यसमाज को अभीष्ट नहीं था। एक सार्वभौम धर्म-संस्था होने के नाते किसी देशविशेष की सामयिक राजनीति में उलझना उसके व्यापक जीवन-दर्शन से मेल नहीं खाता था।

तथापि आर्यसमाज के बारे में जो आशंका, भ्रम तथा तनाव का वातावरण इस शताब्दी के प्रथम दशक में बना, उसके कुछ प्रमुख कारण थे। ईसाई प्रचारक जब इस देश में आये, तो उन्हें इस देश की भोली भेड़ों को अपने चरागाह में हाँक ले-जाने का अच्छा अवसर मिला था। पोंगापन्थी हिन्दू और उनके रूढ़िवादी धर्माचार्यों में इतना साहस ही नहीं था कि वे ईसा की इस मुक्ति सेना का डटकर मुकाबिला करते। वस्तुतः जिस पौराणिक हिन्दू धर्म को वे स्वयं अपना चुके थे, उसकी तर्क के आधार पर पुष्टि करना तथा ईसाई प्रचारकों के द्वारा स्वधर्म पर लगाये जानेवाले आक्षेपों का उत्तर देना उनके लिए प्रायः असम्भव ही था। ईसाई प्रचारकों के सम्मुख खड़े होने में असमर्थ पाकर हिन्दू-समाज के अनेक प्रबुद्ध लोगों ने स्वयं ईसाई मत को ही अंगीकार कर लिया था। किन्तु आर्यसमाज के मैदान में आते ही ईसाई मिशनरियों के कार्य को धक्का लगा। अब उनका एक सशक्त प्रति-द्वन्द्वी से सामना था। आर्यसमाज द्वारा फैलाई जागृति से जहाँ ईसाई प्रचारकों का स्वप्न भंग हुआ वहाँ मैकाले की इस भविष्यवाणी पर भी प्रश्नचिह्न लग गया कि यदि उसके द्वारा प्रवर्तित शिक्षा-नीति को सही अर्थों में (In letter and spirit) प्रचलित किया जाता है, तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल में कोई मूर्तिपूजक हिन्दू नहीं रहेगा।

मिशनरियों की इसी पीड़ा ने उन्हें आर्यसमाज का विरोधी बना दिया। "खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। ऐंग्लो-इण्डियन समाज और उसके पत्रों तथा ईसाई मतप्रचारकों ने सरकारी अधिकारियों के यह कहकर कान भरने शुरू किये कि आर्यसमाज राजद्रोही संस्था है, जिसके संस्थापक की शिक्षाओं और कार्यों में विदेशी शासन के प्रति असीम घृणा का भाव लक्षित होता है। अपनी बात की पुष्टि में उन्हें कुछ प्रमाण भी मिल गये। श्याम-जी कृष्ण वर्मा की क्रान्तिकारी गतिविधियाँ, लाला लाजपतराय का राजनैतिक कार्यक्रम तथा इसके परिणामस्वरूप देश से उनका निष्कासन आदि कुछ ऐसी

घटनाएँ थीं; जिन्हें लेकर आर्यसमाज को राजनैतिक षड्यन्त्रकारी संस्था सिद्ध करना कठिन नहीं था। सरदार अजीतसिंह तथा भाई परमानन्द की राजनैतिक प्रवृत्तियों ने भी इस आग को भड़काने में सहयोग दिया, हालाँकि सब जानते हैं कि सरदार अजीतसिंह कभी आर्यसमाजी नहीं रहे और भाई जी का राजनैतिक जीवन स्वत:स्फूर्त था। आर्यसमाज संस्थागत रूप में उसके लिए उत्तरदायी नहीं था।

जब सरकारी अधिकारियों के मन में आर्यसमाज के प्रति इस प्रकार की शंकाएँ और भ्रम के भाव पैदा कर दिये गये, तो आर्यसमाजियों का उत्पीड़न स्वाभाविक ही था। पंजाब की आर्यसमाजों की सभी गतिविधियों पर सरकारी गुप्तचरों की नजरें लगी रहतीं। आर्यसमाज के प्रचारकों और व्याख्यानदाताओं की सच्ची-झूठी रिपोर्टें उच्च अधिकारियों को भेजी जातीं तथा व्याख्यान में कही और लेखों में लिखी उनकी बातों के अनचाहे अर्थ निकाले जाते। वैलेण्टाइन शिरोल नामक एक विदेशी पत्रकार ने तो भारत की सारी राजनैतिक अस्थिरता का दोष आर्यसमाज के सिर मँढ दिया और अनेक प्रकार के स्वयं द्वारा आविष्कृत प्रमाणों के आधार पर उसने यह निष्कर्ष निकाल दिया कि जहाँ-जहाँ आर्यसमाज का जोर है, वहाँ-वहाँ राजद्रोह प्रवल है। पंजाब के अनेक डिप्टी कलेक्टरों की गवर्नर को भेजी गुप्त रिपोर्टों में भी आर्यसमाज को षड्यन्त्रकारी संस्था कहा गया था तथा १९०७ में रावलपिण्डी में भड़के दंगों के लिए समाज के कार्यकर्ताओं को ही दोषी माना गया था।

जब आर्यसमाज ने अपने को इस प्रकार की झूठी आशंकाओं और निराधार आक्षेपों के घेरे में घिरा पाया, तो उसके सामने स्वयं के बचाव की समस्या आई। जो कच्चे लोग थे, वे तो इस आसन्न विपत्ति से इतने अधिक विचलित हो गये कि उन्होंने आर्यसमाज से किनाराकशी करने में ही अपनी खैर समझी। जब सरकारी आदेश आर्यसमाज के अधिकारियों के पास पहुँचा कि वे अपने सदस्यों की सूची जिला अधिकारियों को सौंपें, तो कायर प्रवृत्ति के लोगों ने अपने नाम आर्यसमाज की सदस्यता-पंजिका से पृथक् करवा लिये। यह तो खैर उन व्यक्तियों की बात थी, जो सरकार के समक्ष निर्भीक होकर अपनी भूमिका को स्पष्ट करने में भय का अनुभव करते थे, किन्तु खेद तो उन लोगों पर होता है जो आर्यसमाज के नेता होने का दम भरते थे। ऐसे लोगों ने उस समय जिस कायरता, दब्बूपन तथा दुर्बलता का परिचय दिया, उसे देखते हुए स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनी-लेखक पं० सत्यदेव विद्यालंकार को लिखना पड़ा—"समाज या संस्था पर ऐसा संकट उपस्थित होने पर ही उसके नेता या संचालक की परीक्षा होती है। आर्यसमाज के अधिकांश नेताओं ने इस संकट में वैसी बहादुरी का परिचय नहीं दिया, जैसा देना चाहिए था। व्याख्यानों एवं लेखों में रोमन-राज्य में प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों की संकटापन्न अवस्था के साथ आर्य अपनी इस अवस्था की तुलना करते थे, किन्तु आर्यसमाजियों में उनके-

से त्याग, बलिदान एवं सत्साहस की घटनाएँ ढूँढने पर कठिनाई से कहीं दो-चार ही मिलेंगी, उल्टे दब्बूपन, कमजोरी और कायरता की घटनाएँ यथेष्ट मिलती हैं। ऋषि दयानन्द के इतने स्पष्ट लेखों के बाद भी बार-बार और निरन्तर यह सिद्ध करने की चेष्टा करना कि आर्यसमाज राजनैतिक संस्था नहीं है, उसका राजनीति के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और वह केवल धर्मोपदेशक संस्था है, सबसे बड़ी कमजोरी थी। आर्यसमाज का इससे ऐसा नैतिक पतन हुआ, जिससे वह अब तक भी सँभल न सका। आर्यसमाज का सदा ही विरोध करनेवाले बम्बई के 'वेंकटेश्वर समाचार' तक ने आर्यसमाज को यह सम्मति दी थी कि "आर्यसमाज को इधर-उधर की चोटों ने विचलित नहीं किया था, किन्तु पंजाबी अफसरों के टूट पड़ने पर वह विचलित हुआ है। उसने सफाई के इजहार देने शुरू किये हैं कि आर्यसमाज पोलिटिकल संस्था नहीं है, किन्तु धार्मिक सभा है। आर्यसमाज नाहक में फटफटा रहा है। वह अपने सिद्धान्तों में लगा रहे। उसका पक्ष सत्य है तो उसके लिए घबराने का कोई कारण नहीं। कर नहीं तो डर क्या ?"

आर्यसमाज के इन तथाकथित नेताओं की इस कदर्यता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन्होंने श्यामजी कृष्ण वर्मा तथा लाजपतराय की राजनीति की जिम्मेवारी लेने से तो इन्कार किया ही, उन्होंने इन व्यक्तियों से अपना सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर उन्हें Disown कर दिया। उन्हें यह भय था कि यदि हम श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय तथा भाई परमानन्द आदि के समर्थन में कुछ कहेंगे तो इससे आर्यसमाज पर विपत्तियों का पहाड़ ही टूट पड़ेगा। किन्तु हमारा विचार है कि उस समय के आर्यसमाजी नेता यदि थोड़ी-सी समझ-बूझ, दूरदर्शिता तथा नीतिमत्ता से काम लेते, तो न तो उन्हें अधिकारियों के समक्ष इस प्रकार गिड़गिड़ाने की ही आवश्यकता पड़ती और न अपनी सफाई देने की ही। वे स्वाभिमान से सिर उठाकर भी अपनी बात कह सकते थे।

वस्तुत: ऐसी विपत्ति के समय जिस महापुरुष ने आर्यसमाज की लाज बचाई तथा ऋषि दयानन्द के प्रोज्ज्वल राष्ट्रवाद का मस्तक झुकने नहीं दिया, वह महात्मा मुंशीराम ही था। मुंशीराम जी ने इस संकटकालीन स्थिति में जो नीति अपनाई, वह पूर्ण सन्तुलित थी। उससे आर्यसमाज पर छाये विपत्ति के बादल छँट गये। मुंशीराम जी की इस नीति के दो पहलू थे। प्रथम तो उन्होंने अत्यन्त सशक्त भाषा में आर्यसमाज पर लगाये जानेवाले उन आरोपों का निराकरण किया, जो ईसाई प्रचारकों के बहकावे में आकर ऐंग्लो-इण्डियन अखबारों तथा सरकारी जासूसों द्वारा लगाये जाते थे एवं पुलिस की गुप्त रिपोर्टों में जिनका उल्लेख किया जाता था। उन्होंने दृढ़तापूर्वक आर्यसमाज को राजनैतिक या षड्यन्त्रकारी जमात मानने से इन्कार किया। उन्होंने इतिहास से अनुमोदित इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि मुसलमानी शासनकाल की अराजकता, अव्यवस्था, असुरक्षा तथा

धार्मिक उत्पीड़न की तुलना में ब्रिटिश शासन की कुछ नेमतें काबिले-तारीफ हैं। अपनी इस बात की पुष्टि में उन्होंने अपने आचार्य ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों और वक्तव्यों के कुछ अंश भी प्रस्तुत किये। उनका यह भी कथन था कि एक सार्वभौम धर्म (Universal Church) होने के कारण किसी देशविशेष की राजनीति में एक संस्था के रूप में आर्यसमाज कभी दिलचस्पी नहीं ले सकता। अतः आर्यसमाज का संस्थागत उत्पीड़न तथा उसपर राजविद्रोही होने का आरोप लगाना उन्हें अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ। इसके साथ ही वे यह भी अनुभव करते थे कि अपने पराधीन देश को स्वाधीनता दिलाने के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक देश-भक्त का पावन कर्त्तव्य होता है। इस कार्य को राजद्रोह की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

इस प्रकार आर्यसमाज के एतद्विषयक दृष्टिकोण को सुस्पष्ट कर महात्मा मुंशीराम ने अपने सहधर्मियों को प्रेरणा दी कि यदि धर्म-पालन के मार्ग में उन्हें नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ें, उन्हें तिरस्कृत, पीड़ित तथा दण्डित भी किया जावे, तो इन अत्याचारों को उन्हें हँसते-हँसते सहना होगा। आर्यसमाज पर मँडरानेवाली आशंकाओं की इन भयावनी घटाओं को छिन्न-भिन्न करने में उनके वे लेख, जो समय-समय पर 'सद्धर्म-प्रचारक' में छपे तथा उनके वे व्याख्यान जो उन्होंने आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सवों पर दिये, बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। इसी प्रकार लाहौर से प्रकाशित होनेवाले 'सिविल एण्ड मिलिटरी गजट' में छपे एक लेख के प्रतिवाद में उन्होंने उसी पत्र में सम्पादक के नाम अपने पत्र प्रकाशित कराये और आर्यसमाज पर लगाये गये झूठे आक्षेपों का प्रत्याख्यान किया।

केवल वाणी और लेख के द्वारा ही उन्होंने आर्यसमाज को निर्दोष और निरपराध सिद्ध किया हो, सो बात नहीं। उन्होंने १९०९ में पटियाला के प्रमुख आर्यसमाजियों पर चलाये गये राजद्रोह और षड्यन्त्रात्मक प्रवृत्तियों के सूत्रधार होने के आरोपों के आधार पर दायर किये गये अभियोग में भी अपनी निर्णायक भूमिका अदा की। इन बेकुसूर आर्यों को निरंकुश रियासती नौकरशाही का शिकार होना पड़ा था। एक अंग्रेज अफसर वारबर्टन के कहने में आकर पटियाला के महाराजा ने आर्यसमाज पटियाला के प्रधान राय ज्वालाप्रसाद तथा अन्य आर्यों पर जब फौजदारी कानून की धारा सं० १२४, १५३-ए तथा १२१-ए के अन्तर्गत मुकद्दमा चलाया, तो इन बेकुसूर किन्तु स्वधर्म के प्रति निष्ठावाले लोगों को राजकोप से बचाने के लिए महात्मा मुंशीराम ही आगे आये थे। जैसा कि इस मुकद्दमे के विवरण को पढ़ने से हमें ज्ञात होता है, सरकार की ओर से लाहौर के प्रसिद्ध अंग्रेज बैरिस्टर मि० ग्रे ने आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने के लिए पूरा जोर लगाया, किन्तु आर्यसमाज के पक्ष के वकीलों ने उनकी सभी युक्तियों का अत्यन्त तर्कपूर्ण समाधान किया। जब सरकार का पक्ष आर्यसमाजियों को दोषी सिद्ध करने में पूर्ण असमर्थ रहा, तो उसने अपनी लाज बचाने के लिए

मुकद्दमे के नाटक का तो पटाक्षेप किया, किन्तु उन अपराधी समझे जानेवाले आर्यसमाजियों को रियासत से निकलने का भी दण्डात्मक आदेश दे दिया।

इस मुकद्दमे में आर्यसमाज के पक्ष की पैरवी के लिए मुंशीराम जी ने जो प्रयत्न किये, उनका पूरा विवरण तो हमें उनके तथा आचार्य रामदेव के संयुक्त लेखन में लिखित पुस्तक 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स : ए विण्डिकेशन' में पढ़ने के लिए मिलता है, किन्तु यहाँ इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि उन्होंने इसके लिए लाहौर के अच्छे-से-अच्छे वकीलों की सेवाएँ लेने की चेष्टा की। अन्ततः श्री रोशनलाल तथा दीवान बद्रीदास जैसे आर्यसमाजी वकीलों के सहयोग से वे इस मुकद्दमे के चक्र से पटियाला के आर्यों को बचा पाये।

सरकार के दिल में जमी अविश्वास तथा सन्देह की भावना को निर्मूल करने के लिए मुंशीराम जी ने कुछ ऐसे लोगों से भी सहयोग लिया जो आर्यसमाजी तो नहीं थे किन्तु उनके प्रशंसक और मित्र अवश्य थे। इनमें सी० एफ० एण्ड्रूज तथा कांग्रेस के नेता श्री गोपालकृष्ण गोखले के नाम उल्लेखनीय हैं। गोखले ने तो उन्हें कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री विलियम वेडरबर्न से मिलाया, जिन्होंने अत्यन्त धैर्यपूर्वक आर्यसमाज के पक्ष को सुनकर वायसराय से चर्चा करने का उन्हें वचन भी दिया। अन्ततः आर्यसमाज पर मँडरानेवाली विपत्ति की ये घटाएँ भी छँट गईं। जैसा कि हम विगत अध्याय में लिख चुके हैं, संयुक्तप्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन और बाद में भारत के वायसराय लॉर्ड चैम्सफोर्ड की गुरुकुल-यात्राओं से आर्यसमाज की वास्तविकता की जानकारी अंग्रेज अधिकारियों को प्राप्त हो गई। यदि उस समय महात्मा मुंशीराम द्वारा यह दूरदर्शिता नहीं दिखाई जाती, तो इस बात की पूरी सम्भावना थी कि विदेशी शासक या तो आर्यसमाज को कुचल डालने में सफल हो जाते या उनके अत्याचार, उत्पीड़न और संत्रास को सहने में असमर्थ होकर आर्यसमाजियों का धैर्य ही समाप्त हो जाता।

अध्याय ८

सार्वजनिक जीवन के विविध आयाम

यह तो इतिहास का एक तथ्य बन चुका है कि गुरुकुल की स्थापना करके स्वामी श्रद्धानन्द ने भारतीय शिक्षा-प्रणाली को एक नवीन दिशा दी। इसके साथ ही उनका जीवन अधिकाधिक लोकहित के कार्यों में लगने लगा। मुख्यत: वे आर्य-समाज के लिए ही समर्पित थे, किन्तु यदा-कदा अन्यान्य सामाजिक और सार्व-जनिक प्रवृत्तियों में भी उन्हें भाग लेना पड़ता था। सर्वप्रथम हम उनकी आर्यसमाज-विषयक प्रवृत्तियों को ही लें। १६०२ में जब दिल्ली में शाही दरबार का आयोजन हुआ तो उस अवसर पर आर्यसमाज की ओर से धर्म-प्रचारार्थ विशेष व्यवस्था की गई। यद्यपि महात्मा जी उन दिनों गुरुकुल की प्रारम्भिक व्यवस्थाओं में अत्यन्त व्यस्त थे, किन्तु आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का तार मिलते ही वे दिल्ली के लिए चल पड़े और धर्मप्रचार-शिविर के कार्य में पूरा सहयोग दिया। दरबार के अवसर पर उपस्थित अनेक देशी नरेशों से उनकी धार्मिक चर्चा हुई और उपस्थित लोगों तक आर्यधर्म का सन्देश पहुँचाया गया।

१६०७ में जब सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो उस अवसर पर आर्य-प्रतिनिधि सभा बम्बई की ओर से धर्मप्रचार की व्यवस्था हुई। महात्मा जी वहाँ भी पहुँचे और गुजरात के इस प्रसिद्ध नगर में धार्मिक हलचल मचाई। १६०६ में प्रयाग में स्वदेशी-प्रदर्शनी का भव्य आयोजन किया गया। इस अवसर पर संयुक्त-प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के निमन्त्रण को पाकर वे वहाँ पहुँचे और प्रचार-कार्य में अपना सहयोग दिया। हरिद्वार में कुम्भ और अर्धकुम्भ के अवसर पर धर्मप्रचार की धूम रहती थी। अब तो महात्मा जी हरिद्वार के निकट काँगड़ी में ही रहने लगे थे, अत: इन धार्मिक मेलों के अवसर पर प्रचार-व्यवस्था को सफल बनाने में उनका पूरा हाथ रहता था। गुरुकुल काँगड़ी के उत्सव भी आर्यसमाज के लिए कुम्भ से कम महत्त्व के नहीं होते थे। इस अवसर पर सहस्रों नर-नारी सुदूर-वर्ती प्रान्तों से गुरुकुल-परिसर में आते। उस समय के यज्ञ, प्रवचन, व्याख्यान, सभा, सम्मेलन तथा ब्रह्मचारियों के नाना प्रकार के कार्यक्रमों को देखकर लोगों

को स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति होती थी। आगन्तुक जनता खुले दिल से गुरुकुल को दान देती और महात्मा जी के लोकोत्तर सेवा-कार्य के प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित करती।

यों तो महात्मा मुंशीराम का आर्यसामाजिक जीवन जालन्धर नगर से ही आरम्भ हुआ था, किन्तु उनके कार्य-क्षेत्र का निरन्तर विस्तार होता गया। १८९२ में पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हो जाने पर वे समस्त पंचनद प्रान्त के निर्विवाद आर्य नेता घोषित किये गये। यद्यपि इससे पहले भी वे पंजाब तथा समीपवर्ती प्रदेशों में प्रचार-यात्राएँ करते थे। आर्यसमाज का क्षेत्र भी निरन्तर विस्तृत हो रहा था। उत्तर भारत के अनेक प्रान्तों में प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हो चुकी थी और यह अनुभव किया जा रहा था कि आर्यसमाज की समस्त इकाइयों और प्रान्तीय सभाओं को एक अखिल भारतीय संस्था के अधीन संगठित और अनुशासित किया जाना चाहिए। यों तो आर्यसमाज की जब सर्व-प्रथम बम्बई में स्थापना हुई थी और उस समय जो उपनियम बनाये गये थे उनमें एक केन्द्रीय या प्रधान आर्यसमाज का प्रावधान रक्खा गया था[1] किन्तु इस विचार को मूर्तरूप देने का समय अब तक नहीं आया था। सर्वप्रथम २४ जनवरी १८९७ को पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा ने अखिल भारतीय स्तर की आर्य प्रतिनिधि सभा स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया। इसके तुरन्त पश्चात् संयुक्तप्रान्त और राजस्थान की प्रतिनिधि सभाओं ने भी ऐसे ही प्रस्ताव स्वीकृत किये और आर्यसमाज के देशव्यापी संगठन की आवश्यकता पर जोर दिया। महात्मा जी ने भी अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में 'आर्य सार्वदेशिक सभा की आवश्यकता' शीर्षक लेख लिखकर आर्यों की सभी गतिविधियों को एक केन्द्रीय संस्था के द्वारा निर्देशित करने की आवश्यकता बताई। यद्यपि प्रस्तावित सार्वदेशिक सभा की नियमावली को बनाने और उसका संशोधन कर उसे अन्तिम रूप देने में पर्याप्त समय लगा, किन्तु १९०८ तक आते-आते सार्वदेशिक सभा के संगठित होने के आसार स्पष्ट हो गये। अगले वर्ष दिल्ली में इस सभा का प्रथम अधिवेशन हुआ और अजमेर के पं० वंशीधर शर्मा प्रधान चुने गये।

सभा के द्वितीय अधिवेशन में महात्मा मुंशीराम को सार्वदेशिक सभा का प्रधान चुन लिया गया और १९१७ तक वे निरन्तर इस पद पर चुने गये। इसके पश्चात् १९२१ से १९२३ तक वे पुनः दो वर्ष सभा के प्रधान रहे। १९१७ से लेकर अपने बलिदान-पर्यन्त वे इस सभा के प्रतिष्ठित सभासद् रहे।

कहने को तो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा भूमण्डल के आर्यों की प्रतिनिधि

---

१. इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।

सभा थी, किन्तु सच पूछो तो उसका विस्तार हिन्दीभाषी उत्तर भारत और अधिक-से-अधिक गुजरात, महाराष्ट्र तथा वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के तत्कालीन निजाम-शासित क्षेत्र से आगे नहीं था। कन्नड़, तेलुगु, तमिल और मलयालम भाषा-भाषी लोगों में आर्यसमाज को कोई जानता तक नहीं था। ऐसी स्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज के सन्देश को सुदूर दक्षिण तक फैलाने का निश्चय किया। उन्होंने मद्रास प्रान्त में वैदिक धर्मप्रचार के लिए अपने पत्र "श्रद्धा" में ५००० रुपये की अपील की और स्वयं भी दक्षिण-यात्रा का विचार किया। सर्व-प्रथम उन्होंने अपने कुछ स्नातक शिष्यों को हिन्दी भाषा और वैदिक धर्मप्रचार के लिए दक्षिण में जाने का आदेश दिया। उनकी इस योजना के अधीन पं० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और पं० देवेश्वर सिद्धान्तालंकार को उधर भेजा गया। उन्हीं की प्रेरणा से पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति और पं० केशवदेव ज्ञानी भी दक्षिण की प्रचार-यात्राओं के लिए निकले।

अमृतसर-कांग्रेस में स्वागताध्यक्ष के पद से दिये गये अपने अभिभाषण में स्वामी जी ने अछूतोद्धार की जटिल समस्या की ओर देश का ध्यान आकृष्ट किया था। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में अस्पृश्यता तथा दलितवर्ग की समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी थी। अतः दक्षिण के कस्तूरी रंगा अय्यर और सी० विजयराघवाचार्य जैसे नेताओं ने स्वामी जी को दक्षिण में आकर अछूतोद्धार तथा अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन आरम्भ करने की सलाह दी। स्वामी जी की प्रथम दक्षिण-यात्रा १९२४ में हो सकी। प्रथम वे बम्बई पहुँचे और जुहू में महात्मा गांधी से भेंट कर पुणे की ओर प्रस्थान किया। वहाँ महाराष्ट्र प्रान्त की राष्ट्रीय शिक्षण परिषद् के सम्मेलन की अध्यता कर वे बेंगलोर होते हुए मद्रास पहुँचे। वहाँ से केरल प्रान्त का भ्रमण कर दलितवर्ग की समस्या का अध्ययन किया। एक अन्य यात्रा में वे मैंगलोर, कालीकट, मदुरै आदि स्थानों की यात्रा कर मद्रास आये। यहाँ गोखले हॉल में उनका अस्पृश्यता की समस्या पर एक मार्मिक भाषण हुआ। पुनः विजयवाड़ा, गोदावरी होते हुए गुडीवाड़ा पहुँचे जहाँ आपने आन्ध्र-प्रान्तीय दलितोद्धार सम्मेलन की अध्यक्षता की। इस प्रकार दक्षिण के द्रविड़ भाषा-भाषी प्रान्तों में अछूतोद्धार और अस्पृश्यता-निवारण का सन्देश देकर आपने आर्यसमाज के प्रचार के लिए आधार तैयार किया।

१९२५ में उनकी दक्षिण भारत की दूसरी यात्रा हुई। मलाबार प्रान्त में जब मोपला मुसलमानों ने निरपराध हिन्दुओं की अमानुषिक हत्याएँ कीं और उनके अत्याचार बर्बरता की सीमा का अतिक्रमण कर बैठे तो स्वामी जी ने अपने कार्य-कर्ताओं को वहाँ भेजकर पीड़ित हिन्दुओं के पुनर्वास की व्यवस्था की।

सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में ही १९२५ में ऋषि दयानन्द की जन्म-शताब्दी मथुरा में मनाई गई थी। उस विराट् समारोह को सफल बनाने के लिए

व्यापक स्तर पर तैयारियाँ की गई थीं। शताब्दी का उत्सव तो महान् पर्व के ही तुल्य था, जिसमें भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में रहनेवाले आर्य नर-नारी भी प्रचुर संख्या में उपस्थित हुए थे। इस महत् अनुष्ठान की सफलता के लिए समस्त आर्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों को लेकर एक शताब्दी-समिति का गठन किया गया और स्वामी श्रद्धानन्द जी इसके प्रधान निर्वाचित किये गये। यद्यपि शताब्दी-समारोह को सफल बनाने के लिए महात्मा नारायण स्वामी जी ने अथक परिश्रम किया था और वे ही इस महान् यज्ञ के ब्रह्मातुल्य थे, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द भी उत्सव की पूरी अवधि तक मथुरा में रहे तथा सभी कार्यक्रमों को सम्यक्तया पूरे किये जाने में अपना मार्ग-दर्शन दिया। मथुरा-शताब्दी का पूरा वृत्तान्त सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन मन्त्री डा० केशवदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है।

मथुरा की ही भाँति ७ से ११ फरवरी १९२६ तक स्वामी दयानन्द के जन्म-स्थान टंकारा में 'दयानन्द जन्म शताब्दी' का समारोह मनाया गया। स्वामी श्रद्धानन्द इस समारोह में भी पधारे और सौराष्ट्र के देशी नरेशों से भेंट कर उन्हें वैदिक धर्म की सेवा में जुट जाने की प्रेरणा दी। इस अवसर पर स्वामी जी ने गुजरात के क्षत्रियों में धर्मप्रेम की भावना को प्रवर्द्धित करने की दृष्टि से रामायण की स्फूर्तिदायिनी कथा प्रस्तुत की, जो कालान्तर में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।[1]

महात्मा गांधी के भारत के सार्वजनिक क्षितिज पर अवतरित होने के पूर्व महात्मा मुंशीराम की गणना इस देश के सर्वाधिक सम्मानित एवं लोकप्रिय महापुरुषों में होती थी। इस तथ्य का पता लाहौर के पत्र 'प्रकाश' के द्वारा कराई गई उस गणना से चलता है जो उसने अपने पाठकों से १९१२ में कराई थी। इस पत्र ने अपने पाठकों से देश के सर्वश्रेष्ठ ६ महापुरुषों के नाम उनकी लोकप्रियता के क्रम से लिखकर भेजने के लिए कहा था। इसके उत्तर में १००५ प्रविष्टियाँ प्राप्त हुई। इनमें लोकप्रियता के क्रम में गोपालकृष्ण गोखले के बाद महात्मा मुंशीराम को ही उल्लेखित किया गया था।

परोपकारिणी सभा और महात्मा मुंशीराम

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा ने अपने २७ नवम्बर १९०६ के अधिवेशन में महात्मा मुंशीराम को सभासद् निर्वाचित किया। वे आजीवन इस सभा के सदस्य रहे। परोपकारिणी सभा का कार्य प्रायः स्वामी जी के ग्रन्थों के मुद्रण तथा प्रकाशन तक ही सीमित रहा है। इधर महात्मा मुंशीराम का जीवन अधिक सक्रिय तथा लोकोपयोगी प्रवृत्तियों के लिए समर्पित रहा, अतः

---

१. यह रामायण-कथा प्रस्तुत ग्रन्थावली में छप चुकी है।

उन्हें परोपकारिणी सभा की अपेक्षाकृत निष्क्रियता पर दुःख होता था। १६१७ में जब इस सभा ने सत्यार्थप्रकाश के संशोधन के लिए एक उपसमिति बनाई तो स्वामी जी को भी इसके सदस्यरूप में रखा गया। १६१८ में इसी उपसमिति के पुनर्गठित किये जाने पर भी वे उसके सदस्य रहे, किन्तु स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के मूल हस्तलेखों के अजमेर में रहने तथा संशोधन-समिति के सदस्यों के अजमेर से दूरस्थ स्थानों पर रहने के कारण इस कार्य में अधिक सफलता नहीं मिली। १६२५ ई० में जब स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर दयानन्द-ग्रन्थावली के दो खण्डों के अन्तर्गत स्वामी जी के सभी ग्रन्थों को प्रकाशित किया गया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने इस ग्रन्थमाला के प्रारम्भ में ऋषि दयानन्द का संक्षिप्त जीवनचरित लिखा। १६०७ के इस सभा के अधिवेशन में यह निश्चय हुआ कि आर्यसमाज को स्थापित हुए तीस वर्ष से अधिक हो गये हैं और उसका कार्यक्षेत्र भी अत्यन्त विस्तृत हो गया है, अतः शीघ्र ही आर्यसमाज के इतिहास-लेखन का कार्य सम्पादित करवा लिया जाय। इतिहास-लेखन का काम भी मुंशीराम जी के सुपुर्द किया गया और इसके लिए १५०० रुपये व्यय हेतु स्वीकार किये गये। जैसा कि हम देख चुके हैं स्वामी श्रद्धानन्द ने प्रथम बार काँगड़ी गुरुकुल के आचार्य-पद से मुक्त होकर गुरुकुल कुरुक्षेत्र के शान्त एकान्त वातावरण में आर्यसमाज के इतिहास-लेखन का कार्य आरम्भ किया ही था, किन्तु गढ़वाल के दुर्भिक्ष तथा धौलपुर आर्यसमाज की सुरक्षा हेतु किये गये सत्याग्रह में उलझ जाने के कारण वे इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा कर नहीं सके। परन्तु अपनी प्रिय संस्था का इति-वृत्त लिखने का यह दायित्व वे अपने सुयोग्य पुत्र पं० इन्द्र के सुपुर्द कर गये।[1] स्वामी श्रद्धानन्द परोपकारिणी सभा के आठ अधिवेशनों में सम्मिलित हुए थे।

आर्य कुमार सम्मेलन

आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के लिए न्यूनतम आयु १८ वर्ष निर्धारित है। कालान्तर में बालकों और किशोरों में वैदिक धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करने तथा उनमें आस्तिकता एवं धार्मिक प्रवृत्ति को जागृत करने के लिए आर्य कुमार सभाएँ स्थापित करने की योजना बनाई गई और इन कुमार-सभाओं को भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् के केन्द्रीय संगठन के साथ जोड़ा गया। आर्य कुमार सम्मेलन के सदस्य और कार्यकर्त्ता तो किशोर तथा युवा ही होते थे किन्तु वे आर्यसमाज के अनुभवी और प्रौढ़ नेताओं से समय-समय पर मार्गदर्शन भी लेते थे। कुमार-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष सम्पन्न होते और इनकी अध्यक्षता के

१. पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने दो खण्डों में 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखा है जो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

लिए किसी बड़े आर्य नेता को आमन्त्रित किया जाता। १९१३ का आर्य कुमार सम्मेलन का अधिवेशन दिल्ली में हुआ और उसकी अध्यक्षता का भार स्वामी श्रद्धानन्द को सौंपा गया। यह इस परिषद् का चौथा वार्षिक सम्मेलन था। यद्यपि उस समय तक स्वामी जी वार्धक्य की सीढ़ी पर चढ़ चुके थे, किन्तु उनका उत्साह, धर्म-प्रेम और सेवा-भाव किसी युवक से कम नहीं था। इसलिए अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी जी ने युवजनोचित उत्साह प्रदर्शित करते हुए कहा—"यद्यपि मेरे बाल सफेद हो गये हैं, किन्तु आर्यसमाज के नवयुवकों के साथ रहते समय मैं भी अपने भीतर उन जैसा ही साहस, बल तथा धर्म के प्रति जोश अनुभव करता हूँ।" स्वामी जी के इस भाषण से आर्य कुमारों को असीम प्रेरणा मिली। कालान्तर में लाला लाजपतराय, पं० केशवदेव शास्त्री, डॉ० युद्धवीरसिंह तथा श्री चाँदकरण शारदा जैसे नेताओं ने भी स्वामी जी का ही अनुकरण करते हुए आर्य कुमार सम्मेलन को अपना योगदान दिया।

हिन्दी-भक्त महात्मा मुंशीराम

स्वामी दयानन्द का स्वभाषा-प्रेम आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में ही लक्षित होने लगा था। पंजाब जैसे उर्दूप्रधान प्रान्त में हिन्दी के प्रचार का श्रेय आर्यसमाज को ही है। यह तो सत्य है कि आर्यसमाज के उस युग के नेता और कार्यकर्त्ता अपने दैनन्दिन व्यवहार में उर्दू का ही प्रयोग करते थे, किन्तु वे यह भी अनुभव करते थे कि हमारे देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी और धार्मिक भाषा संस्कृत का प्रचार-प्रसार सर्वथा अपेक्षित और आवश्यक है। स्वामी श्रद्धानन्द की हिन्दी-सेवा को उस समय राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित किया गया जब वे हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के चतुर्थ भागलपुर सम्मेलन के अध्यक्ष मनोनीत किए गये। यद्यपि अब तक उनका मुख्य कार्यक्षेत्र आर्यसमाज ही था, किन्तु सम्मेलन के अधिकारी यह अनुभव करते थे कि आर्यसमाज तथा उसके सर्वमान्य नेता महात्मा मुंशीराम ने पंजाब जैसे अहिन्दी प्रान्त में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए जो कार्य किया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

महात्मा मुंशीराम ने अपना साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्मप्रचारक' प्रारम्भ में उर्दू में ही निकाला था, किन्तु जब उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को उसका समुचित स्थान दिलाने के लिए सभी स्तरों पर हिन्दी के प्रचार और प्रयोग की आवश्यकता है तो उन्होंने 'सद्धर्मप्रचारक' को बिना विलम्ब किये हिन्दी में निकालना आरम्भ किया। यों तो वे उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में समान अधिकार के साथ लिखते थे, किन्तु उनकी अधिकांश रचनाएँ हिन्दी में ही हैं। गुरुकुल काँगड़ी की शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाकर मानो

—११

उन्होंने संकेत दे दिया था कि जब तक प्राथमिक और उच्च कक्षाओं की पढ़ाई के लिए स्वभाषा को प्रयुक्त नहीं किया जायगा, तबतक छात्रों को तत्-तत् विषय का ज्ञान सुगम रीति से नहीं हो सकता। उन्होंने गुरुकुल के सुयोग्य उपाध्यायों को विज्ञान जैसे विषय की उच्चकोटि की पाठ्य पुस्तकें हिन्दी में लिखने की प्रेरणा दी और उन ग्रन्थों को गुरुकुल से प्रकाशित भी किया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से जो अभिभाषण उन्होंने दिया,[1] वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। इसी भाषण में उन्होंने हिन्दी को मातृभाषा कहकर गौरवान्वित किया, क्योंकि वे अनुभव करते थे कि भारत को मातृभूमि माननेवाले सभी भारतवासियों को हिन्दी को अपनी मातृभाषा के तुल्य सम्मान देना चाहिए। १९१९ में अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष-पद से उनका जो भाषण हुआ, वह भी हिन्दी में ही था। वस्तुतः राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार और प्रसार हेतु की गई स्वामी श्रद्धानन्द की सेवाएँ सदा स्मरणीय रहेंगी।

---

१. 'मातृभाषा का उद्धार' शीर्षक यह अभिभाषण 'श्रद्धानन्द ग्रन्थावली' में छप चुका है।

अध्याय ६

स्वाधीनता आन्दोलन के सेनानी

स्वामी श्रद्धानन्द मूलतः धार्मिक वृत्ति के पुरुष थे। देश की स्थितियों ने ही उन्हें राजनीति में प्रविष्ट होने के लिए बाध्य किया था। उनकी पारिवारिक पृष्ठभूमि पर यदि विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि उनके पिता लाला नानकचन्द ने १८५७ के युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करके ही पुलिस में इन्स्पेक्टर का पद पाया था। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुंशीराम में स्वाभिमान की मात्रा कम थी और वे हर हालत में अंग्रेजों के प्रशंसक ही बने रहे। जब उन्हें बरेली के कमिश्नर की कृपा से नायब तहसीलदारी की नौकरी मिली तो वे उस पद पर अधिक दिनों तक टिक नहीं सके। फौज के कर्नल के दुर्व्यवहार ने उन्हें अनुभव करा दिया कि अंग्रेजी सरकार की नौकरी करके आत्म-गौरव की रक्षा करना कठिन होगा। इसलिए उन्होंने दासता की प्रतीक नायब तहसीलदारी से त्यागपत्र देना ही उचित समझा।

किन्तु जब वे आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में लगे और उन्होंने अनुभव किया कि यदि धार्मिक प्रचार के कार्य को आगे बढ़ाना है, तो बैठे-ठाले सरकार से दुश्मनी मोल लेना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होगी। वे अंग्रेजी सरकार की इस नीति के प्रशंसक भी थे कि कम-से-कम इस शासन में हमें अपने धर्मप्रचार की तो पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है, अन्यथा इस्लामी राज्य में तो हिन्दुओं द्वारा स्वधर्म का प्रचार करना तो दूर, अपने धर्म, धर्म-स्थानों तथा धर्म-ग्रन्थों की रक्षा करना भी कठिन हो गया था। स्वामी दयानन्द की ही भाँति उनकी भी यह मान्यता थी कि जबतक चारित्रिक दृष्टि से भारतवासी उन्नत नहीं होंगे और अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर नहीं कर लेंगे, तबतक वे स्वराज्य के अधिकारी नहीं हो सकते; और यदि काकतालीय न्याय से उन्हें स्वराज्य मिल भी गया, तो उसकी सुरक्षा करना ऐसे लोगों के वश की बात नहीं होगी। जैसा कि उन्होंने १९०७ में एक प्रसंग में लिखा भी था—"ऐसे गिरे हुए लफंगे यदि स्वराज्य प्राप्त कर भी लें तो विचारणीय यह है कि स्वराज्य कहीं रसातल में ले

ही आरम्भ हो गया था और उन्होंने गत शताब्दी के अन्तिम दशक में पंजाब में कांग्रेस की जड़ें जमाने के लिए बहुत-कुछ किया भी था, किन्तु लगभग चौथाई शताब्दी तक आर्यसमाज के ही कार्य में आपादमस्तक व्यस्त रहने के कारण वे राजनीति के लिए प्रचुर समय नहीं निकाल सके थे। यों उन्होंने भारत की राजनीति के भीष्मपितामह दादाभाई नौरोजी को निकट से देखा था, लोकमान्य तिलक से विचार-विमर्श करने का भी उन्हें अवसर मिला था तथा गोखले तो उनके बन्धु-तुल्य थे, जिनसे वे अपने मन की बात तथा हृदय की व्यथा-कथा कहने में कभी संकोच नहीं करते थे। लाला लाजपतराय तो आर्यसमाज के क्षेत्र में उन्हीं के हमसफर, हमजोली तथा संगी-साथी के तुल्य थे और गढ़वाल के अकाल के समय किये गये सेवा-कार्य में महामना मालवीय जी के सम्पर्क में आने का भी उन्हें अवसर मिला था। जहाँ तक उच्च अंग्रेज अधिकारियों का सम्बन्ध है, उत्तरप्रदेश के गवर्नर जॉन हीवेट और जेम्स मेस्टन तथा भारत के वायसराय लॉर्ड चैम्सफोर्ड के समक्ष आर्यसमाज और गुरुकुल को लेकर फैलाए गये भ्रमों का निवारण करने का प्रयास वे स्वयं सफलतापूर्वक कर चुके थे। सर जेम्स मेस्टन का तो उनपर इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने १९१६ में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर मुंशीराम जी को ही कहा था कि वे मि० कर्टिस को महात्मा गांधी से मिला दें ताकि भारत के भावी शासन-सुधारों को लेकर दोनों पक्ष आपस में समझबूझ का वातावरण बना सकें।

लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय के प्रशंसक होने पर भी मुंशीराम जी ने गरमदली राजनीति की भी प्रशंसा नहीं की, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे नरमदली नेताओं के प्रशंसक थे। अवसर आने पर वे उन्हें भिक्षार्थी कहने से भी नहीं चूके, क्योंकि वे जानते थे कि मेमोरेण्डम भेजनेवालों तथा डेपुटेशनों के द्वारा अपनी माँगों को पेश करनेवालों के द्वारा स्वराज्य कैसे प्राप्त किया जा सकेगा।

जब स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल से प्रथम बार मुक्ति पाई और वे दिल्ली में रहने लगे तो उन्हें प्रचलित राजनीति में कूद पड़ने का अवसर मिला। इस समय तक महात्मा गांधी भारत के राजनैतिक गगन में एक ज्योतिष्मान् नक्षत्र की भाँति उदय हो चुके थे और साध्य की ही भाँति साधनों की पवित्रता का उनका उद्घोष देश में सर्वत्र सराहा जा रहा था। मूलतः धार्मिक प्रकृति के होने के कारण श्रद्धानन्द जी भी यही चाहते थे कि राजनीति को दूषित होने से तभी बचाया जा सकेगा, जबकि उसे धर्म के मूलभूत तत्त्वों के आधार पर संचालित किया जाय। राजनीति के युद्ध में सत्य, अहिंसा, सदाचार और नैतिकता जैसे अस्त्रों को लेकर ही शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है—गांधी जी की ही भाँति श्रद्धानन्द जी का भी इसमें पक्का विश्वास था। फलतः गांधी-प्रेरित सत्याग्रह-संग्राम में कूद

पड़ने में उन्हें न तो कोई कठिनाई ही हुई और न कोई संकोच।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी राजनैतिक गतिविधियों, कांग्रेस से अपने सम्बन्धों तथा स्वाधीनता-युद्ध में अपनी शिरकत को एक निबन्धमाला में विस्तार से लिखा है, जो उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'दि लिबरेटर' नामक पत्र में धारावाही प्रकाशित हुई थी।[1] घटना उन दिनों की है जब ब्रिटिश शासन द्वारा रॉलेट एक्ट भारत-वासियों पर लादा जा रहा था। विधायिका सभा में प्राय: सभी भारतीय सदस्यों ने इस काले कानून का विरोध किया। माननीय श्रीनिवास शास्त्री ने इसके विरोध में जोरदार भाषण भी दिया किन्तु उन्होंने वाकआउट (Walkout) नहीं किया। जब महात्मा गांधी ने रॉलेट एक्ट के विरोध में देशवासियों को सत्याग्रह करने की प्रेरणा दी, तो नरमदली श्रीनिवास शास्त्री ने उनका विरोध करने का निश्चय किया। इसपर स्वामी श्रद्धानन्द ने तुरन्त कहा—यदि आप विरोध करें तो बेशक करें, किन्तु मैं तो सत्याग्रह की प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करने का अपना मन बना चुका हूँ। इसी घटना को स्वामी जी के देश के स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ने का आरम्भ मानना चाहिए। उन्होंने अपने निश्चय से महात्मा गांधी को तार देकर अवगत कराया और उसमें लिखा कि "इस धर्मयुद्ध में सम्मिलित होकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" गांधी जी के दिल्ली-आगमन पर इन दोनों महापुरुषों की परस्पर विस्तार से बातचीत भी हुई।

७ मार्च, १९१९ को दिल्ली में आयोजित सत्याग्रह-सम्बन्धी प्रथम सार्वजनिक सभा में स्वामी श्रद्धानन्द का पहला राजनैतिक भाषण हुआ। लगभग १८ हजार की उपस्थिति में उन्होंने सत्याग्रह के पीछे छिपी नैतिक शक्ति की व्याख्या की। इसके पश्चात् वे बम्बई प्रान्त की यात्रा पर निकल पड़े। बड़ौदा, बम्बई, सूरत, भड़ौच, अहमदाबाद आदि स्थानों पर आपने जनता को सम्बोधित किया और सत्याग्रह का सन्देश दिया। तत्कालीन वायसराय लॉर्ड चैम्सफोर्ड जो स्वयं किसी समय गुरुकुल में जाकर महात्मा मुंशीराम के धार्मिक और शैक्षिक कार्य को देखने के पश्चात् उनके भरपूर प्रशंसक बन गये थे, अब उनकी राजनैतिक सक्रियता को देखकर भारत-मन्त्री मि० माण्टेग्यू को तार देकर सूचित करते हैं—"आन्दोलन तेजी पर है। महात्मा मुंशीराम, जिसने अब स्वामी श्रद्धानन्द नाम रख लिया है, गांधी के साथ इस आन्दोलन में एक हो गया है। वह बहुत पुराना धार्मिक नेता है और समाज-सुधारक के नाते भी उसने बहुत नाम पैदा किया है। अब मालूम होता है कि राजनैतिक आन्दोलन के नाते भी वह नाम पैदा करना चाहता है। कष्ट सहन करने का जब समय आयगा तब मालूम होगा कि उसमें सहन करने की कितनी शक्ति है!" स्वामी श्रद्धानन्द का आगे का राजनैतिक जीवन इस

---

१. श्रद्धानन्द ग्रन्थावली के पंचम खण्ड में यह लेखमाला प्रकाशित हुई है।

जानेवाला तो सिद्ध नहीं होगा ?"

जब इस शताब्दी के प्रथम दशक में आर्यसमाज के कतिपय राष्ट्रभक्तिपूर्ण विचारों और कार्यों के कारण अंग्रेजी सरकार की उसपर वक्रदृष्टि हुई तो स्वामी श्रद्धानन्द को एक अन्य प्रकार की नीति अपनानी पड़ी। उन्होंने अपने वचनों और लेखों से यह दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित किया कि आर्यसमाज का देश की प्रचलित राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है। यदा-कदा उन्होंने आर्यसमाज को एक राजभक्त (Loyal) संस्था के रूप में प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया। परन्तु यह सब करना तत्कालीन परिस्थितियों का ही तकाजा था। स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनी-लेखक पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने एक उदाहरण देकर यह बताने का प्रयास किया है कि आर्यसमाज की राज-भक्ति उस समय तो ब्रिटिश भक्ति का ही रूप ले चुकी थी, जो उस समय की परिस्थिति में चाहे क्षम्य मान ली जाय किन्तु कोई भी स्वदेशाभिमानी व्यक्ति इसके औचित्य पर शंका कर सकता है। लॉर्ड हार्डिंग के दिल्ली-प्रवेश के अवसर पर सार्वदेशिक सभा की ओर से उनके स्वागत का अभूतपूर्व प्रबन्ध किया गया। सभा के कार्यालय के ठीक सामने मैदान से बड़ा शामियाना सजाया गया था, जिसमें २५०-३०० आर्यसमाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियाँ थीं, जिनपर आर्यसमाज के भूषणरूप स्वामी अच्युतानन्द जी, महात्मा मुंशीराम जी, पं० पूर्णानन्द जी, राय रोशनलाल बैरिस्टर, महाशय ब्रजनाथ आदि विराजमान थे। जैसे ही वायसराय का हाथी शामियाने के सामने आया, सबने खड़े होकर शान्तिपाठ पढ़ा और 'नमस्ते भगवन्' के ऊँचे नाद से वायुमण्डल को गुँजा दिया। लेखक के अनुसार इस आयोजन के पीछे मुंशीराम जी का ही दिमाग था।

चाहे कुछ भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि तत्कालीन परिस्थितियों में मुंशीराम को राजभक्ति और सरकार के प्रति निष्ठा प्रदर्शित करने का ही मार्ग अपनाना पड़ा। किन्तु उनके इस आचरण में ईमानदारी ही थी, चापलूसी या खुशामद का कोई भाव नहीं था। पटियाला-अभियोग तथा अन्य प्रसंगों में भी आर्यसमाजियों के पक्ष का समर्थन करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि देश-भक्ति या स्वदेश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करना कोई पाप नहीं है। उन्होंने आर्यसमाज को षड्यन्त्रकारी और राजद्रोही संस्था बतानेवाले नौकरशाहों और उनके चमचों को साफ बता दिया कि यद्यपि प्रत्यक्षतया आर्यसमाज की राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं है, किन्तु यदि हमारे प्रति हुकूमत का यह तानाशाही रवैया जारी रहता है, तो यह भी सम्भव है कि आर्यसमाजी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए खम ठोककर राजनीति के मैदान में आ जायें।

जो कुछ उन्होंने उस समय कहा था, वैसी परिस्थिति बहुत जल्दी आ गई। यों तो कांग्रेस के अधिवेशनों में महात्मा मुंशीराम का आना-जाना बहुत पहले से

बात का साक्षी है कि देशहित के लिए उन्होंने वैयक्तिक कष्टों की कभी चिन्ता नहीं की और भारत की स्वाधीनता के लिए बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देने में कोई संकोच नहीं किया।

रॉलेट एक्ट के विरोध में व्यापक हड़ताल की योजना मार्च १९१९ में बनाई गई। २९ मार्च को एक विराट् सभा हुई जिसमें ३० मार्च को होनेवाली हड़ताल के कार्यक्रम को समझाते हुए स्वामी जी ने दिल्लीवासियों से कहा—"आप में से प्रत्येक आधा घण्टा भगवान् से प्रार्थना करे कि वे शासकों के हृदय बदल दें। अपनी प्रार्थना से हम सात समुद्र पार बैठे हुए सम्राट्, प्रधान-मन्त्री तथा भारत-मन्त्री का दिल भी पिघला दें।"

३० मार्च १९१९ को दिल्ली में घटी घटनाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख स्वाधीनता-संग्राम के इतिहासकारों ने किया है। स्वामी जी ने उस दिन प्रातः स्थिति का अध्ययन किया और दोपहर को वे अपने निवास पर आये ही थे कि उन्हें रेलवे-स्टेशन पर गोली चलने की खबर मिली। वे तुरन्त घटनास्थल पर पहुँचे। उस समय भारी संख्या में जनता उनका अनुसरण कर रही थी। उपस्थिति बढ़ते-बढ़ते पच्चीस हजार तक पहुँच गई। स्वामी जी उस समय स्टेशन के सामने-वाले कम्पनी बाग में जनता को सम्बोधित कर रहे थे। अचानक घण्टाघर की ओर से गोली चलने की आवाज आई और पता लगा कि कुछ लोगों को चोटें आई हैं। आपने उत्तेजित जनता को किसी प्रकार शान्त किया और दिल्ली के मुख्य-आयुक्त से कह दिया कि यदि लोगों को शासन की ओर से उत्तेजित नहीं किया गया तो शान्ति-रक्षा की जिम्मेदारी वे स्वयं लेने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार हजारों के हुजूम को साथ लेकर स्वामी जी स्टेशन से घण्टाघर की ओर लौटे। यहाँ उनके समक्ष गोरखा पलटन के कुछ जवान संगीन ताने खड़े हो गये और दर्प के साथ बोले—"यदि आगे बढ़े तो छेद देंगे!" गुस्ताख सैनिकों का उद्दण्डतापूर्ण कथन भला वीतराग संन्यासी को कब विचलित कर सकता था! स्वामी जी ने एक हाथ उठाकर जनता को शान्त किया और दूसरे से अपनी छाती की ओर संकेत करते हुए कहा—मैं खड़ा हूँ, गोली मारो! कुछ और सैनिक भी आ गये और बन्दूकों की संगीनें स्वामी जी के वक्षस्थल तक पहुँच गईं। किन्तु उसी समय एक अंग्रेज अधिकारी के आ जाने और तुरन्त हस्तक्षेप करने से एक ऐसी घटना घटने से रह गई जिसकी कल्पना भी अत्यन्त भयावह है! घण्टाघर के चौक में संगीनों के आगे अपनी छाती खोलकर स्वामी श्रद्धानन्द ने मानो जता दिया कि मातृभूमि के लिए वे बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी करने के लिए तैयार हैं।

३० मार्च को शहीद हुए मुसलमान नागरिकों के जनाजे का जब मातमी जुलूस निकला तो सारी दिल्ली की जनता उमड़ आई। हिन्दू-मुस्लिम भ्रातृभाव का अनोखा दृश्य दिखाई पड़ा। इन दिनों भारत के इन दोनों प्रमुख धर्मावलम्बियों

के बीच प्रेम और सौहार्द की जो गंगा प्रवाहित हुई, उसने साम्प्रदायिकता के कल्पष को बहा दिया। काश, दोनों जातियों का यह स्नेह-सम्बन्ध कुछ अधिक स्थायी होता तो देश-विभाजन की नौबत ही नहीं आती।

दिल्ली के हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के लोग स्वामी जी को अपना नेता मानते थे। उनके प्रति दोनों मजहबों के लोगों में समान रूप से श्रद्धा और विश्वास का भाव था। ४ अप्रैल १६१६ को दिल्ली के नागरिकों ने एक और दिव्य दृश्य देखा जबकि नगर के अनेक मुसलमान नागरिक स्वामी श्रद्धानन्द को आग्रहपूर्वक शुक्रवार को पढ़ी जानेवाली जामा मस्जिद की नमाज के समय बुलाकर ले गये और उनसे निवेदन किया कि वे वहाँ उपस्थित मुसलमानों को सम्बोधित करें। इस्लाम के इतिहास में वह दृश्य वस्तुतः चिरस्मरणीय था, जब कि काषाय वस्त्रधारी एक आर्य संन्यासी ने उनके उपासनास्थल की सर्वोच्च वेदी पर विराजमान होकर उन्हें प्रेम, एकता, भ्रातृभाव तथा परस्पर सहानुभूति रखने का सन्देश दिया। स्वामी जी का भाषण ऋग्वेद के इस प्रसिद्ध मन्त्र से आरम्भ हुआ, जिसमें परमात्मा को चराचर जगत् का पिता और माता कहकर सम्बोधित किया गया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधाते सुम्नमीमहे॥

इस उद्‌बोधनप्रधान प्रवचन की समाप्ति भी 'ओम् शान्ति शान्ति शान्ति' के साथ हुई और इसके पश्चात् सभी लोग शान्तिपूर्वक अपने-अपने घरों को लौट गये। उन दिनों दिल्ली में रामराज्य का-सा वातावरण था। अपराध प्रायः बन्द हो गये थे। कहीं से भी चोरी, ठगी, धोखाधड़ी और जेबकतरी की कोई सूचना नहीं मिली। जुआखाने बन्द हो गये। शराबघरों पर उल्लू बोलने लगे। वारांगनाओं के मुहल्ले सूने हो गये और स्त्रियों को अपमानित करने की कोई घटना इन दिनों सुनाई नहीं पड़ी।

जब सत्याग्रह के मसले पर स्वामी जी का महात्मा जी से मतभेद हो गया तो उन्होंने सत्याग्रह-समिति से इस्तीफा दे दिया। अब वे दिल्ली की स्थानीय राजनैतिक गतिविधियों से भी पृथक् हो गये। किन्तु, दिल्ली की इन घटनाओं ने उन्हें देशव्यापी ख्याति प्राप्त करा दी थी। अब वे कांग्रेस उच्च कमान के प्रमुख नेता माने जाते थे। १६१६ के जून मास में पं० मोतीलाल नेहरू के आमन्त्रण पर वे इलाहाबाद गये और कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में सम्मिलित हुए। उस वर्ष कांग्रेस अधिवेशन अमृतसर में होना था, किन्तु जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड की विभीषिका से आतंकित कुछ नेता चाहते थे कि अधिवेशन किसी अन्य स्थान पर हो। स्वामी जी इससे सहमत नहीं थे। वे चाहते थे कि अमृतसर में ही कांग्रेस का अधिवेशन होना चाहिए ताकि डायरशाही के अत्याचारों से भीत, त्रस्त तथा

उत्पीड़ित पंजाबियों को कुछ राहत महसूस हो तथा वे अनुभव करें कि देशवासी उनके दुःख-दर्द में उनके साथ हैं।

जलियाँवाला काण्ड की जाँच के लिए कांग्रेस ने एक कमेटी नियुक्त की, जिसमें पं० मोतीलाल नेहरू और पं० मदनमोहन मालवीय के साथ स्वामी जी को सदस्य रूप में लिया गया। जब उस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तो संसार को अंग्रेज शासकों के अमानुषिक अत्याचारों की बर्बर गाथा का पता चल सका। स्वामी जी ने कांग्रेस के नेताओं के आग्रहवश अमृतसर-अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष का पद भी स्वीकार किया, यद्यपि इसके लिए वे बहुत उत्सुक नहीं थे। इस अवसर पर उन्होंने जो स्वागत-भाषण दिया वह भाव और भाषा, दोनों दृष्टियों से अपूर्व था। भाव की दृष्टि से उसका महत्त्व इसलिए है कि उसमें जलियाँवाला काण्ड के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों के कार्य की तो निन्दा की ही गई थी, किन्तु उन व्यक्तियों के प्रति कोई आक्रोश का भाव भी नहीं था जिन्होंने नौकरशाही की कठपुतली बनकर निहत्थे भारतवासियों के रुधिर से जलियाँवाला बाग की धरती को खून से रँगा था। कांग्रेस के मंच से स्वामी जी के ही द्वारा पहली बार निम्न आर्ष-वाणी का उच्चारण किया गया—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम्॥

अक्रोध के द्वारा हम क्रोध पर विजय पायें, दुष्ट को हम साधु बनकर जीतें। कायर को अपने दान के द्वारा पराजित करें तथा असत्य पर सत्य के द्वारा विजय प्राप्त करें। भाषा की दृष्टि से इस अभिभाषण का महत्त्व और भी अधिक था, क्योंकि कांग्रेस के मंच से एक संन्यासी का हिन्दी में अधिकारयुक्त भाषण करना अपने-आप में एक अद्वितीय घटना थी। अमृतसर-अधिवेशन की व्यवस्था में भयंकर वर्षा जैसी अकस्मिक विपत्ति के कारण पर्याप्त व्यवधान उपस्थित होने की सम्भावना थी। किन्तु स्वामी जी ने अपने प्रबन्ध-चातुर्य और व्यवस्था-कौशल से उसपर विजय प्राप्त कर ली।

कांग्रेस अधिवेशन की समाप्ति के पश्चात् वे जलियाँवाला बाग को खरीदकर वहाँ शहीद स्मारक बनाने के लिए धन एकत्र करने के लिए एक अन्य भिक्षा-यात्रा पर जाने ही वाले थे कि १९२० के आरम्भ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से उन्हें पुनः गुरुकुल पहुँचने का आदेश मिला। जिस संस्था को उन्होंने पुत्रवत् पाला था, उसके आह्वान को भला वे कैसे अस्वीकार करते!

महात्मा गांधी और कांग्रेस से विरक्ति

रॉलेट एक्ट के विरोध के समय दिल्ली के नागरिकों में एकता के जो दृश्य देखने में आये, वे क्षणस्थायी ही थे। इसी बीच अनेक प्रश्नों को लेकर महात्मा

गांधी से स्वामी जी का मतभेद हो गया। मतभेद के कारणों में एक तो यह था कि सत्याग्रह के दौरान गोली चलाये जाने का दोष महात्मा जी ने जनता पर ही लगाया, जबकि दिल्ली की उस समय की स्थिति को जाननेवाले स्वामी श्रद्धानन्द को पता था कि गोली चलाने के लिए नौकरशाही ही उत्तरदायी थी। खिलाफत आन्दोलन की मूल भावना से तो स्वामी जी सहमत थे, किन्तु मुसलमान नेताओं की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति तथा गांधी जी की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति के वे घोर विरोधी थे। उन्होंने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का तो समर्थन किया, किन्तु वे यह नहीं चाहते थे कि इन वस्त्रों की होली की जाय। क्या इस देश में ऐसे करोड़ों दरिद्र लोग नहीं हैं, जिन्हें तन ढाँकने को पूरा कपड़ा भी नहीं मिलता? क्यों नहीं इन्हीं गरीब लोगों में ये विदेशी वस्त्र बाँट दिये जाएँ? स्वामी श्रद्धानन्द को उस समय घोर आश्चर्य और दुःख हुआ जब उन्हें पता चला कि कांग्रेस के मुसलमान नेताओं ने महात्मा जी से इस बात की स्वीकृति ले ली है कि वे इन वस्त्रों को तुर्की भेज सकेंगे, जहाँ रहनेवाले उनके मुस्लिम भाई इनका प्रयोग करेंगे। स्वामी जी को यह जानकर बड़ी हैरानी हुई कि भारत के इन मुसलमान नेताओं को अपने ही देश के दरिद्र लोगों की अपेक्षा अपने सहधर्मी तुर्की मुसलमानों से अधिक लगाव है।

इतना होने पर भी स्वामी जी की मान्यता थी कि तात्कालिक परिस्थितियों में गांधी जी के नेतृत्व को स्वीकार किये बिना देश के लिए अन्य कोई विकल्प नहीं है। दिल्ली के नागरिकों का जोश भी धीरे-धीरे ठण्डा पड़ गया। डॉ० अंसारी जैसे नेता जो रॉलेट एक्ट विरोधी सत्याग्रह के अवसर पर स्वामी जी के दाहिने हाथ बने हुए थे, अब उनसे सहयोग करने में आनाकानी कर रहे थे। अन्ततः स्वामी जी ने निश्चय किया कि वे दिल्ली छोड़कर चले जाएँगे और आर्यसमाज के इतिहास-लेखन के कार्य को पुनः आरम्भ करेंगे।

इसी बीच चौरीचौरा काण्ड घटित हो गया और महात्मा जी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। सारे देश में निराशा और अवसाद का वातावरण फैल गया। हिन्दू-मुस्लिम दंगे भड़क उठे और साम्प्रदायिक माहौल तनावपूर्ण हो गया। जब दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ, तो स्वामी जी ने मुख्य प्रस्ताव में अपना संशोधन रखते हुए इस बात पर जोर दिया कि सत्याग्रह के दौरान यदि कांग्रेस के बाहर के लोगों द्वारा कोई हिंसा की वारदात की जाती है तो उसका दायित्व कांग्रेस पर नहीं होगा। किन्तु यदि कांग्रेस का कोई व्यक्ति हिंसा के लिए उत्तरदायी होगा, तो उसे इस संस्था से निकाल दिया जाएगा। जब महात्मा गांधी ने स्वामी जी को इस संशोधन को वापस लेने के लिए कहा तो अपने निश्चय पर दृढ़ रहते हुए उन्होंने कहा—"महात्मा जी, अपनी आत्मा की आवाज को सुनने का अकेला ठेका आपने ही नहीं ले रक्खा है। मेरे पास भी मेरी आत्मा है, और मुझे उसी के आदेश के अनुकूल आचरण करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त

है।" महात्मा जी के समझाने-बुझाने से स्वामी जी ने अपना संशोधन तो वापस ले लिया, किन्तु १२ मार्च १९२२ को कांग्रेस से अपना त्यागपत्र दे दिया।

स्वामी श्रद्धानन्द अनुभव करते थे कि सत्याग्रह के संचालन के बारे में गांधी जी ने जो मौलिक नीतियाँ अपनाई हैं, वे तो सत्य हैं, किन्तु स्वयं महात्मा जी ही उनपर दृढ़ नहीं रहते। उदाहरणार्थ, गांधी जी का यह आग्रह रहता था कि सत्याग्रही को पूर्णतया अहिंसक होना चाहिए। किन्तु वे यह भी मानते थे कि अभी तक सारी जनता को अहिंसक बनने के लिए पूर्णतया शिक्षित नहीं किया गया है, और जब कभी सत्याग्रह के दौरान जनता या सरकार की ओर से थोड़ी भी हिंसा हो जाती है तो महात्मा जी तुरन्त सत्याग्रह को स्थगित कर देते हैं। उनके ऐसा करने से जनता को अपार निराशा का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार महात्मा जी का अपने रचनात्मक कार्यक्रमों पर जोर देना तो समझ में आता है, किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि करोड़ों देशवासियों द्वारा महात्मा जी के इन निर्देशों का पूर्णतया और अक्षरश: पालन किया जाना कितना कठिन था।

कांग्रेस में महात्मा जी कभी-कभी तानाशाह की भाँति आचरण करने लगते थे और कांग्रेस-जनों को अपने द्वारा निर्दिष्ट आचरण-संहिता का पालन करने के लिए मजबूर कर देते थे। स्वराज्य के बारे में उनकी भविष्यवाणियाँ भी कभी-कभी हास्यास्पद हो जाती थीं। जैसाकि स्वामी श्रद्धानन्द ने 'श्रद्धा' के ९ जुलाई १९२० के अंक में लिखा था—"इस समय अशिक्षित भारतीय तो गांधी जी को ईश्वर का अवतार मानते हैं जबकि शिक्षित व्यक्तियों की दृष्टि में वे मूर्तिमान् कांग्रेस ही हैं। महात्मा जी ने ही हमें यह वचन दिया है कि वे १२ महीनों के भीतर देश को स्वराज्य प्राप्त करा देंगे। हमें इसके लिए उन्हें पूरा समय और अवसर देना चाहिए, किन्तु यदि ३१ दिसम्बर १९२१ तक स्वराज्य नहीं मिलता है तो उन्हें अवतार मानने की धारणा स्वत: ही खण्डित हो जायेगी।" १७ नवम्बर १९२१ को बम्बई में प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन पर जब दंगा हो गया तो गांधी जी ने कांग्रेस कार्यसमिति को पूछे बिना ही एक बयान देकर इस दंगे के लिए असहयोगियों को जिम्मेदार ठहराया। स्वामी जी उनके इस बयान से भी सहमत नहीं थे। अन्तत: जब दिसम्बर १९२१ में कांग्रेस ने महात्मा जी को आगे कार्यवाही करने के सर्वाधिकार दे दिये तब तो यह स्पष्ट हो गया कि महात्मा जी के व्यक्तित्व को ही कांग्रेस में सर्वोपरि महत्त्व प्राप्त है और उसकी धारणा से तानाशाही मनोवृत्ति को बल मिलता है।

अछूतों की समस्या का समाधान करने में कांग्रेस की ओर से जिस उपेक्षावृत्ति का परिचय दिया जा रहा था, स्वामी श्रद्धानन्द उससे भी संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने यह तो बहुत पहले ही अनुभव कर लिया था कि तथाकथित अछूत जातियों के प्रति सवर्ण जातियों का भेदभावपूर्ण रुख उन्हें हिन्दू जीवन की सामान्य धारा

से दूर ले जा रहा है, किन्तु राजनीति में प्रविष्ट होने पर उन्होंने इस समस्या के एक अन्य हानिकर पहलू को भी अनुभव किया था। उनकी धारणा थी कि यदि अछूत वर्ग की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए अविलम्ब कोई कार्यवाही नहीं की गई, तो अंग्रेज नौकरशाही ही उन्हें अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त करेगी। वे सरकार के मुखापेक्षी हो जायेंगे और स्वराज्य की लड़ाई में उनका सहयोग लेना कठिन हो जायगा।

कांग्रेस को जब अस्पृश्यता की समस्या के प्रति स्वामी जी ने सावधान किया तो जून १९२२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की लखनऊ में सम्पन्न हुई बैठक में उसके लिए एक उपसमिति बनाने का निश्चय हुआ और स्वामी जी को ही उसका संयोजक बनाया गया। इसके लिए कुछ धनराशि निश्चित की गई किन्तु समय आने पर इस रकम में भी कटौती कर दी गई। जब स्वामी जी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए योजना बनाकर उसे पूरा करना चाहा, तो कांग्रेस ने इस उपसमिति को दी जानेवाली सहायता-राशि को तो कम किया ही, संयोजक के पद पर भी एक अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर दिया। देश के समक्ष प्रस्तुत अस्पृश्यता की चुनौतीभरी समस्या के प्रति कांग्रेस का यह उपेक्षापूर्ण रवैया देखकर स्वामी जी का इस संस्था के प्रति उदासीन हो जाना और कालान्तर में उससे पूर्णतया सम्बन्ध तोड़ लेना आश्चर्यजनक नहीं था।

साम्प्रदायिक मुसलमानों के प्रति कांग्रेस के विचित्र रवैये को देखकर भी स्वामी जी को बड़ी निराशा हुई थी। १९२० में जब खिलाफत का आन्दोलन आरम्भ हुआ और कांग्रेस ने उसे अपना समर्थन दिया, उस समय स्वामी श्रद्धानन्द भी इसके समर्थक थे। खिलाफत को उनका समर्थन इसलिये नहीं था कि यह मुसलमानों की एक समस्या थी। वे इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखते थे। उनका मानना था कि खिलाफत की रक्षा के पीछे धर्म की स्वतन्त्रता का सिद्धान्त निहित है। दूसरा कारण जो उन्हें खिलाफत का समर्थन करने के लिए प्रेरित कर रहा था वह था ब्रिटिश सरकार का वचन भंग करने का दोष। किन्तु खिलाफत के नेताओं का राष्ट्रविरोधी दृष्टिकोण धीरे-धीरे सामने आने लगा। ज्यों ही तुर्की में कमालपाशा के नेतृत्व में वैचारिक क्रान्ति हुई और खिलाफत की पुनः स्थापना की सारी आशायें धूल में मिल गईं, भारत के मुसलमानों का धैर्य भी समाप्त हो गया। अब वे ब्रिटिश सरकार का तो कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे, अतः उनका आक्रोश और उनकी झुँझलाहट हिन्दुओं की ओर उन्मुख हुई। फलतः जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और १९२० का साम्प्रदायिक सौहार्द पानी के बुलबुले की भाँति विलीन हो गया।

खिलाफत के समर्थक तथा गांधी जी के इर्द-गिर्द घूमनेवाले अली भाइयों की मनोवृत्तियों का भी पर्दाफाश हो गया, जबकि नागपुर की खिलाफत कान्फ्रेंस

में मौलानाओं ने कुरान की वे आयतें पढ़ीं जिनमें काफिरों को मारने के लिए कहा गया था। इधर मलाबार प्रान्त में जब मोपला मुसलमानों ने वहाँ की हिन्दू जनता पर अत्याचारों का कहर ढाया, तो कांग्रेस एक विचित्र धर्मसंकट में पड़ गई। अहमदाबाद कांग्रेस में मोपलाओं के अत्याचारों पर विस्तार से बहस तो हुई, किन्तु मोपलाओं द्वारा की गई इन ज्यादतियों की बहुत धीमे स्वर में निन्दा करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया गया।

इस प्रकार बिगड़ते हुए साम्प्रदायिक माहौल को देखकर स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने एक प्रेस-वक्तव्य में कहा कि "प्रत्यक्षतया तो दोनों वर्गों के बीच किसी प्रकार का मतभेद दिखाई नहीं देता, किन्तु अपने दिलों में ये दोनों कौमें एक-दूसरे के प्रति सन्देह करने लगी हैं। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि एक ओर जहाँ मुसलमान और सिख जैसी जातियाँ सामाजिक तौर पर संगठित हैं, वहाँ हिन्दू समाज का ढाँचा जीर्ण-शीर्ण और चरमराया हुआ है।" इसी विचार का अनुसरण कर कालान्तर में स्वामी जी ने हिन्दू-संगठन और अछूतोद्धार पर अधिक बल दिया।

गुरु का बाग सत्याग्रह

१९१९ से १९२२ तक कांग्रेस की सक्रिय राजनीति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द प्रतिक्षण अपनी गिरफ्तारी की प्रतीक्षा करते थे, किन्तु जब उन्हें १९२२ के सितम्बर मास में अंग्रेजी सरकार ने गिरफ्तार किया, तो गिरफ्तारी का कारण कांग्रेस आन्दोलन नहीं था। इस बार वे सिखों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह करते हुए बंदी बनाये गये। अमृतसर में गुरुद्वारा गुरु का बाग के निकट की एक जमीन विवादास्पद बनी हुई थी। सिख इसे अपनी जायदाद समझते थे तथा इसका उपयोग भी करते थे। जब पुलिस ने इसपर आपत्ति की, तो अकाली सिखों ने इस भूमि पर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए सत्याग्रह का सहारा लिया। वे दल बाँधकर गुरु का बाग के साथ वाली उस भूमि पर जाने लगे, जो पुलिस की रक्षा में थी। इसपर पुलिस ने इन अकाली सत्याग्रहियों को बुरी तरह से पीटा और बंदी बनाया। २८ अगस्त १९२२ को अकाली नेताओं ने गुरु का बाग सत्याग्रह को एक सार्वजनिक मुद्दा बनाया और समस्त देशवासियों से नैतिक सहयोग की अपील की।

स्वामी श्रद्धानन्द भला धार्मिक अधिकारों के इस निर्लज्ज हनन को मूक होकर कैसे देखते? वे १० सितम्बर को हकीम अजमल खाँ तथा पं० प्यारेलाल शर्मा के साथ अमृतसर आये। मालवीय जी वहाँ पहले से ही मौजूद थे। स्वामीजी तुरन्त गुरु का बाग गये और वहाँ उपस्थित जनता को सम्बोधित कर कहा कि दिल्ली के सभी लोग उनके साथ हैं। यदि अकाली दल एक तार भी भेजेगा,

तो दिल्लीवासी झुण्ड-के-झुण्ड इस सत्याग्रह में शरीक होने के लिए आयेंगे। उन्होंने सत्याग्रहियों की विजय की कामना की और उन्हें आशीर्वाद दिया। ज्यों ही वे अपना व्याख्यान समाप्त कर हटे, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। २२ सितम्बर को उन्हें अदालत के सामने पेश किया गया। जब उन्होंने अदालत के समक्ष अपनी बात कह दी तो न्यायाधीश ने उन्हें फौजदारी कानून की धारा ११७ के अन्तर्गत दोषी ठहराया और एक वर्ष के साधारण कारावास की सजा दी।

गुरु का बाग सत्याग्रह में प्रदत्त कारावास की कहानी स्वयं स्वामी जी ने अपनी एक संस्मरणात्मक पुस्तक 'बंदी जीवन के विचित्र अनुभव'[1] में लेखबद्ध की है। इससे ब्रिटिश जेलों की दयनीय हालत तथा राजनैतिक बंदियों के प्रति जेल के अधिकारियों के दमनपूर्ण व्यवहार की झलक मिलती है। अमृतसर से वे मियाँवाली जेल में स्थानान्तरित कर दिये गये। अप्रत्याशित रूप से पूरी सजा भुगते बिना ही उन्हें २६ दिसम्बर को जेल से मुक्त कर दिया गया। धार्मिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वामी जी को बड़ा-से-बड़ा बलिदान करने में भी कभी कठिनाई नहीं हुई थी।

१. यह पुस्तक 'श्रद्धानन्द ग्रन्थावली' में संकलित हो चुकी है।

अध्याय १०

शुद्धि, संगठन और अछूतोद्धार

राजनीति से उपराम होकर स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दू संगठन, कारणवश हिन्दू धर्म को छोड़कर अन्य मतों में गये लोगों के पुनरावर्तन तथा अछूतोद्धार जैसी सामाजिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। गुरु का बाग सत्याग्रह के परिणामस्वरूप जब वे स्वल्प काल के लिए कारावास में रक्खे गये थे, तभी इन समस्याओं पर विस्तार से सोचने का अवसर उन्हें मिला था। उस समय उनकी चिन्तन-सरणि कुछ इस प्रकार प्रवाहित हो रही थी—"मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आजकल नैतिक आचरण का सर्वत्र ह्रास हो रहा है। कांग्रेस, हिन्दू महा-सभा तथा खिलाफत जैसे आन्दोलनों का नेतृत्व करने के लिए तो अनेक लोग पहले से ही मौजूद हैं। किन्तु मेरे जैसे साधारण व्यक्ति के लिए यही उचित है कि मैं आर्य जाति के समक्ष ब्रह्मचर्य को पुनरुज्जीवित करने तथा दलित जातियों के उत्थान हेतु कुछ ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत करूँ।"

कांग्रेस के प्रति उनके मन में जो उदासीनता पैदा हो गई थी, उसके कारणों का विवेचन हम विगत अध्याय में कर चुके हैं। महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति, राष्ट्रवादी कहे जानेवाले तथाकथित मुसलमान नेताओं द्वारा भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को अनदेखा कर उनका विश्व-इस्लामवाद (Pan Islamism) की ओर उन्मुख होना आदि अनेक ऐसी बातें थीं जिनके कारण स्वामी जी का कांग्रेस में कार्य करना कठिन-से-कठिनतर हो रहा था। वे चाहते थे कि अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक कार्यक्रम को तुरन्त अपनाया जाय ताकि दलित समस्या का न तो कोई दल राजनैतिक लाभ उठा सके और न अंग्रेज नौकरशाही ही हिन्दू समाज में इस वर्ग की दयनीय स्थिति का बहाना बनाकर भारत को स्वराज्य के अयोग्य कहने का अपना पुराना राग अलापती रहे। हिन्दू समाज को सुसंगठित बनाने के लिए भी अछूत-समस्या का निराकरण किया जाना आवश्यक था, क्योंकि जब तक इस देश के बहु-संख्यक लोग ही सामाजिक दृष्टि से दुर्बल रहेंगे तो वे प्राप्त की गई स्वाधीनता की रक्षा करने में

भी असमर्थ होंगे, यह स्वामी श्रद्धानन्द की निश्चित मान्यता थी।

अतः स्वामी श्रद्धानन्द के लिए हिन्दू संगठन सर्वोपरि महत्त्व का प्रश्न बन गया। वे आजकल के संकीर्णबुद्धि राजनीतिज्ञों की भाँति यह विश्वास नहीं करते थे कि हिन्दुओं के सुसंगठित होने से उनका मुसलमानों से टकराव होगा अथवा साम्प्रदायिक वैमनस्य को बढ़ावा मिलेगा। इसके विपरीत उनकी धारणा थी कि सशक्त हिन्दू-समाज ही समान धरातल पर साम्प्रदायिक राजनीति से निपटने में सक्षम हो सकता है तथा अराष्ट्रीय गतिविधियों पर अंकुश लगा सकता है। हिन्दू संगठन के दो पहलू उनके समक्ष थे। इनमें प्रथम था नौमुस्लिमों को पुनः हिन्दू समाज में शुद्ध कर प्रविष्ट कराना तथा दूसरा, दलित जातियों को ऊँचा उठाना। यों तो आर्यसमाज ने अपने स्थापना-काल से ही इस विचार पर बल दिया था कि यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार के लोभ, भय या आतंक का शिकार होकर अपना धर्म-परिवर्तन कर लेता है, और कुछ काल पश्चात् पुनः अपने पूर्वजों के धर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा करता है, तो उसे निस्संकोच अपने पैतृक धर्म को अपनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जहाँ इस बात का उल्लेख है कि पुराकाल में वेदविद् ब्राह्मणों का सम्पर्क और मार्गदर्शन न मिलने के कारण ही अनेक जातियाँ आर्योचित आचार-विचार और जीवन-दर्शन से पृथक् होकर विभिन्न अनार्य जातियों के रूप में पतित और भ्रष्ट हुई थीं।[1] मध्यकालीन वैष्णव आन्दोलन के द्वारा ऐसी आचारहीनअनार्य जातियों को पुनः वेदानुयायी वैष्णव धर्म में प्रविष्ट कराने के प्रयत्न भी हुए और यह कहा गया कि विष्णु के अवतार राम के नाम का उच्चारण करने मात्र से ही पतित और अधोगतिप्राप्त लोग श्रेयकामी बन जाते हैं।[2] किन्तु उत्तर-वैष्णव युग में धार्मिक संकीर्णता में वृद्धि हुई और हिन्दू समाज जाति-पाँति की संकीर्ण काराओं में बँधकर सर्वथा लुंज-पुंज तथा शक्तिहीन हो गया।

यही वह युग था जब जातिगत आधार पर लोगों के धार्मिक और सामाजिक अधिकारों का हनन हुआ और शतशः अछूत, दलित, और अन्त्यज जातियाँ बनीं जिनको सदा-सदा के लिए अधोगतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय जैसे उच्च वर्ग के लोगों द्वारा विवश किया गया। ब्राह्मणों में प्रवृद्ध पुरोहितवाद ने अपना हित इसी में समझा कि उन तथाकथित नीच जातियों को जितना अधिक दबाकर रक्खा जायगा, अवशिष्ट समाज पर उनका गौरव, प्रभुत्व

---

१. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥—मनु० १०।४३

२. श्वपच शबर खल यवन जड़ पामर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात॥—तुलसीदास

और शासन उसी अनुपात में स्थिर रहेगा। पुरोहितवर्ग ने क्षत्रिय वर्ण को कुछ विशेष अधिकार दिये तथा उनमें व्याप्त चारित्रिक दुर्बलताओं की जान-बूझकर अनदेखी की, ताकि वे क्षत्रिय लोग धर्माचार्य के रूप में ब्राह्मणों को सम्मान भी देते रहें तथा पारलौकिक समस्याओं के समाधान में सदा उनके मुखापेक्षी बने रहें। ब्राह्मणों ने भी राजन्यवर्ग को यही पाठ पढ़ाया कि शास्त्रों ने यदि लौकिक शासन करने का अधिकार क्षत्रियों को दिया है, तो समाज के आध्यात्मिक और धार्मिक मसलों को तय करने की पूरी छुट्टी उन्हें ही मिली हुई है। इस प्रकार क्षत्रिय यदि 'भूपाल' हैं तो ब्राह्मण 'भूदेव' हैं। अब इन दो उच्च वर्णों के पारस्परिक षड्यन्त्रों की शिकार बन गईं वे तथाकथित शूद्र जातियाँ, जो शताब्दियों से उपेक्षा, उत्पीड़न तथा अत्याचारों को बेबस होकर सह रही थीं। वैश्य वर्ग ने इस विवाद में कुछ अधिक हिस्सा नहीं लिया क्योंकि उनमें से अधिकांश की रुचि निम्नवर्ग का आर्थिक शोषण करने की ही थी और इसके लिए उन्हें उच्च जातियों का नतिक समर्थन तभी मिल सकता था, जब वे ब्राह्मण और क्षत्रियवर्ग का साथ दें। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था का विधान करनेवाले पुरातन शास्त्रों में कृषि और गौरक्षा (जिसमें पशुपालन भी सम्मिलित था) को वैश्योचित कर्म बताया गया है, किन्तु मध्यकाल के वैश्य, मात्र कुसीदजीवी थे तथा वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा प्रचुर द्रव्योपार्जन को ही अपना एकमात्र कर्त्तव्य मान बैठे। ऐसी स्थिति में कृषि और पशुपालन तो चतुर्थ शूद्र वर्ण की जीविका के ही साधन बने, और इन्हें हीन कर्म मान लिया गया।

हिन्दू समाज में विद्यमान अछूत समस्या को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने के पश्चात् ही उसका कोई समीचीन निदान खोजा जाना उचित होगा। स्वामी श्रद्धानन्द ने इसी इतिहास-बोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि मुसलमानी शासनकाल में भारत के जिन लोगों ने अपने परम्परागत धर्म को तिलांजलि देकर इस्लाम को स्वीकार किया, उनमें अधिकांश इन्हीं तथाकथित निम्न जातियों के लोग थे जो एक ओर हिन्दुओं की पुरोहितशाही से तंग आ चुके थे तो दूसरी ओर उसी युग के सामन्ती निरंकुश शासकों के अमानवीय अत्याचारों और शोषण का शिकार बनकर सर्वथा हीन स्थिति में जीवनयापन कर रहे थे। अपने-आपको इस विषम परिस्थिति से उबारने का उन्हें धर्म-परिवर्तन ही एक-मात्र उपाय दिखाई पड़ा। ऐसा करने से उन्हें दो प्रकार के लाभ तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़े थे। प्रथम तो इस्लाम में सामाजिक विषमता के लिए कोई स्थान नहीं था। इस्लाम की दावत देनेवाले धर्मप्रचारक मुल्ला और मौलवी खुलेआम घोषणा करते थे कि पैगम्बर साहब के मजहब में बादशाह और गुलाम को भी बराबरी का हक हासिल है। जिस फर्श पर खड़ा होकर सुलतान महमूद खुदा की इबादत

स्वामी श्रद्धानन्द जी के पिता लाला नानकचन्द जी

लाला मुन्शीराम जी वकील
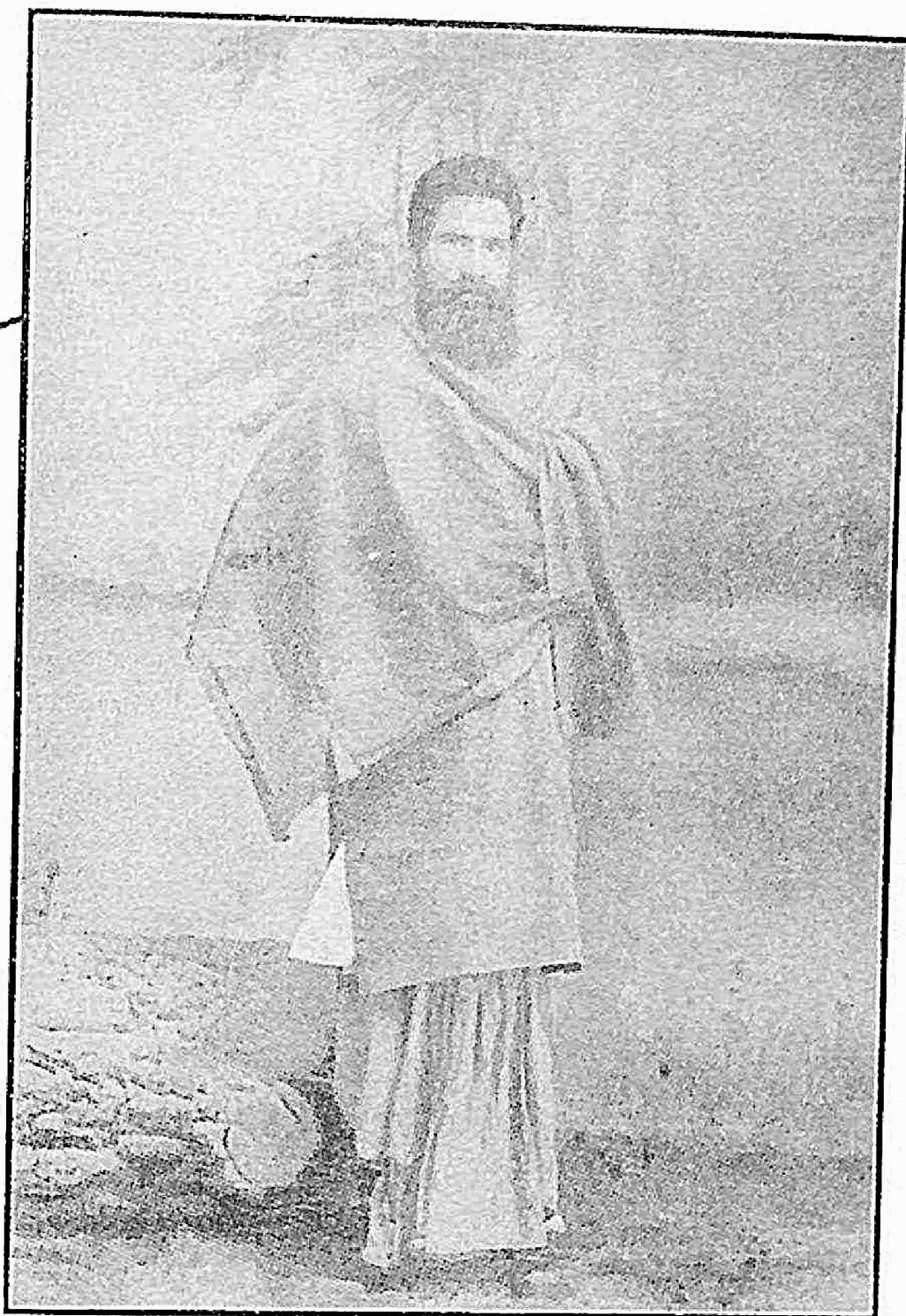
आचार्य मुन्शीराम जी

(गुरुकुल-विश्वविद्यालय के आचार्य के वेश में)
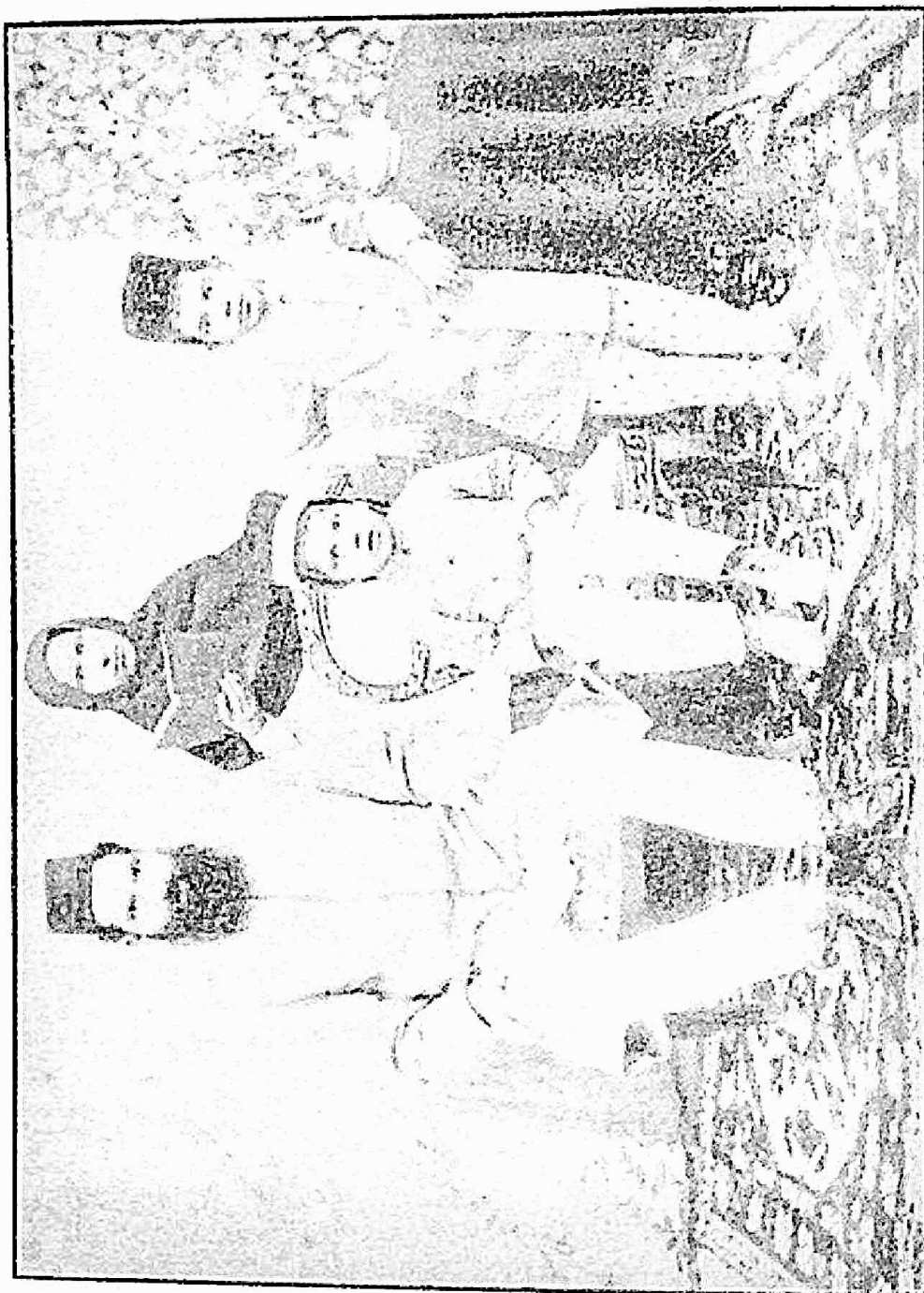
श्री मुन्शीराम जी का परिवार

मुन्शीराम जी, पीछे खड़ी हुई—कन्या वेदकुमारी, बैठे हुये—बालक हरिश्चन्द्र

इन्द्र विद्यावाचस्पति
श्री मुन्शीराम जी के छोटे पुत्र

श्री हरिश्चन्द्र जी विद्यालंकार

श्री मुन्शीराम जी के बड़े पुत्र
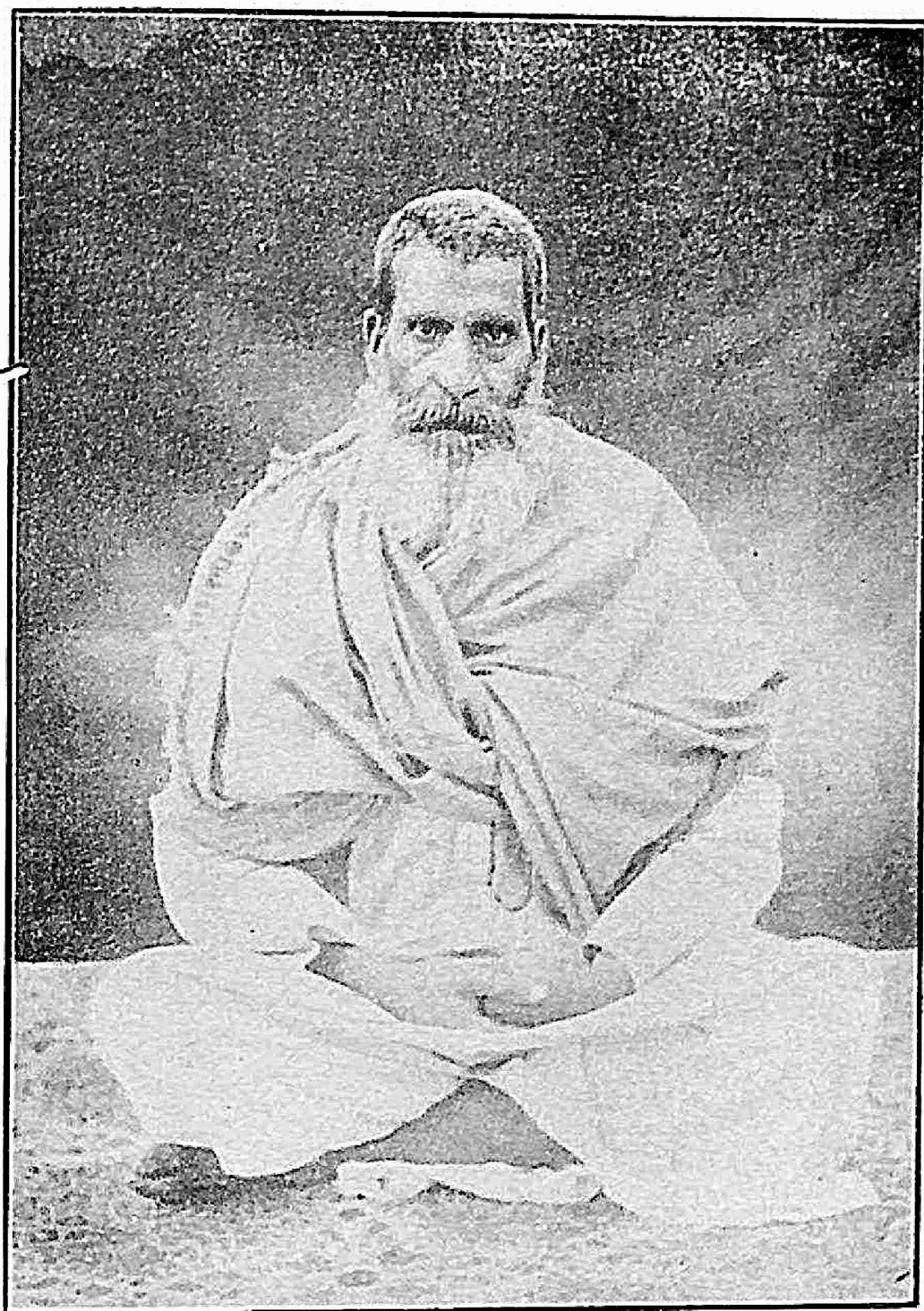
श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी संन्यासी
(संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के दिन लिया हुआ चित्र)

स्वामी जी की हस्तलिपि

२४ सितम्बर १९२०

गुरुकुल
१० आश्विन, १९७७

श्रीमान् लाला रामकृष्ण जी प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

नमस्ते!

इस समय जातीय सम्मति में असहयोग की व्यवस्था दे दी गयी तो उसके प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन असफल हुआ और महात्मा जी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है।

संन्यासाश्रम का प्रवेश-संस्कार

बीच में स्वामी श्रद्धानन्द जी हैं। उनके बाईं ओर महाशय कृष्ण तथा पण्डित सूर्यदेव जी (गुरुकुल के माननीय उपाध्य) हैं
और दाईं ओर पीछे श्री रामकृष्ण जी, श्री जयनारायजी पोद्दार,
पं० विष्णुमित्र जी, स्वामी सत्यानन्द जी और स्वामी अच्युतानन्द जी हैं।
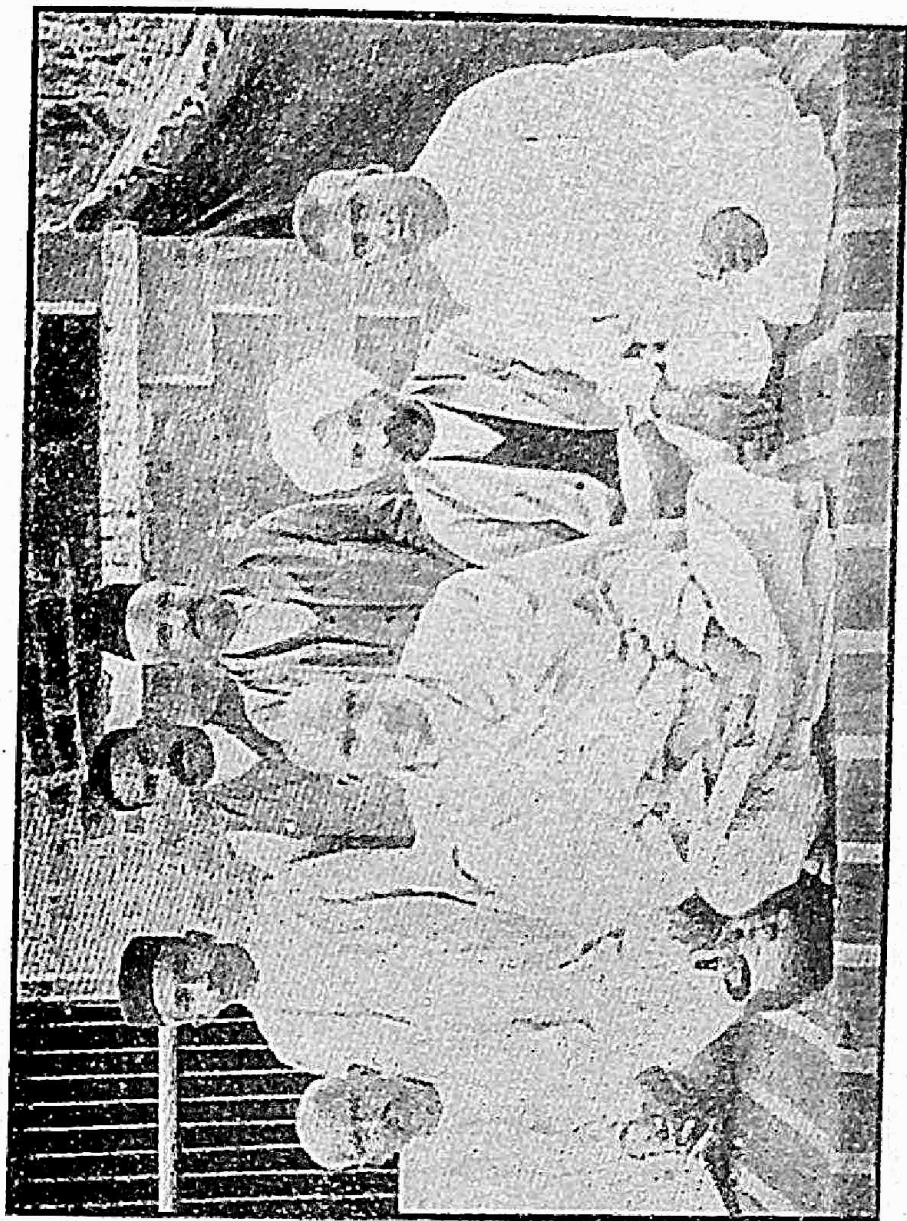
स्वामी श्रद्धानन्द जी संन्यासी तथा उनके साथी

बायें से दायें—पं० पूर्णानन्द जी महोपदेशक, ला० रामकृष्ण जी, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, ला० लब्भूराम नय्यड़, डा० श्यामस्वरूप बरेली, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पं० सूर्यदेव जी।
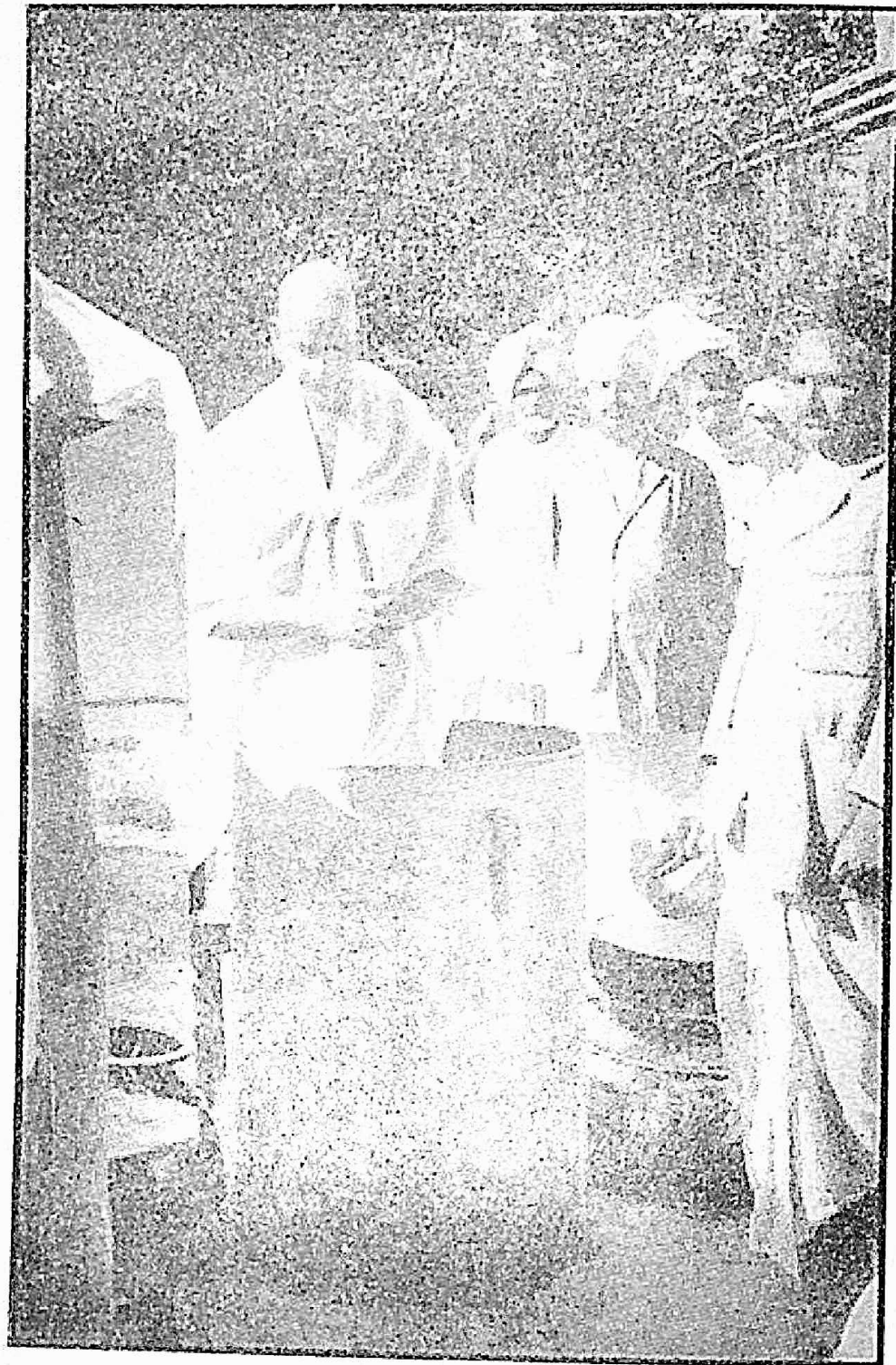
संन्यासाश्रम का प्रवेश-संस्कार (२)

पानी में खड़े होकर बाल तोड़ने की विधि पूरी की जा रही है।
भक्त लम्भूराम जी पानी का लोटा लिये सामने खड़े हैं।
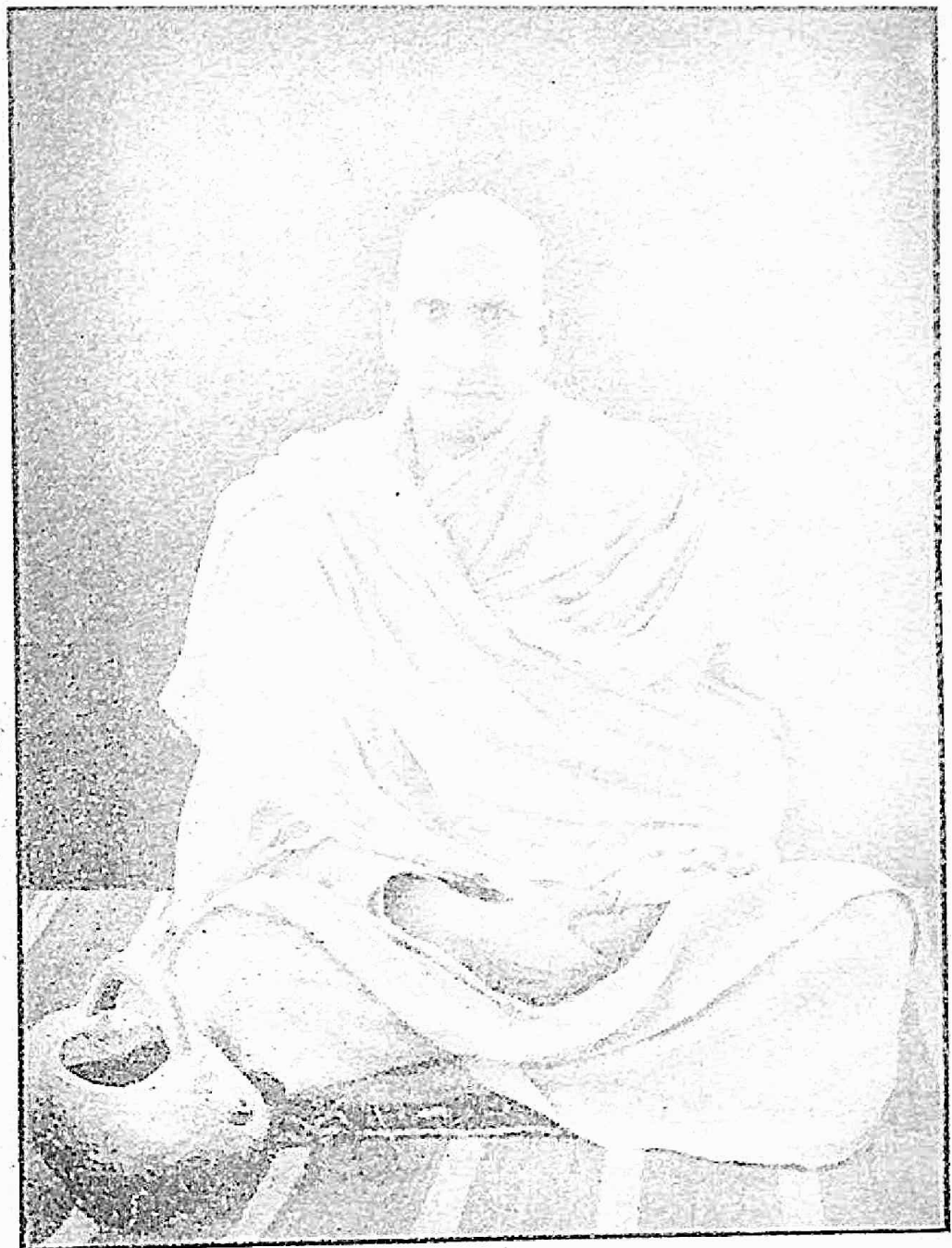
श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी संन्यासी
(संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के दिन लिया हुआ चित्र)
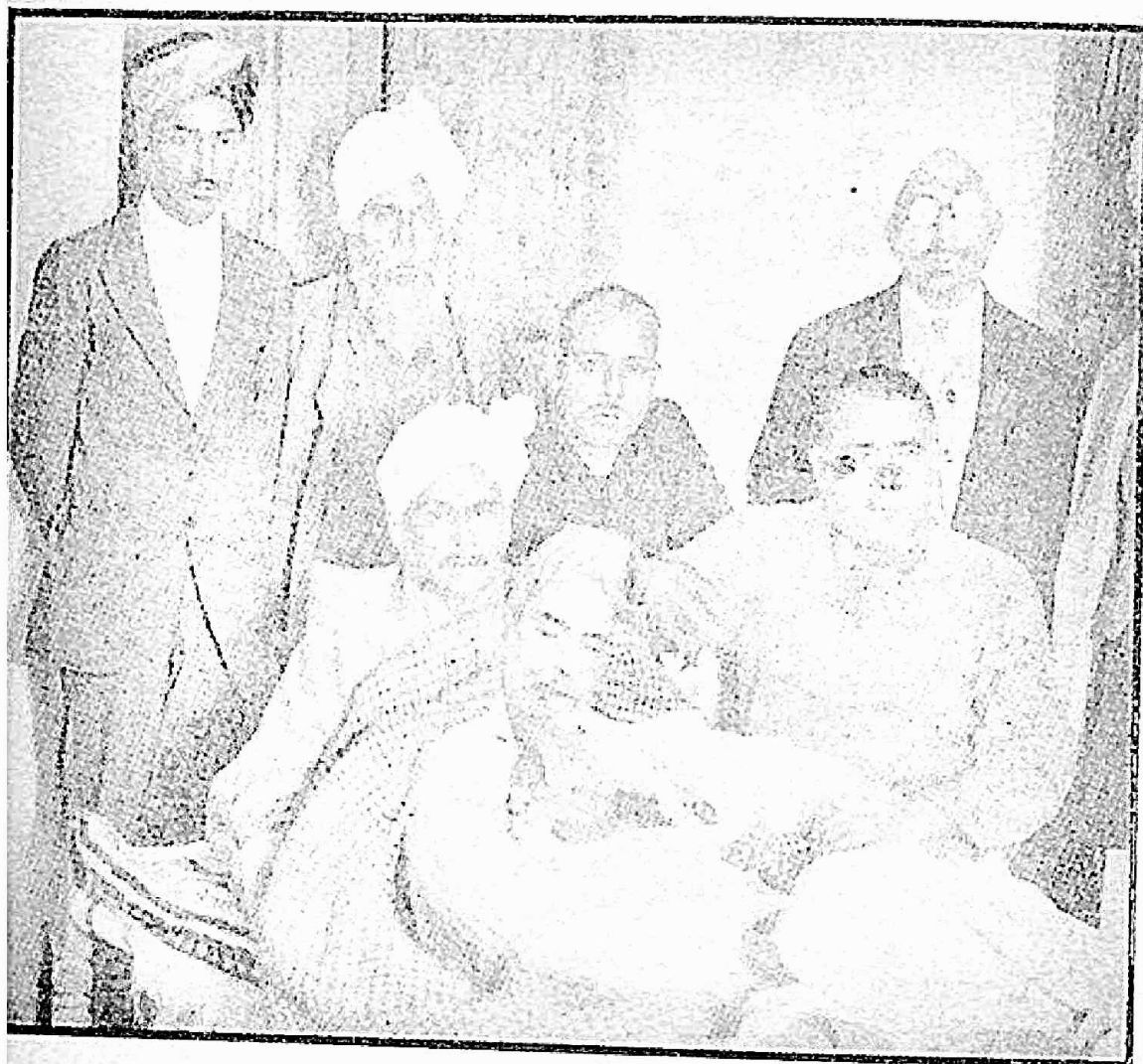
अन्तिम दर्शन

छाती पर गोली खाने के बाद लिया गया चित्र। काला कोट पहिने हुए नंगे सिर स्वामी जी के मन्त्री श्री धर्मपाल जी विद्यालंकार हैं।

करता है, उसी जगह उसके गुलाम अयाज को भी खड़ा होकर नमाज पढ़ने का उतना ही हक इस्लाम ने दे रक्खा है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुसलमानों में हर स्तर पर सामाजिक या आर्थिक समानता सभी को अवश्य ही प्राप्त थी। वहाँ भी शेख, सैयद जैसे लोग अपने को ऊँचा मानते थे और मुसलमानों में उनकी हैसियत हिन्दुओं के ब्राह्मणों और क्षत्रियों जैसी ही थी। शारीरिक श्रम करनेवाले या मेहनत-मजदूरी कर जीविकोपार्जन करनेवाले लोगों को वहाँ भी हीन ही समझा जाता था। एक कुँजड़ा या कसाई किसी सैयद की बेटी से विवाह करने की सोच भी नहीं सकता था। कोई जुलाहा या घसियारा अपनी लड़की का निकाह किसी शेख के बेटे से करने की बात करता तो उसे पागल ही समझा जाता था। आर्थिक विषमता तो मुसलमानों में भी हिन्दुओं की ही भाँति थी। यहाँ भी नवाबों और जमींदारों ने अपनी आश्रित गरीब मुसलमान प्रजा को उसी प्रकार शोषण और दोहन का शिकार बना रक्खा था जैसे हिन्दू राजाओं और सामन्तों के अधीन रहनेवाली निम्नवर्गीय हिन्दू जनता को पीसा और दुहा जाता था। किन्तु मुसलमान बन जानेवाली इन निम्न जातियों को इतनी राहत तो मिली कि वे हिन्दू पुरोहितशाही के निरन्तर तिरस्कार, अपमान और लांछना से अवश्य त्राण पा सके थे।

इन नये बने मुसलमानों का सामाजिक ढाँचा भी कुछ विचित्र प्रकार का था। यद्यपि ये आस्था और विश्वास से अपने को मुसलमान कहने लगे थे, किन्तु न तो उन्होंने अपने परम्पराप्राप्त हिन्दू रीति-रिवाजों को पूर्णतया छोड़ा था और न वे धार्मिक दृष्टि से अन्य मुसलमानों की भाँति कट्टर एकेश्वरवादी ही थे। अपने पैतृक संस्कारों के वशवर्ती होकर उन्होंने बहुदेव-पूजा से भी मुँह नहीं मोड़ा था। यह दूसरी बात है कि शीतला, भैरव और हनुमान की जगह अब ये शहीदों, पीरों और फकीरों को पूजने लगे थे और मन्दिरों, देवालयों, चबूतरों और समाधियों के स्थान पर मजार, मकबरे, खानकाहें और कब्रें इनके पूजास्थल बन गये थे। इन नौमुस्लिमों में कहीं-कहीं तो हिन्दू और मुसलमान दोनों के रीतिरिवाज, आस्था और विश्वास प्रायः समान रूप में मिलते थे। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज का यह प्रयत्न रहा कि विभाजित आस्थाओं वाले इस समाज को यदि पूर्ण रूप से अपनी प्राचीन धारा में ले-आया जाय तो यह देश और समाज के लिए श्रेयस्कर और लाभप्रद होगा। स्वामी दयानन्द ने अपने हाथों से देहरादून के एक मुसलमान को आर्य धर्म में दीक्षित कर 'अलखधारी' का अभिधान प्रदान किया था।[1]

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् शुद्धि का एक अन्य प्रकार पंजाब में

---

१. द्रष्टव्य—'नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती' (ले० डॉ० भवानीलाल भारतीय) देहरादून प्रवास का विवरण।

आरम्भ हुआ। वहाँ मेघ, ओड और रहतिये जैसी तथाकथित निम्न और पिछड़ी जातियों के शुद्धिकरण का आन्दोलन आर्यसमाज ने चलाया। इसके द्वारा उनकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ और उनमें स्वयं को पतित, तुच्छ और निकृष्ट समझने की हीन भावना भी दूर हुई। इसी प्रकार उच्च वर्ग के लोगों में इनके प्रति तिरस्कार और घृणा का भाव कम हुआ और सामाजिक समानता का वातावरण बना। पंजाब में आरम्भ किये गये इस शुद्धि-आन्दोलन का कई क्षेत्रों से संगठित विरोध भी हुआ। पं० गंगाराम और महाशय रामचन्द्र जैसे आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं को तो अपना बलिदान तक देना पड़ा। इधर संयुक्तप्रान्त में मथुरा से लेकर फर्रुखाबाद तक मलकाने राजपूतों की एक ऐसी कौम निवास करती थी जिनके पूर्वजों ने कोई डेढ़ या दो सदी पूर्व ही इस्लाम की दीक्षा ली थी। मुसलमान बने इन राजपूतों में अभी तक राजपूती रीति-रिवाजों का ही प्रचलन था और वे स्वयं को चौहान, गहलोत, राठौड़ आदि राजपूतों के विभिन्न वर्गों के ही वंशज मानते थे। जब इस शताब्दी के आरम्भ में इन मलकानों को पुनः हिन्दू धर्म में लाने की बात सोची गई, तो अगले दशाब्द में इसके लिए कुछ ठोस प्रयत्न भी हुए। १९२२ में क्षत्रिय उपकारिणी सभा की स्थापना हुई, जिसने मलकानों को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराने तथा उन्हें राजपूत जाति का घटक मानने का समर्थन किया। इस प्रस्ताव को ध्यान में रखकर १३ फरवरी १९२३ को आगरे में एक और सभा आयोजित की गई। स्वामी श्रद्धानन्द भी इसमें उपस्थित थे। यहाँ भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा स्थापित करने का निश्चय किया गया और स्वामी जी इसके प्रधान एवं महात्मा हंसराज उपप्रधान मनोनीत किये गये। इसके बाद विशाल स्तर पर मलकानों की शुद्धि का कार्य आरम्भ हुआ और उनके गाँव-के-गाँव सामूहिक रूप से शुद्ध होने लगे। १९२३ के वर्ष की समाप्ति तक लगभग ३० हजार मलकानों को शुद्ध कर हिन्दू धर्म की दीक्षा दी गई।

मलकानों की शुद्धि की मुसलमानों में प्रतिक्रिया

अब तक अपने-आपको इस्लाम का अनुयायी कहनेवाले मलकानों को अपने पूर्वजों के धर्म में पुनः प्रविष्ट होता देखकर मुसलमानों में उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। जमीयत-उल-उलेमा के तत्त्वावधान में १८ मार्च १९२३ को बम्बई में एक मीटिंग हुई जिसमें मलकानों को पुनः हिन्दू बनाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द को दोषी माना गया और उनकी व्यापक स्तर पर निन्दा की गई। अब से स्वामी जी के प्रति मुसलमानों का रुख निरन्तर आक्रामक होता गया और यह आशंका हुई कि कहीं उनपर घातक हमला न हो जाय। आर्यसमाजियों ने सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें अपने साथ शरीररक्षक रखने की सलाह दी। किन्तु जीवन और मृत्यु को

समान समझनेवाले निर्भीक संन्यासी ने उत्तर में कहा **"परमपिता ही मेरा रक्षक है, मुझे किसी अन्य रखवाले की जरूरत नहीं है।"** मुसलमान तो स्वामी जी के विरुद्ध हुए ही, कांग्रेस में भी शुद्धि-कार्य को आशंका की दृष्टि से देखा गया। श्री राजगोपालाचार्य, पं० मोतीलाल नेहरू तथा पं० जवाहरलाल नेहरू ने धर्म-परिवर्तन को व्यक्ति का मौलिक अधिकार मानते हुए तथा शुद्धि के औचित्य को स्वीकार करते हुए भी तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में उसे असामयिक बताया। किन्तु हिन्दुओं के अनेक धार्मिक संगठनों ने शुद्धि का पुरजोर समर्थन किया। जब मलकानों की शुद्धि पर विचार करने के लिए १९२३ के अप्रैल के महीने में बनारस में एक सार्वजनिक सभा हुई, तो उसमें हिन्दुओं के कट्टरपन्थी वर्ग ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया। यहाँ तक कि कुछ पौराणिक पण्डितों ने मलकानों के बीच जाकर कार्य करने की अपनी इच्छा भी प्रकट की। उधर आर्य-समाज से सहज द्वेष रखनेवाले संकीर्ण सनातनी संगठनों को इस बात की आशंका हुई कि मलकानों की शुद्धि करके आर्यसमाज अपनी शक्ति और ख्याति को बढ़ा रहा है। उन्हें शुद्धि-संस्कार की आर्यसमाजी विधि में भी आस्था नहीं थी। अतः सनातनियों के इस रूढ़िवादी वर्ग ने शुद्धि-सभा के स्थान पर 'हिन्दू पुनः संस्कार समिति' की स्थापना की और इसका अध्यक्ष-पद भारत धर्म महामण्डल के स्वामी दयानन्द बी० ए० को दिया।

हिन्दू संगठन

शुद्धि के साथ-साथ स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू संगठन के महत्त्व को भी अनुभव करते थे। हिन्दुओं के संख्यागत ह्रास की ओर महात्मा मुंशीराम का ध्यान एक बंगाली भद्र पुरुष कर्नल यू० मुखर्जी ने प्रथम बार १९१२ में उस समय आकृष्ट किया, जब वे कलकत्ता गये थे।[1] १९११ की जनगणना के आँकड़े प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्वामी जी को बताया कि यदि भारत में हिन्दुओं की जनसंख्या इसी रफ्तार से कम होती गई तो आनेवाले ४२० वर्षों में इस धरती पर से आर्य जाति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। स्वामी जी ने इस समस्या की गुरुता को तो तभी अनुभव किया था, किन्तु आर्यसमाज तथा गुरुकुल के संचालन की समस्याओं में व्यस्त रहने के कारण वे इस ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके थे। पुनः १९२२ तक कांग्रेस की ओर से उनका विश्वास भी विचलित नहीं था और उनकी धारणा थी कि राजनैतिक मामलों में कांग्रेस से बढ़कर अच्छा कार्य किसी अन्य संस्था द्वारा करना कठिन ही है।

१९१५ में जब अखिल भारतीय हिन्दू महासभा का गठन हुआ तो महात्मा

---

१. द्रष्टव्य—स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'हिन्दू संगठन : प्रकरण १'

मुंशीराम उसकी प्रारम्भिक बैठक में उपस्थित नहीं थे। कालान्तर में महासभाई नेताओं का ब्रिटिश शासन के प्रति अनुकूल रुख अपनाना भी उन्हें अच्छा नहीं लगा। किन्तु अब कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने के पश्चात् उन्होंने हिन्दू संगठन के लिए हिन्दू महासभा के मंच का उपयोग लेने का विचार किया। प्रारम्भ में तो उन्होंने संगठन-विषयक अपनी धारणा को अनेक लेखों में व्यक्त किया तथा संयुक्तप्रान्त में व्यापक भ्रमण कर हिन्दू संगठन के पक्ष में विशाल जनमत तैयार किया। किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द की हिन्दू संगठन सम्बन्धी धारणाएँ ठोस यथार्थ-वादपर आधारित थीं। वे यह मानते थे कि जब तक हिन्दू समाज अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर नहीं कर लेता तथा सामाजिक विषमता, जातिगत भेद-भाव, दलितों के प्रति घृणाभाव, नारी-उत्पीड़न तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों से छुटकारा नहीं प्राप्त करता, तब तक उसका संगठन-कार्य आकाशकुसुमवत् मिथ्या ही सिद्ध होगा। अतः उन्होंने हिन्दू महासभा को प्रेरणा दी कि वह अपने अधिवेशन में अछूतोद्धार के लिए ठोस कार्यक्रम बनाये, उनकी (अछूतों की) दशा को सुधारने तथा उनके अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए समुचित प्रस्ताव स्वीकार कर उन्हें क्रियान्वित करे। नव-मुस्लिमों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने के सम्बन्ध में भी उन्होंने सभा को उचित कदम उठाने के लिए कहा। स्वामी जी के सुझावों और प्रस्तावों पर हिन्दू महासभा के बनारस-अधिवेशन में विस्तारपूर्वक विचार हुआ, किन्तु इस संस्था में संकीर्ण विचारोंवाले नेताओं की ही प्रधानता थी, जिनके प्रति-गामी विचारों को जानकर उन्हें बड़ी निराशा हुई। उन्होंने अपने मन की व्यथा को प्रकट करते हुए स्वीकार किया कि हिन्दू महासभा के द्वारा उन्हें शुद्धि और संगठन के कार्य में अधिक सहयोग मिलने की आशा नहीं है। महासभा के मंच से तो अछूत भाइयों को अपने विचार प्रकट करने तक से रोका गया है।

वस्तुतः श्रद्धानन्द जैसे निष्ठावान् आर्यसमाजी के लिए हिन्दू महासभा के साथ कदम मिलाकर बहुत दूर तक चलना कठिन ही था। आर्य धर्म के प्रति अपनी अविचलित श्रद्धा रखते हुए भी स्वामी जी अन्य मत वालों की पूजा-पद्धतियों और उनके विश्वासों के प्रति समुचित आदर रखते थे। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा था कि गुरुकुल में आनेवाले अतिथियों को अपने-अपने विश्वास के अनुसार आरा-धना-उपासना करने की पूरी छूट थी। यदि जगद्गुरु शंकराचार्य भारती कृष्ण-तीर्थ काँगड़ी आये तो उन्होंने वहाँ रहकर भी देवी-देवताओं की षोडशोपचार पूजा की। मुसलमान अतिथि पंचगाना नमाज भी यथानियम पढ़ते रहे। स्वामी जी स्वयं किसी अन्य धर्म-स्थान में जाते तो वहाँ की मर्यादा और मान-सम्मान का पूरा ध्यान रखते। ऐसी स्थिति में उन्हें यह कब सह्य होता कि हिन्दू महासभा के द्वारा संकीर्ण हिन्दुत्व का पोषण किया जाय और साम्प्रदायिक विद्वेष की आग को हवा दी जाय!

शुद्धि के कार्यक्रम में आर्यसमाज की प्रखर कर्मशीलता और हिन्दू समाज पर पड़नेवाले उसके अनुकूल प्रभावों को देखकर संकीर्ण विचारधारा के सनातनी नेताओं में यह आशंका पैदा हुई कि इससे तो आर्यसमाज का ही प्रभुत्व और गौरव बढ़ेगा। ऐसी संकीर्ण मनोवृत्ति वाले सनातनी नेताओं में शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ तथा दरभंगा-नरेश रमेश्वरसिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। भारती कृष्ण-तीर्थ ने तो मद्रास में अपने एक भाषण में स्पष्ट कहा, "सनातन धर्म के नाम से आर्यसमाज का काम होता है। लोगों को शुद्ध करके यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण बनाया जाता है।" आदि।

महासभा से एक अन्य बात को लेकर भी स्वामी जी का मतभेद हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द का विचार था कि हिन्दू महासभा को विशुद्ध समाज-सुधार के कार्य में ही लगे रहना चाहिए, जब कि इस संस्था के कतिपय महत्त्वाकांक्षी नेता उसे राजनैतिक दल के रूप में देखना चाहते थे और महासभा के माध्यम से विधायक सभाओं के चुनाव लड़कर अपना स्वार्थ-साधन करना चाहते थे। स्वामी जी ने ऐसे लोगों को चेतावनी देते हुए स्पष्ट कहा—"कोरी साम्प्रदायिक नीति से प्रेरित होकर काम करनेवाले दल के मैं विरुद्ध हूँ। यदि मुसलमान तुम्हारा साथ नहीं देते, तो इसका दोष उनपर है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि तुम भी एक विशुद्ध हिन्दू राजनैतिक संगठन खड़ा कर लो।" इसी लेख में स्वामी जी ने आगे लिखा—"यत: हिन्दू महासभा एक साम्प्रदायिक-राजनैतिक संस्था बन गई है, इसलिए उसके काम में सहयोग देना मेरे लिए सम्भव नहीं रहा। मैं उसकी अधीनता में समाज-सुधार का ही काम कर सकता था।" स्वामी जी का महासभा-विषयक दृष्टिकोण उपर्युक्त उद्धरणों से नितान्त स्पष्ट हो जाता है। वे महासभा की उस राजनीति के सर्वथा विरोधी थे जो उनके जीवनकाल में ही पनपनी आरम्भ हो गई थी और जिसका चरम विकास आगे चलकर वीर सावरकर, डा० मुंजे तथा अन्य महाराष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में हुआ। अन्तत: उन्होंने हिन्दू महासभा के तत्कालीन प्रधान लाला लाजपतराय को अपना त्यागपत्र २४ जून १९२५ को भेज दिया और आर्यसमाज के माध्यम से ही शुद्धि, संगठन और अछूतोद्धार के कार्यक्रम को पूरा करने में सर्वतोभावेन लग गये।

इस बीच हिन्दू-मुसलमानों के बीच की खाई निरन्तर बढ़ती जा रही थी। १९२३ में उत्तर भारत में दोनों जातियों के बीच भीषण हिंसक दंगे हुए। मुलतान, अमृतसर, कलकत्ता, कोहाट और सहारनपुर के साम्प्रदायिक दंगों ने देश के दोनों प्रमुख मतावलम्बियों के बीच के अन्तर को और बढ़ा दिया। हिन्दू-मुस्लिम समस्या के इसी खतरनाक पहलू पर विचार करने के लिए सितम्बर १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस ने एक बैठक आयोजित की। इस बैठक की अध्यक्षता भी स्वामी जी को ही करनी पड़ी। मुसलमान नेताओं की शिकायत थी कि स्वामी

श्रद्धानन्द द्वारा आरम्भ किये गये शुद्धि और संगठन के आन्दोलनों से ही हिन्दू और मुसलमानों के बीच वैमनस्य पनपा है। एक गैरजिम्मेदार वक्ता ने तो यहाँ तक कह दिया कि दोनों जातियों के बीच दुर्भावना पैदा करने के लिए अंग्रेजों ने स्वामी जी को रुपयों की सहायता भी की है। इस प्रकार के निकृष्ट आक्षेपों को सुनकर भी स्वामी जी ने धैर्य नहीं खोया। अपने दो घण्टे के विस्तृत भाषण में उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या का गम्भीर तथा तथ्यात्मक एवं वस्तुपरक विश्लेषण किया और बताया कि साम्प्रदायिक सौहार्द को बिगाड़ने के लिए शुद्धि और संगठन को दोष देना व्यर्थ है। वास्तव में इसके लिए कतिपय मुसलमान नेताओं की संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि को ही दोषी ठहराना होगा। तथापि वे इस बात से सहमत थे कि यदि शुद्धि-कार्य को बन्द करने से राष्ट्रीय एकता को मदद मिलती हो, तो वे भारतीय शुद्धि सभा के कार्यकर्ताओं को मलकाना क्षेत्रों से हट जाने के लिए कहेंगे, परन्तु इसके साथ ही मुसलमान नेताओं को भी वहाँ से तबलीग के प्रचारक मौलवियों को हटाना पड़ेगा। इसपर दोनों पक्षों के बीच सहमति हो गई। स्वामी जी तो शुद्धि-सभा के कार्यकर्ताओं को आगरा लौट आने का परामर्श देने के लिए राजी हो गये, किन्तु मौलाना मुहम्मदअली के बार-बार कहने पर और मुस्लिम उलेमाओं के पैरों में अपनी टोपी रखकर प्रार्थना करने पर भी उन्होंने तबलीग के प्रचारकों को वापस बुलाने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार शान्ति सभा का यह नाटक बिना किसी परिणाम पर पहुँचे, स्वतः ही समाप्त हो गया।

जो लोग स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व और चरित्र को बिना समझे उनपर साम्प्रदायिकता का आरोप लगाते हैं, वे उस महापुरुष के हृदय की विशालता तथा मानवजाति के प्रति अपार आदरभाव को समझने में असमर्थ रहे हैं। स्वामी जी ने तो इदुज्जुहा (बकरीद) के अवसर पर किये जानेवाले गोवध के कारण पैदा हुई साम्प्रदायिक अशान्ति को समाप्त करने के लिए अपने ही सहधर्मियों से बार-बार अनुरोध किया तथा मानव-जाति के व्यापक हित में साम्प्रदायिक तनाव पैदा करनेवाली छोटी-मोटी बातों को भूल जाने की अपील की।

स्वामी श्रद्धानन्द को ख्वाजा हसन निजामी द्वारा लिखे गये 'दाइए-इस्लाम' नामक एक उर्दू पत्रक को पढ़कर बड़ी हैरानी हुई। इस प्रचार-पुस्तिका में ख्वाजा निजामी ने मुसलमानों से अपील की थी कि वे हर अच्छे या बुरे तरीके को काम में लाकर हिन्दुओं को मुसलमान बनायें। घर-मुहल्लों में जाकर औरतों को चूड़ी बेचनेवालों बिसातियों, यहाँ तक कि वेश्याओं तक से ख्वाजा ने पुरजोर अपील की थी कि वे अपने-अपने तरीकों से अपने सम्पर्क में आनेवाले हिन्दू स्त्री-पुरुषों को इस्लाम में शरीक होने की दावत दें। उन्होंने खासतौर से अछूतों को मुसलमान बनाने पर जोर दिया क्योंकि यदि ६ करोड़ अछूत इस्लाम स्वीकार कर लेते हैं

तो संख्या की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान बराबर हो जायेंगे और तब राजनैतिक अधिकारों को माँगते समय वे भी हिन्दुओं से बराबरी के स्तर पर आ सकेंगे। स्वामी जी ने निजामी के इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ करते हुए एक पुस्तक लिखी, जिसका हिन्दी अनुवाद था—'हिन्दुओ सावधान, तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया है।' इस्लामी षड्यन्त्र से अपने सहधर्मियों को सावधान करते हुए भी स्वामी जी ने अपनी सदाशयता तथा उदार चरित्र-वृत्ति का ही परिचय दिया। उन्होंने 'शठे शाठ्यं' की नीति का अनुसरण न कर हिन्दुओं को परामर्श दिया कि निजामी षड्यन्त्र को तभी चूर-चूर किया जा सकेगा यदि वे अपने समाज में जागरूकता पैदा करें तथा अस्पृश्यता के भयानक कोढ़ को खत्म करें ताकि अछूतों की ओर लालच-भरी दृष्टि से देखने का किसी को साहस ही न हो। साम्प्रदायिकता के प्रति स्वामी जी के दृष्टिकोण को समझने में सामान्य लोगों की असमर्थता को तो समझा जा सकता है, किन्तु महात्मा गांधी जैसा प्रबुद्ध महापुरुष भी उनके एतद्विषयक विचारों की गम्भीरता और तार्किकता को नहीं समझ सका था।

अब स्वामी जी कांग्रेस तथा महासभा दोनों से समान दूरी पर खड़े थे। उन्हें पता चला कि काकीनाडा कांग्रेस में मौलाना मुहम्मद अली ने अपने अध्यक्षीय भाषण में ६ करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों के बीच आधा-आधा बाँट लेने की बात कही है। मौलाना के इस गैरजिम्मेदाराना बयान ने हिन्दू-नेताओं को क्षणभर के लिए स्तब्ध तो किया, किन्तु वे अछूत-समस्या के निराकरण के लिए कोई ठोस कार्यक्रम बना सकने पर सहमत नहीं हो सके। स्वामीजी ने हिन्दू महासभा की बैठकों में सम्मिलत होना ही बन्द कर दिया। महासभा पर सनातनी पण्डितों का प्रभाव इतना अधिक था कि सभा की दृष्टि में दलित लोगों को यज्ञोपवीत देना, उनके साथ सहभोज करना, उन्हें वेद पढ़ाने या देव-मन्दिरों में प्रवेश करने के अधिकार देना आदि बातें हिन्दू शास्त्रों के विरुद्ध तथा सनातनी विचारधारा के प्रतिकूल समझी जाती थीं, इसलिए सभा के द्वारा इन्हें स्वीकार किया जाना कठिन था। जहाँ तक शुद्धि का प्रश्न था, सनातनी पण्डित शुद्ध होनेवाले गैरहिन्दुओं को हिन्दू धर्म में लेने के लिए तो तैयार थे, किन्तु वे उन्हें किसी जाति के भीतर प्रवेश कराने में स्वयं को असमर्थ पाते थे। इस प्रकार की कदर्यता और साहसहीनता का परिचय देनेवाले महासभाई नेताओं के साथ स्वामी जी का तालमेल बैठना कठिन था। दूसरी ओर महात्मा गांधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं को भी वे अपनी बात समझाने में असमर्थ रहे। अपने बम्बई-प्रवास के दौरान जुहू में महात्मा जी से उनकी मुख्य बातचीत शुद्धि और संगठन जैसे मसलों पर ही हुई थी, किन्तु दो घण्टे के इस लम्बे वार्तालाप का भी कोई सन्तोषप्रद समाधान नहीं निकला। उल्टा महात्मा जी ने अपने पत्र 'यंग इण्डिया' के २९ मई १९२५ के अंक

में 'हिन्दू मुस्लिम तनाव : कारण और निवारण' शीर्षक एक लेख में स्वामी जी का उल्लेख करते हुए लिखा—"स्वामी श्रद्धानन्द जी भी अब अविश्वास के पात्र बन गये हैं। मैं जानता हूँ कि उनके भाषण प्राय: भड़कानेवाले होते हैं। दुर्भाग्यवश वे यह मानते हैं कि प्रत्येक मुसलमान को आर्य धर्म में दीक्षित किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अधिकांश मुसलमान सोचते हैं कि किसी-न-किसी दिन हर गैरमुस्लिम इस्लाम को स्वीकार करही लेगा। श्रद्धानन्द जी निडर और बहादुर हैं। उन्होंने अकेले ही पवित्र गंगातट पर एक शानदार ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) खड़ा कर दिया है। किन्तु वे जल्दबाज हैं और शीघ्र ही उत्तेजित हो जाते हैं। उन्हें आर्यसमाज से ही यह विरासत मिली है।" और जब आर्यसमाज की बात चल पड़ी तो महात्मा जी सत्यार्थप्रकाश और उसके लेखक पर भी आक्षेप करने से नहीं चूके। उन्होंने स्वामी दयानन्द पर आरोप लगाते हुए कहा कि "उन्होंने संसार के एक सर्वाधिक उदार और सहिष्णु धर्म को संकीर्ण बना दिया।" इसी प्रसंग में उन्होंने आगे लिखा—"जहाँ कहीं आप आर्यसमाजियों को देखते हैं, आप उनमें जीवन और शक्ति पाते हैं। किन्तु अपने तंग नजरिये और लड़ाकू स्वभाव के कारण या तो वे दूसरे मत वालों से लड़ते हैं और ऐसा न होने पर आपस में ही झगड़ते हैं। श्रद्धानन्द जी में भी इसी मनोवृत्ति का प्रचुर अंश है··· यह सम्भव है कि आर्यसमाज और स्वामी जी के बारे में मैंने जो कुछ लिखा है उससे उन्हें नाराजगी होगी, किन्तु मैं ऐसा लिखकर कोई अपराध नहीं कर रहा हूँ। मुझे आर्यसमाजियों से प्रेम है, क्योंकि उनमें से अनेक मेरे सहयोगी और साथी हैं। मेरा तो स्वामी दयानन्द के प्रति प्रेम हो गया था, जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था। हालाँकि मैं उनको अब अधिक अच्छी तरह से जान पाया हूँ तथापि उनके प्रति मेरा प्रेम कम नहीं हुआ है। यह मेरा उनके प्रति प्रेम ही है, जिसके कारण मैं यह सब लिख सका हूँ।"

गांधी जी की इन प्रेम-मिश्रित कटूक्तियों और व्यंग्योक्तियों का अन्य आर्य नेताओं ने चाहे कितना ही बुरा मनाया, किन्तु स्वामी श्रद्धानन्द ने उसे अन्यथा नहीं लिया। जब स्वामी जी से गांधी जी के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—"मेरे उत्तर देने की कोई आवश्यकता नहीं है। गांधी जी का वदतोव्याघातयुक्त कथन ही उनके आक्षेपों का सही प्रतिवाद है। इसी से पता चल जाता है कि वे आर्यसमाज से क्यों नाराज हैं। यदि आर्यसमाजी अपने प्रति सच्चे हैं तो महात्मा गांधी या किसी अन्य व्यक्ति के आरोप और आक्रमण भी आर्यसमाज की प्रवृत्तियों में बाधक नहीं बन सकते।" इस प्रकार महात्मा जी के आक्षेपों से सर्वथा अविचलित रहकर स्वामी जी ने चारित्रिक दृढ़ता का तो परिचय दिया ही, निन्दा और स्तुति को समान माननेवाली अपनी स्थितप्रज्ञ वृत्ति को भी चरितार्थ किया। वे धीरे-धीरे किन्तु सधे कदमों से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे।

मुसलमानों में खिलाफत के दिनों राष्ट्रभक्ति और देश-सेवा का जज्बा पैदा हुआ था, वह तो तुर्की में कमालपाशा द्वारा खिलाफत के खात्मे के साथ ही खत्म हो गया। अब उनमें विघटनकारी तथा साम्प्रदायिक ताकतें और जोश के साथ उभरने लगीं। ख्वाजा हसन निजामी की पुस्तक 'दाइए इस्लाम' के जवाब में स्वामी श्रद्धानन्द ने "खतरे का घण्टा" लिखकर हिन्दुओं को मुस्लिम धर्म-प्रचारकों की घिनौनी साजिश से सावधान किया था। महात्मा गांधी ने २६ मई १६२५ के यंग इण्डिया के अंक में 'दाइए इस्लाम' की अच्छी-खासी आलोचना की थी। इस पर ख्वाजा साहब को थोड़ा पश्चात्ताप तो हुआ और उन्होंने गांधी जी को सूचित किया कि उन्होंने अपनी पुस्तक से कुछ आपत्तिजनक बातों को हटा दिया है और वह इसके भावी संस्करणों को महात्मा जी के सुझावों के अनुरूप संशोधित करने के लिए भी तैयार हैं। इतना ही नहीं, उसने गांधी जी से भेंट कर व्यक्तिगत स्पष्टीकरण भी दिया किन्तु महात्मा जी इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। स्वामी श्रद्धानन्द का कहना था कि निजामी की इस पुस्तक ने उत्तर भारत में सर्वत्र हिन्दू-मुस्लिम तनाव पैदा कर दिया है, अत: ख्वाजा की इस दुष्टतापूर्ण कार्यवाही का भण्डाफोड़ किया जाना आवश्यक है। स्वामी जी ने 'दाइए इस्लाम' में लिखी अपनी पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया और इसमें मौलाना अब्दुलबारी के एक अन्य आपत्तिजनक कथन का घोर प्रतिवाद किया जिसमें इस्लाम से मुनकिर (न माननेवाले) को मार डालने की वकालत की गई थी। स्वामी जी को यह देखकर बड़ी हैरानी हुई कि गांधी जी को उनके द्वारा की गई इस्लामी कट्टरता की आलोचना तो अखरती है, जब कि ख्वाजा निजामी और अब्दुलबारी के खतरनाक इरादों-भरे लेखन की आलोचना करने में उनको संकोच होता है। महात्मा जी का यह पक्षतापूर्ण रवैया उन्हें तनिक भी अच्छा नहीं लगा, क्योंकि काफिरों और मुनकिरों के कत्ल को जायज माननेवाला अब्दुलबारी महात्मा जी की दृष्टि में 'ईश्वर का सीदा-सादा बच्चा"[1] और एक दोस्त था,[2] जबकि स्वामी श्रद्धानन्द को उन्होंने क्रोधी तथा झगड़ालू प्रकृति का कहा था। स्वामी जी ने स्पष्ट कहा कि दिल्ली में बकरीद पर जो अशान्ति पैदा हुई, उसका कारण निजामी की उक्त पुस्तक तथा अब्दुलबारी का कथित लेख ही था। अब्दुल बारी ने तो यहाँ तक कह दिया था कि इस्लाम के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म को अपने भीतर अन्य मतावलम्बियों को प्रविष्ट कराने का अधिकार ही नहीं है। वह तो स्वामी जी पर व्यक्तिगत आक्षेप करने से भी नहीं चूका। उसने कहा कि स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दुओं के प्रतिनिधि नहीं हैं। उसने आर्यसमाज को धर्मविहीन संस्था कहा तथा उसे कुचल डालने के

---

१. He is a Simple child of God.

२. He is a friend.

लिए अपने सहधर्मियों को प्रेरित किया।

हसन निजामी और अब्दुलबारी जैसे कट्टर तथा साम्प्रदायिक द्वेष से अन्धे मुसलमानों के आक्षेपों का सटीक उत्तर देने के लिए ही स्वामी जी ने अपनी प्रसिद्ध लेखमाला "अन्धा एतकाद और खुफिया जेहाद" लिखनी आरम्भ की, जिसका धारावाही प्रकाशन दैनिक उर्दू पत्र 'तेज' में होने लगा। इसमें उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों में अपने मत-प्रचार के लिए पाई जानेवाली मतान्धता को ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर उजागर किया। ईसाइयों के जेसुइस्ट सम्प्रदाय की प्रचार-प्रवृत्तियों का भी इस लेखमाला में भण्डाफोड़ किया गया।

देश में साम्प्रदायिक ताकतों को उभरता हुआ देखकर महात्मा जी ने १९२४ में २१ दिन का उपवास किया। इसका प्रयोजन स्वयं की आत्मशुद्धि तथा देश में साम्प्रदायिक सौमनस्य के लिए ईश्वर से प्रार्थना करना ही बताया गया था। गांधी जी का उपवास देश में हलचल मचा देने के लिए पर्याप्त था। दिल्ली में बड़े पैमाने पर हिन्दू-मुसलमान नेताओं ने मिलकर एकता सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें मौलाना मुहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ तथा स्वामी श्रद्धानन्द जैसे नेता उपस्थित थे। पं० मोतीलाल नेहरू ने इसकी अध्यक्षता की और इस सम्मेलन द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव में गांधी जी ने निवेदन किया कि वे अपना उपवास खत्म कर दें। गांधी जी ने एकता सम्मेलन की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया। छः दिन तक के गम्भीर विचार-विमर्श के पश्चात् इस सम्मेलन में एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमें सभी प्रकार की साम्प्रदायिक हिंसा की निन्दा करते हुए देश में सहयोग और शान्ति का वातावरण कायम करने पर जोर दिया गया। प्रस्ताव का देश के साम्प्रदायिक माहौल पर कोई असर हुआ या नहीं, यह तो विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु महात्मा जी ने इस समय अपना उपवास समाप्त कर दिया।

इस प्रकार कांग्रेस तथा हिन्दू महासभा दोनों ओर से निराश होकर स्वामी जी पुनः आर्यसमाज की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने अछूतोद्धार के कार्य में कांग्रेस की विवशता को समझकर महात्मा जी को लिखा था कि वे इस कार्य को महासभा के लिए छोड़ दें, किन्तु जब हिन्दू महासभा में विद्यमान पौराणिक और रूढ़िवादी तत्त्वों ने शुद्धि और दलितोद्धार के काम में रुकावटें डालनी आरम्भ कीं, तो स्वामी जी ने महासभा को भी कह दिया कि यह कार्य उसके वश का नहीं है। इस कार्य को आर्यसमाज को करने देना चाहिए क्योंकि आर्यसमाज में अछूतोद्धार के लिए सच्ची तड़प है। यह कार्य आर्यों के लिए केवल दिखावे का नहीं है। वे शुद्ध हुए अछूतों तथा दलितवर्ग के लोगों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने के लिए भी तैयार हैं। अब उन्होंने "हिन्दू संगठन" के स्थान पर "आर्य संगठन" शब्द प्रयुक्त करना उचित समझा और बताया कि हिन्दुओं को संगठित करने का काम

आर्यसमाज का है, किन्तु इससे पहले कि वे हिन्दू समाज के विभिन्न घटकों में एकता स्थापित करने का प्रयास करें, खुद आर्यों में एकता होना आवश्यक है। इस चिन्तन के अनुसार उन्होंने सर्वप्रथम पंजाब का दौरा किया और आर्यसमाज के दोनों दलों की एकता के लिए कुछ मुद्दे तय किये। एकता के इन सूत्रों का सार इस प्रकार है—(१) कॉलेज दल के लोग अपनी साधारण सभा में मांसाहार को वेदविरुद्ध घोषित कर। (२) गुरुकुल दल के लोग जब यह देख लें कि कॉलेज दल के लोगों ने मांसाहार को अवैदिक मान लिया है, तो वे उस दल के लोगों के व्यक्तिगत खान-पान की समीक्षा करना त्याग दें। इसके पश्चात् दोनों दलों के लोग मिलकर अपनी सभाओं में भी एकता और ताल-मेल लाने का प्रयास करें। परन्तु स्वामी जी को इस कार्य में भी निराशा ही हाथ लगी। आर्यसमाज के दोनों पक्षों के नेताओं ने बहाना बनाकर उनसे भेंट का अवसर ही टाल दिया।

हिन्दुओं के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में सौहार्द और सद्भाव का वातावरण बनाने के लिए भी स्वामी जी की एक सुनिश्चित योजना थी। उन्होंने आर्यसमाजियों को प्रेरणा दी कि वे सनातनधर्मियों को चिढ़ाने या भड़कानेवाली बातें अपने मंच से न कहें और न शास्त्रार्थ के ही लिए उन्हें उत्तेजना दें। यहाँ तक कि उन्होंने कादियानी मुसलमानों से भी शास्त्रार्थ करने से आर्यसमाज को मना किया। स्वामी जी द्वारा की गई एकता की उन अपीलों का कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। पंजाब के सनातनी नेताओं ने तो उनसे मिलने से भी इन्कार कर दिया और उधर मुसलमानों में विद्यमान साम्प्रदायिक तत्त्व स्वामी जी के विरुद्ध घृणा और शत्रुता के भावों का निरन्तर प्रचार कर रहे थे। आर्य-सनातनी-मिलाप या आर्य-मुस्लिम-मिलाप का स्वप्न तो स्वप्न ही रहा। आर्यसमाज के दोनों दलों को मिलाने में भी जब स्वामी जी कृतकार्य नहीं हुए, तो उन्होंने अपनी असफलता निम्न शब्दों में स्वीकार कर ली—७ नवम्बर १९२५ को 'आर्यसमाज में मिलाप' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा—"मेरा लेख बहरे कानों में पड़ा···अब स्थिति यह है कि दोनों दल मिलना नहीं चाहते। कोई तीसरा प्रयत्न उन्हें मिला नहीं सकता ···मेरा प्रयत्न समाप्त हो गया। अब इस विषय में दखल नहीं दूंगा।" स्वामी जी ने इस लेख में इस शंका का भी निवारण कर दिया कि कहीं उनके सन्धि-विषयक प्रयत्नों का कोई यह अर्थ न लगाये कि ऐसा करके वे दोनों दलों का नेतृत्व हथियाना चाहते हैं। नेतृत्व की कामना अब उनमें लेशमात्र भी नहीं थी। वे तो यही चाहते थे कि आर्यसमाज के हित में दोनों दल आपस के भेद भुला दें और हिन्दू धर्म और समाज तथा राष्ट्र के व्यापक हित में मिलकर कार्य करें।

अध्याय ११

महाबलिदान

१६२६ के मार्च मास में दिल्ली में एक मुस्लिम महिला असगरी बेगम की शुद्धि हुई और उसे शान्ति देवी का नाम दिया गया। इस घटना ने मुस्लिम समाज को हिला दिया। असगरी कराची से अपने बच्चों को लेकर आई और उसने स्वामी जी के सम्मुख हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रकट की। वस्तुत: वह अपने घर के लोगों से छिपकर कराची से दिल्ली आई थी। शुद्धि सम्पन्न हो जाने पर शान्ति देवी को उसके बच्चों सहित दिल्ली के आर्य विधवाश्रम में रक्खा गया। कुछ समय पश्चात् उसका पिता, मौलवी ताज मुहम्मद और पति अब्दुल हकीम भी दिल्ली आ गये। उन्होंने शान्ति देवी से मिलकर उसे पुन: इस्लाम कुबूल करने के लिए मनाया, किन्तु शान्ति देवी ने ऐसा करने से साफ इन्कार कर दिया। इस पर इन लोगों ने स्वामी श्रद्धानन्द, उनके पुत्र प्रो० इन्द्र तथा स्वामी जी के दामाद डॉ० सुखदेव पर २ सितम्बर को असगरी बेगम तथा उसके बच्चों को भगाने का आरोप लगाते हुए मुकद्दमा दायर कर दिया। काफी लम्बी सुनवाई के बाद ४ दिसम्बर को अदालत ने फैसला सुनाते हुए सभी अभियुक्तों को निर्दोष मानकर बरी कर दिया।

स्वामी जी तथा उनके साथी न्यायालय की दृष्टि में तो निरपराधी स्वीकार कर लिये गये, किन्तु मतान्ध मुस्लिम समान ने इसके लिए उन्हें क्षमा नहीं किया। स्वामी जी के विरोध में खुलेआम भड़कानेवाली बातें कही गईं और उन्हें इस्लाम का शत्रु घोषित कर दिया गया। खास तौर से ख्वाजा हसन निजामी के अखबार 'दरवेश' ने इस विरोधी वातावरण को और अधिक विषाक्त बनाया। प्रो० इन्द्र जी को स्वामी जी की सुरक्षा की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था, किन्तु स्वामी जी स्वयं सब ओर से निर्भीक थे। उनका मुसलमानी मुहल्लों की ओर सायंकालीन भ्रमण यथापूर्वक चलता रहा।

नवम्बर १६२६ में स्वामी जी बनारस गये। वहाँ उन्होंने कई भाषण दिये। उनका दिसम्बर में गोहाटी में सम्पन्न होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन में भी जाने का इरादा था, किन्तु बनारस से वे न्यूमोनिया लेकर ही लौटे। वृद्ध शरीर, कठिनाई-

भरे सफर और मौसम की शुरूआत की सर्दी को सह नहीं सका। दिल्ली लौटकर आये तो कुरुक्षेत्र जाने का निश्चय किया, जहाँ वे प्राय: विश्राम के लिए जाते थे। किन्तु एक दिन गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के लोगों का आग्रह मानकर वहाँ के लिए चल पड़े। सर्दी में इस १२ मील की मोटर-यात्रा ने स्वामी जी को झकझोर दिया और वे सन्ध्या को जब दिल्ली लौटे, तो उन्हें तेज बुखार था। डॉक्टर अंसारी की चिकित्सा आरम्भ हुई। कुछ आराम भी आया। स्वामी जी को लगने लगा कि उनके जीवन के दिन अब कुछ गिनती के ही हैं। वसीयत लिखा देने की भी बात चली। प्रो० इन्द्र को उन्होंने आर्यसमाज का इतिहास लिखने का दायित्व सौंपा। इस कार्य को वे खुद पूरा करना चाहते थे, किन्तु सार्वजनिक जीवन की व्यस्तताओं के कारण इस ओर कुछ कर नहीं सके थे।

अब चिकित्सा का जिम्मा स्वामी जी के दामाद डॉ० सुखदेव ने लिया। डॉ० सुखदेव जी की धारणा थी कि एक-दो दिन में स्वामी जी अच्छे हो जायेंगे, किन्तु स्वामी जी का मन मानो कह रहा था—'अब मेरा यह शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इस रोगी देह से अब देश का क्या कल्याण होगा! अब तो यही इच्छा है कि दूसरा जन्म लेकर नये देह से इस जीवन का अधूरा काम पूरा करूँ।' यही बात उन्होंने पं० दीनदयालु से भी कही जो २१ दिसम्बर को उनसे भेंट करने आये थे। जब व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु ने स्वामी जी से कहा कि इतनी जल्दी मोक्ष में जाने की वे क्यों तैयारी कर रहे हैं, तो स्वामी जी ने उत्तर में कहा कि इस कलियुग में मोक्ष की इच्छा नहीं है। अब तो यह चोला बदलकर दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूँ। यही बात उन्होंने २३ दिसम्बर को अपने बलिदान के ही दिन शुद्धि-सभा के मंत्री स्वामी चिदानन्द जी से भी कही, जब वे शुद्धि-सभा के प्रधान राजा रामपालसिंह कालाकांकर-नरेश का सन्देश लेकर स्वामी जी से मिलने आये थे, जिन्होंने उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछा था। और अन्त में उनके महाप्रस्थान का दिन आ ही गया। स्वामी जी के महाबलिदान की कथा हम 'हरियाणा-तिलक' नामक एक उर्दू पत्र के २७ दिसम्बर १९२६ के अंक में प्रकाशित विवरण को शब्दश: उद्धृत कर प्रस्तुत कर रहे हैं—

"हरियाणा तिलक", २७ दिसम्बर १९२६—

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज शहीद हो गये।

बिस्तरे-अलालत पर एक जालिम की पिस्तौल का वार

कमीना जालिम गिरफ्तार कर लिया गया।

"दिल्ली, २३ दिसम्बर: आज शाम को चार बजे के करीब एक मुसलमान स्वामी जी के मकान वाकये नया बाजार पर पहुँचा। स्वामी जी एक अर्सा से मर्ज निमूनिया में मुब्तला थे। थोड़ा-बहुत आराम शुरू हो गया था और इस वक्त आराम कर रहे थे। स्वामी जी के नौकर ने इस शख्स को यह कहकर मना किया

कि स्वामी जी आजकल बीमार हैं और वे मुलाकात नहीं करेंगे। यह गुफ्तगू स्वामी जी ने सुन ली और अन्दर से आवाज दी कि कौन हैं? आने दो, कुछ डर की बात नहीं। इसपर वह शख्स स्वामी जी के पास जाकर बैठ गया और कहने लगा कि मैं आपसे इस्लाम के मुतल्लिक बहस करना चाहता हूँ। स्वामी जी ने जवाब दिया कि मैं अब तो बीमार हूँ, जब अच्छा हो जाऊँगा तो बातचीत कर सकूँगा। उसने फिर पानी पीने की ख्वाहिश जाहिर की। स्वामी जी ने नौकर से पानी लाने को कहा। इसपर कातिल ने बाहर जाकर नौकर से पानी पिया और वापस लौटते ही स्वामी जी पर, जो मसनद के सहारे बैठे हुए थे, पिस्तौल से वार किया। पहली गोली स्वामी जी की छाती में लगी और गोली के लगते ही फौरन उनके प्राण निकल गये। दो गोलियाँ कातिल ने और चलाईं। उनमें से एक कान के बराबर से निकल गई। जब कि वह गोली चला रहा था तो स्वामी जी के नौकर ने उसको पीछे से पकड़ लिया और हाथ से पिस्तौल छीन लेने की कोशिश की। इस असना में गोली का एक और वार हुआ जो मुलाजिम की रान में लगा।

इसके बाद स्वामी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी, एक स्नातक गुरुकुल ने, कातिल को पकड़कर नीचे गिरा लिया और उसको काबू में कर लिया। जख्म स्नातक जी को भी आये। जब कि ये दोनों आपस में गुत्थमगुत्था हो रहे थे तो जख्मी मुलाजिम ने बाहर के लोगों को आवाज दी। थोड़ी ही देर के बाद प्रो० इन्द्र, डॉ० सुखदेव वगैरह मौका-ए-वारदात पर पहुँच गये। लोगों का मजमा होने लगा। कहा जाता है कि कुछ मुसलमानों ने मजमें में घुसने की कोशिश की कि किसी तरह कातिल को बचाकर ले-जाया जाये। किसी कदर मारपीट भी अमल में आई। इतने में पुलिस आ गई। मुलजिम को गिरफ्तार कर लिया और तमाम हालात पर काबू पा लिया। कातिल ने अपना नाम रशीद बतलाया। वह पतले-से जिस्म का एक जवान है, चटाई की टोपी और अचकन, ढब्बेदार पाजामा और पाँव में पंजाबी जूती पहने हुए था।

डॉ० अंसारी वगैरह डॉक्टरों ने आकर स्वामी जी के जिस्म का मुआइना करके बताया कि प्राण निकल चुके थे। जिस्म इस तरह रक्खा हुआ था कि गोया समाधि की अवस्था में हो।"

बलिदान के तीसरे दिन स्वामी जी के शरीर की अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई। उनके जीवनी-लेखक पं० सत्यदेव विद्यालंकार ने अन्त्येष्टि के जुलूस को "न भूतो न भविष्यति" कहा है। उनके शब्दों में जब शनिवार को अर्थी का जो विराट् जुलूस निकला, वह सम्राटों को भी रिझानेवाला था। लाखों लोगों ने अपने दिवंगत नेता को पुष्प-वर्षा कर श्रद्धांजलि अर्पित की। यमुना के निगमबोध घाट पर अग्निदेव ने अपनी ज्वालाओं में उस संन्यासी के शरीर को समेट लिया, जो स्वयं अग्नि के तुल्य ही तेजस्वी तथा अग्निशिखा के तुल्य काषाय वस्त्रों से आच्छादित था।

अध्याय १२

चरित्र-विश्लेषण

जैसा कि इस जीवन-गाथा को आरम्भ करते समय हमने लिखा था, स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन अध:पतन के गहरे गह्वर से निकलकर सार्थकता के सर्वोच्च सोपान पर चढ़ जाने की एक गौरवमयी कथा है। इस महापुरुष के जीवन वृत्तान्त को समाप्त करके हमने अपने उक्त कथन की सत्यता को ही प्रमाणित किया है। अपनी किशोर और युवावस्था में चारित्रिक पतन की विभीषिकाओं ने उन्हें समय-समय पर त्रस्त और भयभीत तो किया, किन्तु उनपर विजय प्राप्त करने की उनकी चेष्टायें भी निरन्तर चलती रहीं और अन्ततः पर्याप्त प्रयास के पश्चात् ही सही, वे अपनी इन क्षुद्र इन्द्रियजन्य दुर्बलताओं को नियन्त्रित कर सके। उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तब आया, जब बरेली में उन्हें ऋषि दयानन्द के तेजोपूत, ब्रह्मचर्य की गरिमा से उद्दीप्त, लोकहित के प्रति पूर्णतया समर्पित, सत्य और धर्म के लिए सर्वथा संकल्पित व्यक्तित्व को निकट से जानने का अवसर मिला। यूरोप के प्रखर चिन्तकों और तार्किक दार्शनिकों के विचारों के रंग में रंगे मुंशीराम को प्रथम बार ज्ञात हुआ कि भारत का यह साधु, जो सर्वथा निरासक्त जीवन व्यतीत करते हुए भी समाज और राष्ट्र की कल्याण-कामना करता है तथा लोगों के बौद्धिक क्षितिज के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है, कोई काम की बात कह सकता है। अन्यथा दयानन्द की वक्तृता सुनने से पहले तक तो उसे विश्वास ही नहीं था कि भारत का भिक्षोपजीवी संन्यासी-वर्ग भी कोई अक्ल की बात करता है।

दयानन्द का यह सम्पर्क ही मुंशीराम के जीवन को पतन की कारा से मुक्त करा सका और उसके पश्चात् तो उनकी जीवनधारा जिस दिशा की ओर उन्मुख हुई, उससे वे निरन्तर श्रेय साधना में ही लगे रहे। श्रद्धानन्द का जीवन श्रद्धा और विश्वास के दो सूत्रों से सतत ओतप्रोत रहा। जिन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी आस्था रही, उनको स्वयं में लाने तथा अन्यों में प्रचारित करने में वे सदा तत्पर रहे। इसी प्रकार जिन विचारों और कार्यक्रमों के प्रति उनकी

आस्था समाप्त होती गई, उनको त्यागने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं हुआ। लाहौर में रहते समय वे ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के प्रति समान रूप से आकर्षण का अनुभव करते थे, किन्तु जब अपनी पुनर्जन्म-विषयक जिज्ञासा का समाधान उन्हें सत्यार्थप्रकाश में मिला, तो वे दयानन्दीय विचारधारा के प्रति पूर्णतया अनुरक्त और समर्पित हो गए तथा अपने अवशिष्ट जीवन को आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में ही लगा दिया।

श्रद्धानन्द का सार्वजनिक जीवन निरन्तर विकसनशील रहा, किन्तु उसका केन्द्रबिन्दु आयसमाज ही था जो धर्म, समाज और राष्ट्र के कल्याण के साथ विराट् मानवहित जैसे लोकोत्तर आदर्श को लक्ष्य बनाकर जनमानस को आन्दोलित और प्रभावित करता था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक में वे अपने जन्म-प्रान्त पंजाब की आर्य सामाजिक गतिविधियों के सूत्रधार बने रहे। जालन्धर और लाहौर, दोनों स्थान उनके शक्ति-केन्द्र थे। आर्यसमाज जालन्धर के प्रधान-पद पर रहकर उन्होंने धर्मप्रचार की मस्ती को अनुभव किया तथा अपने आचार्यदेव के स्वप्नों को सार्थक बनाने हेतु अधिकतम त्याग, परिश्रम, अध्यवसाय और पुरुषार्थ का जीवन जिया। लाहौर के उनके सामाजिक जीवन ने उन्हें आर्यसमाज के एक दल के गौरवशाली नेता के पद पर प्रतिष्ठित किया, जो उतना अधिक चुनौती-भरा भी सिद्ध हुआ। जब मांसाहार के विरोध तथा पाश्चात्य शिक्षा को प्रधानता न देकर गुरुकुलीय शिक्षा के प्रवर्त्तन जैसे मुद्दों पर उनका विपक्षी दल से टकराव हुआ, तो मुंशीराम की चारित्रिक दृढ़ता, सिद्धान्त-निष्ठा तथा वैदिक धर्म के प्रति उनके अनन्य प्रेम की ही परीक्षा हुई। दलीय संघर्ष की इस अग्नि ने तपाकर मुंशीराम को कुन्दन बना दिया और अब वे मात्र आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के ही प्रधान नहीं रहे, किन्तु सम्पूर्ण आर्य जगत् के बेताज बादशाह बन गये। उनके समक्ष विरोधी पक्ष के साधारण नेता तो बौने ही लगते थे। महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय की ख्याति तथा प्रसिद्धि के तो कुछ अन्य कारण भी थे।

लाला मुंशीराम के आर्यसमाज में प्रविष्ट होते समय लाहौर आर्यसमाज के पितामह तुल्य लाला साईंदास ने कहा था कि आज एक नई शक्ति का आर्यसमाज में प्रवेश हो रहा है, पता नहीं यह आर्यसमाज को तारेगी या डुबायेगी। श्रद्धानन्द-चरित का पूर्ण अवगाहन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुंशीराम नाम का जो व्यक्ति उस दिन आर्यसमाज लाहौर का सभासद् बना था, उसने ऋषि दयानन्द की इस दिव्य संस्था के गौरव को चार चाँद ही लगाये हैं। आज आर्यसमाज के ११२ वर्ष के इतिहास में दयानन्द के पश्चात् श्रद्धानन्द से भिन्न हमें कोई ऐसी हस्ती दिखाई नहीं देती, जिसने धर्म, समाज, राष्ट्र तथा अखिल मानवजाति के हितचिन्तन में अपने-आपको इस प्रकार सर्वथा निमज्जित

और समर्पित किया हो।

भारत की शिक्षा-प्रणाली में पुरातन तत्त्वों को पुनः प्रविष्ट कराना तथा उसे नैतिकता, चरित्र, धर्म, त्याग औरबलिदान की सिद्धि में नियोजित करना महात्मा मुंशीराम का एक अन्य ऐतिहासिक कार्य था। जो लोग श्रद्धानन्द का एक आर्य-समाजी नेता के रूप में मूल्यांकन नहीं करते, वे भी मानते हैं कि भारत की शिक्षा में नैतिक मूल्यों का प्रवेश उनके द्वारा ही सम्भव हुआ। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्वविद्यालय तो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की प्रति-द्वन्द्विता में स्थापित पाश्चात्य प्रणाली की एक शिक्षण-संस्था ही बनकर रह गया, किन्तु गुरुकुल काँगड़ी तो भारत की उस पुरातन शिक्षा-व्यवस्था को ही पुन-रुज्जीवित करने का एक सार्थक प्रयास था, जिसका उल्लेख प्राचीन संस्कृत-साहित्य तथा आर्ष ग्रन्थों में तो उपलब्ध होता है, किन्तु विगत अनेक शताब्दियों तक उसके अनुरूप कोई संस्था सचमुच भारत में पनप सकी है, यह कहना कठिन है। गुरुकुल की शिक्षा-पद्धति को देखकर यदि देशभक्त एण्ड्रूज तथा इंग्लैण्ड के रैम्ज़े मैकडॉनल्ड जैसे राजनीतिज्ञों को आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई, तो महात्मा गांधी जैसे भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने भी उसकी प्रशंसा करने में कंजूसी नहीं दिखाई। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में वही गुरुकुल काँगड़ी अपने संस्थापक के आदर्शों से च्युत होकर पश्चिम की प्रणाली पर संचालित भारत की उन सैकड़ों यूनीवर्सिटियों में एक बनकर रह गया और उसकी सारी विशिष्टतायें उसके संचालकों की अक्षमता, दृष्टिहीनता तथा गुरुकुलीय आदर्शों के प्रति आस्था के अभाव के कारण एक-एक कर नष्ट होती गईं।

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य-पद पर अपने जीवन के कुछ न्यून दो दशक व्यतीत करने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द को लगा कि अब उन्हें गुरुकुल की प्राचीरों से बाहर निकलकर देश की स्वाधीनता के यज्ञ में भी अपनी आहुति देनी है। दक्षिण अफ्रीका में कुछ ठोस सेवा करके स्वदेश लौटनेवाले जिस कर्मवीर गांधी का उन्होंने गुरुकुल में उस समय स्वागत किया था, जबकि देश के अधिकांश लोग उसे भलीभाँति जानते भी नहीं थे, और जिसे उन्होंने 'महात्मा' कहकर पुकारा था, सौराष्ट्र का वही बैरिस्टर मोहनदास गांधी अब भारत के जन-मन की आशाओं और आकांक्षाओं का प्रतीक बन देश में सर्वत्र देवता की भाँति पूजा और आराधना का पात्र बना हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द ने अनुभव किया कि देश के लिए भी कुछ करने का समय अब आ गया है। १६१७ से १६२२ तक के पाँच वर्ष राष्ट्रदेव की सेवा में उन्होंने समर्पित किये। यही वह समय था, जब दिल्ली के चाँदनी चौक में उन्होंने सिपाहियों की संगीनों के प्रहार के लिए अपनी छाती को खोला, जामा मस्जिद की प्रवचन-वेदी से परमपिता की पुनीत महिमा का आख्यान करते हुए हिन्दुओं और मुसलमानों को देश के लिए सर्वस्व निछावर

करने की प्रेरणा की, कांग्रेस की उच्च कमान के एक महत्त्वपूर्ण अंग बनकर इस राष्ट्रीय संस्था की नीतियों का संचालन किया और समकालीन राष्ट्रनेताओं के आदरास्पद बने। राजनीति में धर्म, नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के पावन मूल्यों को समाविष्ट कराने का श्रेय महात्मा गांधी को तो निश्चय ही मिला, किन्तु इसके लिए इतिहासकार स्वामी श्रद्धानन्द को भी विस्मृत नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन्होंने ही सत्याग्रह को 'धर्मयुद्ध' की संज्ञा दी थी तथा जिन्हें अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के पद को स्वीकार करने का अनुरोध करते समय महात्मा गांधी ने लिखा था—"यदि आप स्वागत-समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

कांग्रेस के कार्यक्रम में स्वदेशी के महत्त्व, राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार तथा अछूतोद्धार जैसे रचनात्मक मुद्दों को स्थान दिलाने के लिए स्वामी जी का कर्तृत्व सदा याद किया जाता रहेगा। महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में उनकी कितनी जबरदस्त आस्था थी, यह हम उनके उस पत्र में देखते हैं, जो उन्होंने २५ सितम्बर १९२० को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी को लिखा था। इसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि "इस समय में मेरी सम्मति में असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृतकार्य हुआ और महात्मा गांधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन व मृत्यु का प्रश्न हो गया है।" राष्ट्र की आजादी की लड़ाई के सैनिक बनने में यदि उन्हें गुरुकुल या आर्यसमाज का काम थोड़े समय के लिए छोड़ना भी पड़ा तो उसका उन्हें कोई खेद नहीं था, क्योंकि उन्हें देश की स्वतन्त्रता का यह युद्ध सर्वोपरि दीखता था।

किन्तु जब उन्होंने देखा कि आजादी की लड़ाई का यह कर्णधार (गांधी जी) खुद कभी-कभी सनक में आकर ऐसे फैसले कर जाता है जिनसे सारे देश को परेशानी का सामना करना पड़ता है और देशवासियों की संघर्ष करने की शक्ति और वृत्ति को आघात पहुँचता है, तो उन्होंने गांधी जी के द्वारा भावना और आवेश में लिये उनके इन फैसलों का प्रतिवाद भी किया। गांधी जी ने तो स्वयं अपने कतिपय निर्णयों को हिमालय जैसी भूल (Himalayan Blunder) माना ही था। गांधी जी की मुस्लिम-तोषिणी नीति से भी वे सहमत नहीं थे। यदि महात्मा गांधी हिन्दुओं और मुसलमानों को समान स्तर पर रखकर उनकी किसी आपत्तिजनक बात की आलोचना या टीका करते तो वह समझ में आनेवाली बात थी। किन्तु मुसलमानों की साम्प्रदायिक विद्वेषयुक्त बातों को सहन करना एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति के प्रति अकारण उदारता दिखाना, स्वामी श्रद्धानन्द को कदापि पसन्द नहीं था।

अन्ततः वे कांग्रेस से भी दूर हट गये। उनके विचार में देश में हिन्दू समाज का बहुमत है। देश के हित भी तभी तक सुरक्षित हैं जब तक हिन्दू यहाँ रहकर सम्मान और गौरव का जीवन बिताते रहें। किन्तु सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से असंगठित हिन्दुओं को जबतक एकता के सूत्र में आबद्ध नहीं किया जाता, तबतक वे देश की स्वाधीनता, उन्नति और प्रगति के लिए अपना समुचित योगदान करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द ने हिन्दुओं को संगठित होने की प्रेरणा दी। संगठन अपने-आपमें तो एक निराकार विचार-सा ही है। जातियों को संगठन का लाभ तभी मिलता है जब वे अपनी सामाजिक दुर्बलताओं को दूर करती हैं तथा भाव, भाषा, विचार, संस्कृति और जीवनदर्शन में समरसता रखती हैं। हिन्दू जाति का संगठन तभी सम्भव था, यदि उसके नेता दलित वर्गों की समस्याओं और कठिनाइयों का तत्काल समाधान ढूंढते और शताब्दियों से पीड़ित तथा ठुकराये गये इन लोगों को उनके अधिकार प्रदान करते। इसी प्रकार कारणवश अन्य मतों में चले गये लोगों को अपने धर्म में प्रविष्ट करने के लिए चलाये गये शुद्धि-आन्दोलन की सफलता भी संगठन का एक साधन बन सकती थी। अतः अब स्वामी श्रद्धानन्द का समस्त ध्यान शुद्धि, अछूतोद्धार तथा सामाजिक कुरीतियों के निवारण जैसे कार्यक्रमों पर ही लगा। उनके प्रयासों को तब धक्का लगा, जब उन्होंने देखा कि संकीर्ण बुद्धि वाले सनातनी समाज को न तो अछूतों को उनका प्राप्य देना ही पसन्द है और न वे शुद्ध होकर हिन्दू धर्म में प्रविष्ट लोगों को ही दिल खोलकर अपनाने के लिए तैयार हैं। यद्यपि पं० मदनमोहन मालवीय जैसे उदार नेताओं के प्रभाव में आकर अधिकांश हिन्दुओं ने अछूतोद्धार तथा शुद्धि के कार्यक्रम को माना तो अवश्य, किन्तु यहाँ भी भारती कृष्णतीर्थ तथा अन्य पौराणिक नेताओं ने आर्यसमाज के प्रति अपनी मात्सर्य-वृत्ति का ही परिचय दिया। उन्हें आशंका थी कि इन कार्य-क्रमों को सफल बनाकर आर्यसमाज अपने प्रभाव की वृद्धि कर रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द के लिए यह सर्वथा अनपेक्षित था और अब वे हिन्दू महासभा से भी निराश हो गये।

अन्ततः उन्हें कवि गुरु की 'एकला चलो' की नीति ही अपनानी पड़ी। अब वे अपने कार्यक्रमों के लिए आर्यसमाज के लोगों पर ही निर्भर हो चले और सभी के सहयोग से उन्होंने शुद्धि और संगठन का शंखनाद किया। इन कार्यक्रमों में महात्मा हंसराज के नेतृत्व में कॉलेज-दल ने भी उन्हें पूरा-पूरा सहयोग दिया और एक बार पुनः संसार को दिखा दिया कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी धर्म और समाज के व्यापक हित में कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे कर्म-योगी श्रद्धानन्द का जीवन जितना शानदार था, उनकी मृत्यु भी उतनी ही गौरव-शालिनी थी, जिसपर महात्मा गांधी को भी ईर्ष्या करनी पड़ी।

अध्याय १३

स्वामी श्रद्धानन्द : साहित्यकार और पत्रकार के रूप में

मनुष्य अपनी विचाराभिव्यक्ति के लिए वाणी और लेखन के माध्यमों का प्रयोग करता है। वाणी के द्वारा अभिव्यक्त विचार लोगों पर तात्कालिक प्रभाव डालते हैं जबकि लेखन का प्रभाव पर्याप्त काल तक रहता है। संसार में विभिन्न वैचारिक आन्दोलनों और क्रान्तियों का सूत्रपात करनेवाले महापुरुषों ने अपने साहित्य के द्वारा ही जनसामान्य की विचारधारा को प्रभावित किया तथा उसे नयी दिशा दी। स्वामी श्रद्धानन्द का साहित्य भी अपने पाठकों को चिन्तन की नयी दिशा देता है, उनकी भावनाओं का परिष्कार करता है तथा उसमें निहित उपदेश हमारे चारित्रिक उत्थान में सहायक होते हैं। उन्होंने हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना की है। यहाँ हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत उनकी समस्त कृतियों का सामान्य परिचय दे रहे हैं—

आत्मकथा तथा जीवनचरित्र

१. कल्याण मार्ग का पथिक

स्वामी श्रद्धानन्द ने इस शीर्षक से अपनी आत्मकथा लिखी जो १९८१ वि० में ज्ञानमण्डल काशी से प्रकाशित हुई। इसका समर्पण उन्होंने अपने आचार्य स्वामी दयानन्द की ही स्मृति में किया है जिनके सम्पर्क और उपदेश ने उनके जीवन को एक नई दिशा दी थी। स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने चारित्रिक पतन की कथा को किंचिन्मात्र भी छिपाया नहीं है।[1] महापुरुषों के चरित्र की यह विशेषता होती है

---

१. मैं क्या था इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं है।

कि वे अपनी उपलब्धियों का वर्णन करने में चाहे कृपणता बरतें, किन्तु अपनी त्रुटियों, यहाँ तक कि अपने चारित्रिक स्खलनों को प्रकट करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते। ऋषि दयानन्द के सम्पर्क में आने से पूर्व युवक मुंशीराम का जीवन पतन के गहन गर्त में गिरता चला जा रहा था, किन्तु आर्यसमाज के प्रवर्तक के साक्षात्कार और उनसे हुए सम्भाषण ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी।[1] 'कल्याणमार्ग का पथिक' जहाँ एक व्यक्ति की जीवन-कथा है, वहाँ वह तत्कालीन आर्यसमाज और उत्तरप्रदेश तथा पंजाब के सामाजिक जीवन का भी यथार्थ चित्र है।

२. बन्दीघर के विचित्र अनुभव

सिखों के 'गुरु का बाग सत्याग्रह' में भाग लेने के कारण स्वामी श्रद्धानन्द को १९२२ में एक वर्ष के साधारण कारावास का दण्ड मिला, किन्तु वे ४ मास पश्चात् ही छोड़ दिये गये। कारावास-जीवन की यह रोचक कहानी उन्होंने १९२३ ई० में लिखी जो उसी वर्ष सद्धर्म-प्रचारक प्रेस दिल्ली से छपी।

३. आर्य पथिक लेखराम का जीवन-वृत्तान्त

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने सहयोगी और सहकर्मी, किन्तु उनसे बहुत पहले ही धर्म की वेदी पर बलिदान होनेवाले पं० लेखराम का एक सुन्दर जीवनचरित लिखा था। इसका प्रथम बार प्रकाशन मुंशीराम ने ही १९१४ ई० में किया था। तब से इसके अनेक संस्करण विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। यों तो पं० लेखराम की अनेक छोटी-बड़ी जीवनियाँ विभिन्न लेखकों ने लिखी हैं, किन्तु कथानायक को वर्षों तक निकटता से देखनेवाले तथा वैदिक धर्म के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा को अनुभव करनेवाले मुंशीराम जिज्ञासु की लेखनी का चमत्कार ही अलग है। आर्यसमाज के जीवनी-साहित्य में इस कृति का पृथक् महत्त्व है।

४. तत्त्ववेत्ता ऋषि की कथा

स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी के अवसर पर जब परोपकारिणी सभा ने ऋषि के समस्त ग्रन्थों को दो खण्डों में दयानन्द-ग्रन्थमाला के नाम से प्रकाशित किया, तो स्वामी श्रद्धानन्द ने ग्रन्थमाला के आरम्भ में ऋषि दयानन्द की संक्षिप्त जीवनी विवेचनात्मक शैली में लिखी। यह पृथक् पुस्तकाकार भी छपी है।

---

१. मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ? वह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है।

ऋषि दयानन्द विषयक शोधात्मक ग्रन्थ

अपने विभिन्न सामाजिक कार्यों और सार्वजनिक गतिविधियों के प्रति पूर्ण न्याय करके भी स्वामी श्रद्धानन्द अध्ययन, शोध तथा लेखन के लिए पर्याप्त समय निकाल लेते थे। उनके व्यक्तित्व का यह एक उल्लेखनीय पहलू है। उन्होंने दयानन्द-वाङ्मय का गहन अनुशीलन किया था। यही कारण है कि जब पौराणिक पं० कालूराम शास्त्री ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण को दुबारा छापकर आर्यसमाज में एक अनावश्यक हलचल मचाने का दुस्साहस किया, तो महाशय मुंशीराम ने **आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त** लिखकर बताया कि सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण तो आर्यसमाज की एक अपूर्व धरोहर है। यह तो सत्य है कि इस ग्रन्थ में कतिपय प्रकरण लिपिकार पण्डित की धूर्तता के कारण ऐसे समाविष्ट हो गये हैं, जो स्वामी दयानन्द को अभीष्ट नहीं थे तथा जिनके बारे में स्वामी जी ने अपना स्पष्टीकरण भी प्रकाशित कर दिया था, किन्तु इसके उपरान्त भी आदिम सत्यार्थप्रकाश अपनी विशेषताओं के कारण आर्य-समाज के लिए सर्वथा मान्य ही है। १९१७ में यह ग्रन्थ सद्धर्म प्रचारक प्रेस दिल्ली से छपा। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वेदवाणी' के एक विशेषांक के रूप में इसे पुनः छापकर पाठकों को उपलब्ध कराया।

उपदेश मंजरी (उर्दू अनुवाद)—ऋषि दयानन्द के पूना में प्रदत्त १५ प्रवचनों का उर्दू अनुवाद मुंशीराम ने किया, जो १८९८ ई० में सद्धर्म प्रचारक प्रेस जालन्धर से छपा। इसका दूसरा संस्करण १९०१ ई० में छपा।

ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका (उर्दू अनुवाद)—१८९८ ई० में सद्धर्म प्रचारक प्रेस जालन्धर से 'भूमिका' के तृतीयांश का उर्दू अनुवाद छपा। अनुवादक मुंशीराम ही थे।

ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, भाग १—ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्रों का यह संग्रह महाशय मुंशीराम जिज्ञासु लिखित विस्तृत भूमिका सहित १९६६ वि० (१९१० ई०) में सद्धर्म प्रचारक प्रेस से छपा। हिन्दी में किसी महापुरुष के पत्र-व्यवहार के सम्पादन और प्रकाशन का यह प्रथम सफल प्रयास था।

पं० लेखराम रचित महर्षि दयानन्द के उर्दू जीवन-चरित्र की भूमिका—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की आज्ञा से पं० लेखराम ने महर्षि के जीवनचरित-विषयक सामग्री को एकत्र कर उर्दू में जीवन-लेखन आरम्भ किया था, किन्तु १८९७ में उनके बलिदान के कारण यह कार्य अधूरा रह गया। तत्पश्चात् मास्टर आत्मा-राम अमृतसरी ने इसे सम्पादित कर पूरा किया। मुंशीराम जिज्ञासु ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी थी।

'आर्य धर्म ग्रन्थमाला' का प्रकाशन

इस ग्रन्थमाला का प्रकाशन १९१६ में सद्धर्म प्रचारक पुस्तक भण्डार काँगड़ी से हुआ। इसके अन्तर्गत निम्न नौ ग्रन्थ प्रकाशित हुए—

१. **आर्यों की नित्य कर्म विधि**—इसमें नैत्यिक कर्त्तव्यों का विधान है। 'आर्यों के नित्य कर्म' शीर्षक से यही पुस्तक बाद में राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने भी प्रकाशित की। इसके कुल पाँच संस्करण छपे थे।

२. **पाँच महायज्ञों की विधि**—मनु-प्रोक्त पंच महायज्ञों की विस्तृत व्याख्या है। इसके दो संस्करण छपे।

३. **विस्तारपूर्वक सन्ध्या-विधि**—मुंशीराम जी के एक मित्र लूनमियानी (जिला शाहपुर) निवासी लाला ज्वालासहाय लिखित इस लघु उर्दू पुस्तक को मुंशीराम जी ने हिन्दी में अनूदित किया। अनुवाद में सहायक थे पं० देवेश्वर सिद्धान्तालंकार।

४. **आचार अनाचार और छूतछात**—सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास की व्याख्यारूप में लिखी गई इस पुस्तक में खान-पान तथा छुआछूत विषय को स्पष्ट किया गया है।

५. **ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज**—ईसाई प्रचारक-लेखक पादरी जे० एन० फर्कुहर लिखित "मॉडर्न रिलिजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया" शीर्षक पुस्तक में आर्यसमाज-विषयक आपत्तिजनक टिप्पणियों की मुंशीरामकृत समीक्षा।

६. **वेद और आर्यसमाज**—स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की वेद-विषयक धारणाओं को स्पष्ट करने के साथ-साथ ऋषि के ग्रन्थों में स्वार्थी पण्डितों द्वारा किये गये प्रक्षेपों तथा तज्जन्य भ्रान्तियों का सतर्क निराकरण इस पुस्तक में किया गया है।

७. **मातृभाषा का उद्धार**—हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर-अधिवेशन (१९१३) में महाशय मुंशीराम ने अध्यक्ष-पद से जो भाषण दिया था, उसे ही पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है।

८. **पारसी मत और वैदिक धर्म**—गुरुकुल में तुलनात्मक धर्म का अध्यापन करते समय मुंशीराम ने पारसीधर्म पर जो व्याख्यान के नोट्स तैयार किये थे, वे ही पुस्तकाकार छापे गये हैं। इस अध्ययन में उन्हें मार्टिन हॉग नामक पाश्चात्य विद्वान् के ग्रन्थों से पर्याप्त सहायता मिली थी।

९. **मानव-धर्मशास्त्र और शासन-पद्धति**—मनुप्रोक्त शासन-विधान का विवेचन इस पुस्तक में उपलब्ध होता है। इसका प्रकाशन १९१७ ई० में हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द का आध्यात्मिक और धार्मिक उपदेशपूर्ण साहित्य

जब महाशय मुंशीराम ने सद्धर्मप्रचारक का प्रकाशन आरम्भ किया तो पाठकों

को आध्यात्मिक भोजन देने की दृष्टि से वे उसके प्रत्येक अंक में गीता, मनुस्मृति, उपनिषद् तथा वेदों के आधार पर आध्यात्मिक दृष्टि से एक सुन्दर प्रवचन लिखते थे। कालान्तर में उनके एक विश्वसनीय भक्त लुधियाना-निवासी लाला लब्भूराम नैयड़ ने इन प्रवचनों को **धर्मोपदेश** के तीन खण्डों में संग्रहीत किया जो गुरुकुल काँगड़ी की 'स्वाध्याय-मंजरी' शीर्षक ग्रन्थमाला में छपे।

मुक्ति-सोपान—स्वामी जी के धार्मिक प्रवचनों का यह संग्रह ३ खण्डों में प्रकाशित हुआ है। इसे आर्यकुमार सभा किंग्सवे दिल्ली ने छापा। मूल प्रवचन १९२५ ई० में लिखे गये थे।

वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति—गुरुकुल की पाठ्य पुस्तक के रूप में मनुस्मृति का यह संक्षिप्त संस्करण मुंशीराम जी की भूमिका सहित १९११ ई० में प्रकाशित हुआ।

वैदिक आदर्श—मुज्जफ्फरनगर से १९४० में प्रकाशित। सद्धर्म प्रचारक में छपे भक्तिप्रधान लेखों का संग्रह।

कुछ अन्य स्फुट ग्रन्थ

१. **आर्य संगीत-माला**—१९०० ई० में जालन्धर से प्रकाशित।
२. **उत्तराखण्ड की महिमा अर्थात् गढ़वाल प्राचीन और अर्वाचीन** (जिसके साथ कुरुक्षेत्र-माहात्मय भी लगा दिया गया है)—१९१६ ई० में दिल्ली से प्रकाशित।
३. **जाति के दीनों को मत त्यागो**—१९१९ में सद्धर्म प्रचारक प्रेस दिल्ली से प्रकाशित।
४. **हिन्दुओ सावधान! तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया**—१९२४ ई० में ख्वाजा हसन निजामी की पुस्तक 'दाइए इस्लाम, के प्रकाशित होने पर स्वामी जी ने उक्त पुस्तक लिखकर हिन्दुओं को इस्लाम के आक्रमणों से आगाह किया। यह पुस्तक मूल रूप में "मुहम्मदी साजिश का इन्कशाफ" शीर्षक से उर्दू में लिखी गई और १९२४ ई० में छपी थी।
५. **वर्तमान मुख्य समस्या : अछूतपन के कलंक को दूर करो**—१९२४ में दिल्ली से प्रकाशित।
६. **मेरी गढ़वाल-यात्रा** (गढ़वाल में १९७५ वि० का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल दल का कार्य)—१९१९ ई० में प्रकाशित।
७. **रामायण रहस्य कथा**—फरवरी १९२६ ई० में शिवरात्रि पर टंकारा में जब दयानन्द जन्म-शताब्दी का समारोह मनाया गया तो स्वामी श्रद्धानन्द ने वहाँ उपस्थित सौराष्ट्र के क्षत्रिय नरेशों के समक्ष रामायण की कथा प्रस्तुत की। गोविन्दराम हासानन्द ने इसे २०२६ वि० में प्रकाशित किया। २०३९ वि०

में इसका गुजराती अनुवाद "रामायण नी रहस्य कथा" शीर्षक से छपा। गुजराती में स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनी-लेखक श्री दिनेश त्रिवेदी ने इसे 'श्रद्धानन्द नी पुण्य कथा' में सचित्र उद्धृत किया है।

उर्दू ग्रन्थ

महाशय मुंशीराम का प्रारम्भिक लेखन उर्दू में हुआ था। उनके उर्दू में लिखे ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

१. **वर्ण-व्यवस्था**—१८९१ ई० में सद्धर्म प्रचारक प्रेस जालन्धर में छपी। इसका उल्लेख 'कल्याण मार्ग का पथिक' में मिलता है।
२. **एक मांस-प्रचारक महापुरुष की गुप्त लीला का प्रकाश**—१८९५ ई० में सम्भवत: यह पुस्तक लाला मुल्कराज भल्ला (महात्मा हंसराज के बड़े भाई) की किसी पुस्तक के खण्डन में लिखी गई थी।
३. **क्षात्र धर्मपालन का गैरमामूली मौका**—१८९५ ई० में प्रकाशित।
४. **यज्ञ का पहला अंग**—स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण का उर्दू अनुवाद।
५. **आर्यसमाज के खानाजाद दुश्मन** (सद्धर्म प्रचारक में छपे लेखों का संग्रह)—१८९८ ई० में जालन्धर से प्रकाशित।
६. **सुबहे-उम्मीद** (वेदों के विभिन्न टीकाकारों और स्वामी दयानन्द की भाष्य-शैली तथा वेदों की महत्ता का विवेचन। १८९८ ई० में लाहौर से प्रकाशित।
७. **पुराणों की नापाक तालीम से बचो**–१८९९ ई० में जालन्धर से प्रकाशित।
८. **सद्धर्म प्रचारक पर पहला लायबल केस**—पं० गोपीनाथ द्वारा मुंशीराम व दो अन्यों (वजीरचन्द विद्यार्थी तथा वस्तीराम) पर चलाये गये मानहानि-केस का पूरा विवरण। यह पुस्तक इसी वर्ष नागरी लिपि में भी छपी। इसका एक संक्षिप्त सार अंग्रेजी में भी प्रकाशित हुआ था। इसमें लाहौर के सिटी मजिस्ट्रेट एच० केलवर्ट द्वारा २ सितम्बर १९०१ को दिया गया फैसला तथा कतिपय गवाहियों का सारांश दिया गया था। इस पुस्तक की एक प्रति प्रस्तुत ग्रन्थावली के सम्पादक के संग्रह में है। मुखपृष्ठ फटा होने से प्रकाशन-काल का पता नहीं चलता।
९. **महात्मा मुंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ** (व्याख्यान-संग्रह)–१९०४ ई० में लाहौर से प्रकाशित।
१०. **दु:खी दिल की पुरदर्द दास्तान**—आर्यसमाज के घरेलू कलह तथा गुरुकुल की व्यवस्था को लेकर उत्पन्न विवाद पर मुंशीराम जी की निज व्यथा को व्यक्त करनेवाला वृत्तान्त। यह एक बृहत्काय ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन-काल १९०६ ई० है।

११. **मेरी जिन्दगी के नशेबो-फराज** (स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा का एक अंश)—१६११ ई० में जालन्धर से प्रकाशित।

१२. **हिन्दू मुस्लिम इत्तिहाद की कहानी**—१६२४ ई० में तेज प्रेस दिल्ली से प्रकाशित।

१३. **अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद**—हिस्ट्री ऑफ एसेसियन्स (The History of Assassians) नामक एक जर्मन पुस्तक (मूल लेखक—वॉन हैमर) के अंग्रेजी अनुवाद को स्वामी जी ने १६२६ ई० में प्रकाशित किया। इसकी भूमिका स्वामी श्रद्धानन्द ने ही लिखी थी, जिसमें पुर्तगाल के ईसाई पादरियों द्वारा भारत में स्वधर्म-प्रचारार्थ अपनाये गये हथकण्डों तथा यूरोप में जेसुइस्ट शाखा के ईसाई प्रचारकों के कारनामों का विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है। साथ ही इस्लाम के प्रचारकों के आपत्तिजनक तरीकों तथा इस्माइलिया खोजा सम्प्रदाय के मत-प्रचारक की कार्यवाहियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी पुस्तक की मूल अंग्रेजी भूमिका को Religious Intolerance शीर्षक से पृथक् पुस्तकाकार प्रेम पुस्तकालय आगरा ने प्रकाशित किया था।

१४. **मुहम्मदी साजिश का इन्कशाफ**—ख्वाजा हसन निजामी की पुस्तक 'दाइए इस्लाम' का खण्डन जो १६२४ ई० में तेज प्रेस दिल्ली से छपा।

१५. **अछूतोद्धार का एक फौरी मसला।**

१६. **मेरा आखिरी मश्वरा।**

१७. **दाइए इस्लाम या तबाहिए इस्लाम**—यह पुस्तक भी ख्वाजा हसन निजामी की पुस्तक की आलोचना में लिखी गई थी।

स्वामी श्रद्धानन्द के अनेक उर्दू ग्रन्थों का एक संग्रह 'कुलियातए संन्यासी' (याने शहीदे-धर्म श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की नादर किताबों का मजमूआ हिस्सा अव्वल) शीर्षक से शान्त स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज द्वारा सम्पादित होकर १६२७ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ था।

स्वामी श्रद्धानन्द का अंग्रेजी साहित्य

१. **दि फ्यूचर ऑफ आर्यसमाज : ए फोरकास्ट**—आर्यसमाज लाहौर में २७ जनवरी १८६३ को पठित एक लेख का पुस्तकाकार संस्करण। यह विरजानन्द प्रेस लाहौर में १८६३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

२. **दि आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स : ए विण्डिकेशन**—पटियाला राज्य में अंग्रेजी सरकार के कहने में आकर जब १६०६ में आर्यसमाजियों पर मुकद्दमा चलाया गया तो महात्मा मुंशीराम ने उनके बचाव में राय रोशनलाल बैरिस्टर तथा दीवान बद्रीदास की सहायता से कानूनी कार्यवाही की। अन्ततः

निरपराध आर्यसमाजी छोड़ दिये गये। इस मुकद्दमे की पृष्ठभूमि, अभियोग का पूरा विवरण, वकीलों की बहस तथा गवाहियाँ, समाचारपत्रों तथा मुंशीराम जी के आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सवों में दिये गये दो व्याख्यानों सहित यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १९१० में सद्धर्म प्रचारक प्रेस से छपा। ६०० से अधिक पृष्ठों में समाप्त यह ग्रन्थ आर्यसमाज के बारे में ब्रिटिश सरकार की नीतियों की समीक्षा में लिखा गया एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

३. **हिन्दू संगठन : सेवियर ऑफ दि डाइंग रेस**—हिन्दू संगठन पर लिखा हुआ यह प्रामाणिक ग्रन्थ स्वामी श्रद्धानन्द के गम्भीर ऐतिहासिक अध्ययन तथा हिन्दू समाज की वर्तमान शोचनीय स्थिति का परिचायक है। इसका हिन्दी अनुवाद नरेन्द्र विद्यावाचस्पति तथा विद्यासागर विद्यालंकार ने किया। मूल अंग्रेजी पुस्तक १९२४ ई० में दिल्ली से छपी।

४. **इनसाइड कांग्रेस**—'दि लिबरेटर' नामक अंग्रेजी पत्र में प्रकाशित स्वामी जी के १५ लेखों का संग्रह १९४६ में फिनिक्स पब्लिकेशन बम्बई से प्रथम बार छपा। इसका द्वितीय संस्करण दयानन्द संस्थान नई दिल्ली ने १९८४ ई० में प्रकाशित किया। स्वामी जी के राजनैतिक जीवन की यह रोचक कथा है जिसमें उनके कांग्रेस में रहकर प्राप्त किये गये अनुभवों को लिपिबद्ध किया गया है।

अलभ्य ग्रन्थ

भविष्य पुराण की प्रेक्षा (परीक्षा) नामक कोई उर्दू ग्रन्थ भी स्वामी जी ने लिखा था, इसका उल्लेख हमें यत्र-तत्र उपलब्ध हुआ है। किन्तु इसके लिखनेवाले मुंशीराम कोई अन्य थे या प्रसिद्ध महात्मा मुंशीराम, यह खोज का विषय है। उनकी एक अन्य पुस्तक "मृतक श्राद्ध पर विचार" (गुरुकुल काँगड़ी से १९७२ वि० में प्रकाशित) भी हमारे रेकॉर्ड में उल्लिखित है। स्वामी जी के गुजराती जीवनी-लेखक दिनेश त्रिवेदी के अनुसार श्रद्धानन्द जी के बलिदान के पश्चात् तलाश की गई उनकी साहित्य-सामग्री में गुरु गोविन्दसिंह लिखित दशम ग्रन्थ की विवेचना में लिखी कोई अपूर्ण कृति उपलब्ध हुई थी। इसके महत्त्व की ओर संकेत करते हुए किसी सिख विद्वान् को स्वामी जी ने कहा था—आदि ग्रन्थ को समझने में मैं आपकी सहायता लूँगा किन्तु दशम ग्रन्थ को समझने में मैं आपकी सहायता कर सकता हूँ।

सागर विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त सहायक पुस्तकाध्यक्ष पं० विश्वनाथ शास्त्री के अनुसार स्वामी जी ने 'गुरुमत-दिवाकर' तथा 'छात्रों के लिए उपदेश' शीर्षक दो अन्य पुस्तकें भी लिखी थीं (द्रष्टव्य परोपकारी, फरवरी १९६२ में प्रकाशित श्रद्धानन्द वाङ्मय सूची) हमारे देखने में ये पुस्तकें अभी तक नहीं आईं।

स्वामी श्रद्धानन्द की पत्रकारिता

सार्वजनिक जीवन में पत्र-पत्रिकाओं के महत्त्व को लाला मुंशीराम ने तभी अनुभव कर लिया था जब वे जालन्धर में थे। कालान्तर में उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में अनेक पत्रों का सम्पादन व प्रकाशन किया। यहाँ उनके द्वारा सम्पादित एवं संचालित पत्रों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

सद्धर्मप्रचारक, जालन्धर

आर्यसमाज की उर्दू पत्रकारिता के इतिहास में सद्धर्मप्रचारक का विशिष्ट स्थान है। लाला मुंशीराम ने प्रथम वैशाख १९४३ वि० (१८ फरवरी १८८९) को जालन्धर से सद्धर्मप्रचारक साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ किया। उस समय लाला जी का कार्य-क्षेत्र जालन्धर ही था। प्रारम्भ में लाला मुंशीराम तथा लाला देवराज संयुक्त रूप से सम्पादन-कार्य करते रहे, किन्तु कुछ काल पश्चात् पत्र का सम्पूर्ण भार-व्यवस्था और सम्पादन, मुंशीराम जी पर ही आ गया। पत्र की नीति-रीति तथा उसकी निर्भीक विचारधारा को देखकर आर्यसमाज लाहौर के प्रथम मन्त्री और वयोवृद्ध नेता लाला साईंदास ने कहा—"यह पत्र समाज में नया युग लायगा, यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह युग हितकर होगा, या अहितकर।" जो हो, पत्रका प्रभाव आर्यसमाज पर व्यापक रूप से पड़ा। इसके लेख साप्ताहिक सत्संगों में पढ़े जाते थे। सद्धर्मप्रचारक आर्यसमाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक समझा जाता था। महात्मा मुंशीराम और उनके दल के विचारों और कार्यों का सम्पूर्ण प्रतिफलन इस पत्र में रहता था।

सद्धर्म प्रचारक (हिन्दी) गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

लाला मुंशीराम ने सद्धर्म प्रचारक को पहले उर्दू में निकाला था। प्रचारक की उर्दू भी हिन्दी-संस्कृतप्रधान होती थी, परन्तु एक दिन एक सज्जन ने लाला मुंशीराम को उर्दू में पत्र निकालने के लिए ताना मारते हुए कह दिया—दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो, पर महर्षि ने तो अपना सारा साहित्य ही हिन्दी में लिखा है, आप सद्धर्मप्रचारक उर्दू में क्यों निकालते हैं? बात लाला जी को लग गई। उन्होंने 'प्रचारक' को हिन्दी में निकालने का निश्चय कर लिया और एक मार्च १९०७ से सद्धर्म-प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी से सद्धर्म-प्रचारक प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित होने लगा। प्रेस के व्यवस्थापक पं० अनन्तराम शर्मा थे। पत्र का सम्पादन बाबू ब्रह्मानन्द (डुमराँव निवासी) ने लगभग ५ वर्ष तक किया।

जब १९११ में भारत की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाई गई और उस अवसर पर सम्राट् जार्ज पंचम का राज्याभिषेक हुआ, तो 'प्रचारक' को दैनिक

कर दिया गया। पत्र का मुद्रण तो हरिद्वार से ही होता था, परन्तु वह दिल्ली से प्रकाशित होकर राजधानी की राजनैतिक गतिविधियों को प्रधानता देता रहा। इस समय मुंशीराम जी के बड़े पुत्र पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार 'प्रचारक' के सम्पादक थे। १९१२ में हरिद्वारस्थ प्रचारक प्रेस में आग लग गई। फलतः मुद्रण-कार्य दिल्ली में होने लगा और पत्र भी यहीं से निकलता रहा। ३० जनवरी १९१५ को प्रेस और पत्र पुनः गुरुकुल में चले गये। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति भी 'प्रचारक' के सम्पादक रहे थे। सद्धर्म प्रचारक आर्यसमाज की सार्वभौम नीतियों का नियामक था। महात्मा मुंशीराम के भावों और विचारों का सम्पूर्ण प्रतिफलन उसमें होता था। उन दिनों आर्यसमाज के समक्ष उपस्थित कठिन प्रश्नों और समस्याओं, नाना भीतरी और बाहरी विवादों पर आर्यों को महात्मा जी का मार्गदर्शन प्रचारक से ही मिलता था। यह पत्र १९२१-२२ तक निकला, पुनः बन्द हो गया।

श्रद्धा, गुरुकुल कांगड़ी

स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादन में 'श्रद्धा' नाम्नी साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन १९२० में गुरुकुल कांगड़ी से हुआ। विभिन्न विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण लेख इसमें प्रकाशित हुए। सहायक सम्पादक पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार थे। दो वर्ष चलकर यह पत्र बन्द हो गया।

सत्यवादी, हरिद्वार

गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी ने १९०४ ई० में 'सत्यवादी' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। इसके प्रथम सम्पादक पं० पद्मसिंह शर्मा थे। पं० रुद्रदत्त शर्मा ने १९०८-९ में इसका सम्पादन किया।

दि लिबरेटर

दक्षिण भारत के अंग्रेजी शिक्षित समुदाय तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द ने एक अंग्रेजी साप्ताहिक 'दि लिबरेटर' के नाम से प्रकाशित किया। यह १ अप्रैल १९२६ से अक्टूबर १९२६ तक निकला। इसमें अछूतोद्धार तथा अन्य सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं पर विचारोत्तेजक सामग्री रहती थी। स्वयं श्रद्धानन्द जी ने अपने कांग्रेस-विषयक अनुभवों को एक धारावाही लेखमाला के रूप में इसमें प्रकाशित किया था।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली - भाग ११ से साभार)

परिशिष्ट-१

लाला (महात्मा) मुन्शीराम का परिवार

पत्नी—शिव देवी—जालन्धर के प्रसिद्ध रईस राय शालिग्राम की पुत्री थीं। इनके भाई लाला वालकराम, बैरिस्टर भक्तराम तथा कन्या महाविद्यालय जालंधर के संचालक लाला देवराज थे। मुंशीराम जी के साथ इनका विवाह १८७८ ई० में हुआ था। इनके पातिव्रत धर्म और सेवा-परायणता की प्रशंसा स्वयं मुंशीराम जी ने अपनी आत्मकथा में की है। १८९१ ई० में इनका निधन तलवन में हुआ।

बड़े पुत्र—हरिश्चन्द्र विद्यालंकार—इनका जन्म जालन्धर में १८८७ ई० में हुआ। इनकी शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में ही हुई। ये गुरुकुल के प्रथम स्नातक थे जिन्हें विद्यालंकार की उपाधि से सम्मानित किया गया। १९१४ में ये यूरोप चले गये और उसके वाद इनकी गतिविधियाँ प्राय: अज्ञात रहीं। इनका निधन कहाँ और कब तथा किन परिस्थितियों में हुआ, इसकी कोई निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं हो सकी।

छोटे पुत्र—इन्द्र विद्यावाचस्पति—इनका जन्म ९ नवम्बर १८८९ को जालन्धर में हुआ। शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी में हुई जहाँ से आपने वेदालंकार और विद्यावाचस्पति की उपाधियाँ प्राप्त कीं। इन्द्र जी हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखक और पत्रकार थे। कुछ समय तक वे गुरुकुल कांगड़ी में ही प्रवक्ता के पद पर रहे। तत्पश्चात् दीर्घकाल तक उसी गुरुकुल में मुख्याधिष्ठाता तथा कुलपति भी रहे। देश के स्वाधीनता-संग्राम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया और अनेक बार जेल-यात्रा की। राज्यसभा के सभासद् मनोनीत किये गये। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान पद पर भी रहे। २३ अगस्त १९६० को दिल्ली में निधन हुआ।

पुत्री—वेदकुमारी—इनका जन्म तलवन में १८८१ में हुआ। इनके पति का नाम श्री धनीराम थापर था। वेदकुमारी जी ने देश के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया और १९३०, १९३२, १९४१ तथा १९४२ में कारावास का दण्ड भोगा। १९६५ में निधन हुआ।

पुत्री—अमृतकला—इनका विवाह डॉ० सुखदेव से जातिवन्धन को तोड़कर

हुआ। विवाह के दो वर्ष पश्चात् ही इनकी मृत्यु हो गई।

डॉ० सुखदेव (दामाद)–इनका जन्म १८७२ में हुआ। मुंशीराम जी की छोटी पुत्री अमृतकला के साथ उनका विवाह हुआ। डॉ० सुखदेव ने गुरुकुल कांगड़ी में चिकित्सक के रूप में लगभग १५ वर्ष तक सेवा की। स्वतंत्रता-आन्दोलनों में भी सक्रिय रूप से भाग लिया। १९३० और १९४२ में जेल गये। ७ मार्च १९६० को निधन हुआ।

पौत्र—जयन्त विद्यावाचस्पति—पं० इन्द्र जी के पुत्र हैं। 'वीर अर्जुन' के सम्पादक रहे। अपनी राजनैतिक गतिविधियों के कारण १९४३ में कारावास भोगा। अनेक पुस्तकों के प्रणेता हैं।

पौत्री–पुष्पा विद्यालंकृता–पं० इन्द्र जी की पुत्री पुष्पा जी का जन्म २२ जून १९२५ को दिल्ली में हुआ। अध्ययन कन्या गुरुकुल देहरादून में हुआ, जहाँ से १९४४ में विद्यालंकृता की उपाधि प्राप्त की। इनका विवाह पं० धर्मवीर विद्यालंकार से हुआ।

दौहित्र—पं० सत्यकाम विद्यालंकार—बड़ी पुत्री वेदकुमारी के ज्येष्ठ पुत्र पं० सत्यकाम का जन्म १९०५ में लाहौर में हुआ। १९२५ ई० में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार की उपाधि ग्रहण की। वीर अर्जुन, नवयुग, धर्मयुग तथा नवनीत जैसे प्रसिद्ध पत्रों के सम्पादक रहे। अनेक ग्रन्थों के लेखक, सफल पत्रकार तथा साहित्यकार।

दौहित्री—सत्यवती—वेदकुमारी जी की बड़ी पुत्री सत्यवती का जन्म १९०६ में हुआ। इन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम के लिए किये गये सभी आन्दोलनों (१९३०, ३२, ३४, ४०, ४२) में भाग लिया तथा अनेक बार जेल गईं। २१ अक्टूबर १९४५ को इनका निधन हुआ।

दौहित्री—ऊषा देवी—वेदकुमारी की दूसरी पुत्री। इन्होंने १९३१ तथा १९४३ के आन्दोलनों में भाग लिया। इनका निधन १९४८ में हुआ।

दौहित्री—कौसल्या लाल—वेदकुमारी की तीसरी पुत्री। इनका जन्म १९१३ में हुआ। १९३१, १९३२ तथा १९४२ के आन्दोलनों में जेल-यात्रा की। इनके पति श्री चमनलाल व्यवसाय से पत्रकार थे।

दौहित्री—स्वर्णलता—वेदकुमारी की चौथी पुत्री। १९३० और १९३५ में राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लिया। लेखक, पत्रकार और कहानीकार श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इनके पति थे।

परिशिष्ट २

स्वामी श्रद्धानन्द का पत्र-व्यवहार

(ए) ब्रह्मचारी युधिष्ठिर का गुरुकुल-प्रवेश-सम्बन्धी पत्र-व्यवहार

आर्यसमाज के प्रख्यात विद्वान् पं० युधिष्ठिर मीमांसक के पिता पं० गौरीलाल जी आचार्य (हिन्दी अध्यापक, ए० व्ही० स्कूल महेश्वर, होलकर राज्य) ने अपने पुत्र को गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराने के लिए १९७८ वि० (१९२२ ई०) में स्वामी श्रद्धानन्द से पत्र-व्यवहार किया था। उनके प्रवेश में दो बाधाएँ आईं। प्रथम तो ब्र० युधिष्ठिर की आयु दस वर्ष की हो चुकी थी। द्वितीय, उनके पाँव की विकलांगता भी सम्भवत: बाधक बनी। स्वामी श्रद्धानन्द इस बात पर दृढ़ थे कि आयु अधिक हो जाने के कारण युधिष्ठिर जी को गुरुकुल में प्रवेश नहीं मिल सकता। इस प्रकार प्रवेश न पा सकने की निराशा ने युधिष्ठिर जी को एक बार तो अकेले ही गुरुकुल पहुँचकर आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द के समक्ष सत्याग्रह करने को प्रेरित किया। स्वामी जी ने इसका उत्तर देते हुए ब्र० युधिष्ठिर को सत्याग्रह करने से मना किया। यह रोचक पत्र-व्यवहार हमें पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। इसके अन्तर्गत कुल ८ पत्र हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. श्री गौरीलाल आचार्य का स्वामी जी के नाम एक पत्र। (तिथि नहीं)
२. ब्र० युधिष्ठिर के स्वामी जी के नाम दो पत्र—ज्येष्ठ सुदी ४, १९७८ वि०; आषाढ़ कृ० २, सं० १९७८ वि०।
३. स्वामी जी के ब्र० युधिष्ठिर के नाम दो पत्र—१८-३-१९७८ तथा २ आषाढ़ १९७८ वि०।
४. स्वामी जी के श्री गौरीलाल आचार्य के नाम तीन पत्र—२४-३-७८, २४ ज्येष्ठ १९७८ वि०, तथा ७ आश्विन १९७८ वि०।

सेवा में,

श्रीमन्महामान्य,

नमस्ते ।

श्रीमान् का कृपापत्र युधिष्ठिर को आज प्राप्त हुआ और वह विशेष आश्वासन का कारण हुआ । पठन-पाठन के विषय में आकांक्षा विनय करने इतना ज्ञान बालक को नहीं है, अतः मैं श्रीमान् की सेवा में संक्षेप में परिश्रम उपस्थित करता हूँ । तथापि आशा है इस बालक के लिए आप स्वतः इच्छा को मुख्य लेकर कोई उचित स्थान सोचकर शिक्षण की व्यवस्था जमावेंगे और हम दोनों को कृतार्थ करेंगे।

सधर्म्म राष्ट्रीय शिक्षण के विषय में श्रीमान् का जो अनुभव है उसके आगे मेरे विचार अति क्षुद्र जान पड़ेंगे । परन्तु "महाजनो येन गतः स पन्थाः" इस उद्देश्य को लेकर मेरा विचार इसको कोई गुरुकुल आश्रम में रखने का था । विपदा भी एक ऐसी बाधा होती है कि इसके योग्य आयु में मैं कुछ कर न सका, क्योंकि उस समय केवल यह बच्चा और मैं, दो ही घर में शेष रहे, और मैं भी डेढ़ वर्ष बीमार रहा आदि कारण और होशंगाबाद से सान्ताक्रूज को ले-जाने में दो वर्ष व्यर्थ जाना, यह सब श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्रसभा को दिये हुए विनय के साथ श्रीमान् को ज्ञात हुआ होगा । अब मेरी विनय श्री विरजानन्द आश्रम हरदुआगंज की सेवा में गई है, देखें इस बालक को स्वीकारते हैं कि नहीं । हार खाकर दूसरी विनय श्री भरत महाविद्यालय ऋषिकेश की सेवा में भी भेजी थी । श्री व्यवस्थापक जी ने उत्तर दिया कि "क्षमा करें, आपके बालक युधिष्ठिर के विषय में हम असमर्थ हैं ।" मैंने सोचा था कि संस्कृत और शिल्पकला प्राप्त हो जावेगी, इतने पर से राष्ट्र की सेवा कर सकेगा । फिर मैंने बहुत कुछ निवेदन किया है कि मेरे आर्यसमाजी होने से आप इसे प्रविष्ट न करते हों तो यह आपका भ्रम है । यह सनातन (हिन्दू) धर्मावलम्बी होकर भावी जीवन व्यतीत करने को स्वतंत्र है इत्यादि । देखें क्या उत्तर आता है ।

भारत वाटिका की इन कलियों का (जो भावी पुष्प हैं) पालन और परिपुष्टता बिना प्राचीन संस्कृत साहित्य ज्ञान के असम्भव है और उनमें व्याप्त रूप से सुगन्धि तब ही होगी जब वैदिक धर्म तत्त्व शिक्षा में···

ऐसा सम्यक् विचार करके इसके लिए उचित योजना सोचियेगा । और मुझे आज्ञा दीजियेगा । हरदुआगंज अथवा अन्य स्थान पर जहाँ श्रीमान् उचित समझें पत्र-व्यवहार करके सिफारिश करेंगे तो इसको आश्रम मिल जावेगा । उस स्थान पर मासिक शुल्क लेने का नियम होगा तो भेजता रहूँगा ।

यहाँ ए०व्ही० पाठशाला महेश्वर में इसने मार्च में हिन्दी अपर प्रायमरी पास किया है, अब अंग्रेजी की भाषा १८ जून से सीखने लगा है । राष्ट्रीय शाला जब··· में भेजूं तो संस्कृत से अपरिचित रहेगा ।

हमारी स्थिति—हमारा जीवन सादा है, इसकी माता ने भी अतिप्रेम नहीं रखा था। इसका स्वभाव ब्रह्मचारी आचरण को शीघ्र ग्रहण करने वाला है। मेरे और इसके दोनों के पांवों में व्यंगता है। अवश्य ही इसका शिक्षण न हुआ तो यह पराश्रित भिक्षावलम्बी बनकर गृहस्थों को सतावेगा, अथवा मेरी तरह गुलामी में जीवन भ्रष्ट करेगा। यही चिन्ता प्रतिदिन मुझे घेरे हुए रहती है। आप इस चिन्ता को काटने में समर्थ हैं, इसी से बच्चे ने पत्र-व्यवहार द्वारा श्रीमान् की शरण मान ली है।

बारम्वार विनय करके श्रीमान् के महत्कार्यों के अमूल्य समय को केवल एक ही व्यक्ति के हितार्थ नष्ट करते जाना मुझे उचित नहीं है। अत: श्रीमान् कोई भी प्रयत्न करें शीघ्र ही करके निमटावें, मैं आजन्म आभार मानूंगा। भाद्रपद में मैं इसको लेकर निकलूंगा और कहीं भी किसी के आश्रम में अवश्य विश्राम देऊँगा। चाहे ४-६ मास सत्पात्रता की परीक्षा में ही रहेगा।

श्रद्धा सा० पत्र और नियमावलि प्राप्त हुई।

भवदीय
गौरीलाल आचार्य
हिन्दी प्रथमाध्यापक
महेश्वर, होलकर स्टेट

ओ३म्

महेश्वर
ज्येष्ठ सुदी ४ सं० १९७८

श्रीमान् महामान्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

नमस्ते।

आपका कृपापत्र तिथि २४ ज्येष्ठ सं० १९७८ का आज पिताजी को मिला। आप गुरुकुल कांगड़ी के स्थापक हो, इसलिए आपको विनय करता हूँ कि आपके पत्र में पावों के टेढापन का उल्लेख नहीं है, वह तो आपको मान्य हो गया, रहा आयु का नियम, वह उचित नियम है तो भी हम कम बताने को झूठ नहीं बोले, क्योंकि आयु—अति अधिक नहीं, और क्योंकि एक प्रकार के गुरुकुल में से ही मैं निकलकर आ रहा हूँ, इसलिए मेरे लिए तो आयु का नियम ढीला होवेगा।

मैं अकेला कांगड़ी पहुंचूंगा। सत्याग्रह आपकी सेवा में करूंगा, और आप मुझे प्रेम से पढ़ावें न पढ़ावेंगे, तो भी वहाँ से न हटूंगा। मेरे ब्रह्मचारी भाइयों की धोतियें धोऊँगा। और उनकी जय मनाऊँगा।

ब्रह्मचारी युधिष्ठिर
ए० व्ही० स्कूल
महेश्वर, होलकर स्टेट

ओ३म्

महेश्वर
आषाढ कृ० २ सं० १९७८

श्रीमान् की सेवा में नमस्ते ।

मैंने आपका पत्र पिता जी को बता दिया, इन्होंने भी कहा कि सत्याग्रह के योग्य तेरी शक्ति नहीं है और दुःख यह है कि आर्यसमाज की सेवा करने के लिए मैंने कुछ नहीं पढ़ा और तुम भी सेवा नहीं कर सकोगे, सो मैं अब कहाँ जाऊँ महाराज, आप ही बताइये। गांधी जी महाराज के पास जाऊँ तो धर्म-शिक्षा नहीं मिलेगी। श्रद्धा के लिए मेरे ३॥ रु० ता० २३-५-२१ ई० को पहुँच गये। अब श्रद्धा भेजना शुरू करें और नियमावली भेजें, हमारे पास नहीं है।

आज्ञाकारी बच्चा
ब्रह्मचारी युधिष्ठिर
सारस्वत ब्राह्मण
महेश्वर, होलकर स्टेट

ओ३म्

गुरुकुल काँगड़ी
१८-३-७८

प्रिय ब्रह्मचारी युधिष्ठिर,

नमस्ते ।

तुम्हारा पत्र पहुँचा। श्रद्धा के प्रबन्धकर्ता को कह दिया है कि उक्त पत्र को तुम्हारे पास नियमपूर्वक भेजते रहा करें। कार्यालय में लिख दिया है कि गुरुकुल की नियमावलि तुम्हारे पास भेज दी जावे। अपने पठन-पाठन का ब्यौरा मुझे लिखकर भेजोगे और उसके विषय में सम्मति माँगोगे तो मैं लिखता रहूँगा।

अपने पिताजी को मेरी नमस्ते कहना।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

ब्रह्मचारी युधिष्ठिर
सारस्वत ब्राह्मण
होलकर स्टेट
पो० महेश्वर

ओ३म्

गुरुकुल काँगड़ी
२ आषाढ़ १९७८

प्रिय ब्रह्मचारी युधिष्ठिर,

तुम्हारा पत्र मिला। यह नियम अनिवार्य है कि १० वर्ष की आयु समाप्त होने पर किसी बालक को प्रबन्धकर्तृ सभा भी प्रवेश की आज्ञा नहीं दे सकती। यदि तुम यहाँ इसपर भी आकर कुछ घटना आदि करोगे तो सत्याग्रह नहीं प्रत्युत दुराग्रह होगा। गुरुकुल काँगड़ी में तुम्हारी पढ़ाई का प्रबन्ध सभा भी नहीं कर सकती, फिर मेरा तो कुछ भी वश नहीं है।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

पोस्टमैन ब्रह्मचारी युधिष्ठिर को खुद को ए० व्ही० स्कूल में देवे।
महेश्वर
होलकर स्टेट

ओ३म्

पो० गुरुकुल काँगड़ी
जिला बिजनौर
दिनांक २४-३-७८

महाशय,

नमस्ते।

आपका विस्तृत पत्र पहुँचा। जब आप ब्र० युधिष्ठिर को लेकर भाद्रपद में बाहिर निकलेंगे और हरदुआगंज और ऋषिकेश इत्यादि में इसके लिए यत्न करेंगे उस समय आप गुरुकुल भूमि में भी आ जाना, तो उसके पठन-पाठन विषय में मैं अपनी सम्मति भी दे दूँगा।

पत्र भेजते समय आप टिकट न भेजा करें, इसकी कुछ आवश्यकता नहीं। चिरंजीव युधिष्ठिर को आशीर्वाद कहिए—

महाशय गौरीलाल आचार्य
पो० महेश्वर
होलकर स्टेट

आपका
श्रद्धानन्द

ओ३म्

नया बाजार,
देहली
७ आश्विन १६७८

महाशय,

नमस्ते।

आपका पत्र पहुँचा। चिरंजीव युधिष्ठिर का ठीक प्रबन्ध हो गया, यह सुनकर सन्तोष हुआ।

श्री गौरीलाल आचार्य
महेश्वर (होलकर स्टेट)

श्रद्धानन्द

ओ३म्

१७, वर्न बैश्चियन सड़क,
देहली।
ति० २४ ज्येष्ठ १६७८

महाशय,

नमस्ते।

आपकी ज्येष्ठ कृ० ३ सं० १६७८ की लिखी अपील मंत्री जी ने मुझे दी। सार्वदेशिक आ० प्र० सभा के साथ गुरुकुलों का कोई सम्बन्ध नहीं, इसलिए यह अपील सभा के किसी अधिवेशन में भी पेश नहीं हो सक्ती।

(२) आपके बालक की आयु १० वर्ष से अधिक होने के कारण गुरुकुल काँगड़ी में तो वह प्रविष्ट हो ही नहीं सकता। कदाचित् अन्य गुरुकुलों का भी ऐसा ही नियम हो यह सम्भव है।

(३) जब तक गुरुकुलों के नियम ऐसे हैं तबतक ऐसे मामलों में कुछ नहीं हो सकता।

पं० गौरीलाल आचार्य
हिन्दी प्रथमाध्यापक
ए० व्ही० स्कूल
महेश्वर, होलकर स्टेट

भवदीय
श्रद्धानन्द प्रधान
सार्वदेशिक आ० प्र० सभा

(ऐ) लाला मुंशीराम का एक अंग्रेजी पत्र (रानडे या तिलक के नाम)

[हमारे पास नांदेड़ (महाराष्ट्र) के प्रा० कुशलदेव शास्त्री ने २६ सितम्बर (१८६३ ई० ?) को जालंधर से मुंशीराम द्वारा लिखित एक अंग्रेजी पत्र की फोटोस्टेट प्रति भेजी है। पत्र लिखने की तिथि २६ सितम्बर का तो उल्लेख है, किन्तु सन् का उल्लेख नहीं है। इस पत्र को उन्होंने लोकमान्य तिलक के पुणे-स्थित निवास गायकवाडवाड़ा से प्राप्त किया है। तिलक-निवास के व्यवस्थापकों के मतानुसार यह पत्र १८६३ का है। अनवधानता के कारण पत्र-लेखक ने तारीख के साथ सन् का उल्लेख नहीं किया। प्रा० कुशलदेव के अनुसार यह पत्र लाला मुंशीराम ने बाल गंगाधर तिलक को लिखा था, किन्तु मेरा विचार भिन्न है। मेरी धारणा है कि यह पत्र महादेव गोविन्द रानडे को लिखा गया होगा। इसके कुछ कारण इस प्रकार से हैं—

१. स्वामी दयानन्द के भक्त और उन्हीं के द्वारा मनोनीत परोपकारिणी सभा के सभासद् होने के कारण मुंशीराम जी रानडे से परिचित थे, किन्तु तिलक से उनका तब तक (१८६३ तक) परिचय नहीं हुआ था।

२. तिलक का परोपकारिणी सभा से कोई लेना-देना नहीं था, जबकि रानडे परोपकारिणी सभा के सभासद् थे। तिलक कट्टर सनातनी थे। उनका आर्यसमाज की किसी सभा-सोसाइटी से कोई सीधा सम्बन्ध कभी नहीं रहा।

३. १८६३ में लाहौर में परोपकारिणी सभा का अधिवेशन नहीं हुआ। यह तो सम्भव है कि १८६३ के सितम्बर मास में इस सभा का लाहौर में अधिवेशन आमन्त्रित किये जाने की कोई चर्चा रही हो। स्वयं मुंशीराम परोपकारिणी सभा के सभासद् १६०६ में बने थे, किन्तु यह सम्भव है कि सभा का अधिवेशन लाहौर में रखने का विचार सभा के अधिकारियों के मन में आया हो और उन्होंने आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान होने के नाते लाला मुन्शीराम जी को इसकी सूचना दी हो, किन्तु बाद में निश्चय बदल गया हो। कारण कि १८६३ का परोपकारिणी सभा का वार्षिक अधिवेशन आर्यसमाज अजमेर के भवन में दिनांक २८-२६ दिसम्बर को हुआ था। इसमें रानडे भी सम्मिलित नहीं हुए थे क्योंकि वे उन्हीं तिथियों में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में उपस्थित थे। लाहौर में इसी अवसर पर मुंशीराम की भेंट रानडे से हुई थी, इसका विस्तृत उल्लेख स्वयं मुंशीराम ने 'इनसाइड कांग्रेस' के लेख संख्या-२ (कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन) में किया है। रानडे से भी यह उनकी प्रथम भेंट ही थी।

४. लाला मुन्शीराम ने लोकमान्य तिलक को पहली बार दिसम्बर १८६६ में लखनऊ कांग्रेस में देखा। यहाँ पर वे तिलक के व्यक्तिगत सम्पर्क में भी आये थे, किन्तु यह उनकी प्रथम भेंट ही थी। अतः १८६३ में तिलक को पत्र लिखने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। द्रष्टव्य 'इनसाइड कांग्रेस' का तृतीय लेख 'कांग्रेस

का लखनऊ अधिवेशन'।

५. तिलक से मुन्शीराम की दूसरी भेंट पुनः कांग्रेस के १६०० के लाहौर अधिवेशन में हुई थी।

६. अब प्रश्न यह है कि रानडे को लिखा गया यह पत्र पुणे के तिलक के संग्रह में कैसे पहुँचा ? वैसे तो यह अनुसन्धान का विषय है किन्तु तिलक की भाँति रानडे का कर्मक्षेत्र भी पुणे रहा था। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि वह पत्र तिलक के संग्रहालय में आ गया हो। किन्तु इतना तो निश्चित है कि मुंशीराम ने यह पत्र तिलक को नहीं लिखा था।

७. एक बात और भी है। इस पत्र में जिस राजस्थान-समाचार का उल्लेख है वह अजमेर से मुन्शी समर्थदान के सम्पादन में प्रकाशित होता था। मुंशी समर्थदान स्वामी दयानन्द के विश्वासपात्र थे तथा स्वामी जी के जीवन-काल में ही वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक भी रह चुके थे। अतः उनका रानडे से परिचित होना स्वाभाविक ही है। निश्चय ही राजस्थान-समाचार में उन्होंने महादेव गोविन्द रानडे का ही इतिवृत्त लिखा होगा। मूल पत्र आगे दिया जा रहा है—]

Jullandur City
The 26 Sept.

My dear Sir,

I am sorry I could not write to you earlier. I thank you for your kindly sending to my address the Nos. of Rajasthan-Samachar containing a short account of your life. But I did not want them. I had already received the Paper, and want a little more material than that. For this reason, I wish to trouble you a little more. Are you coming to join the meeting of Paropkarni which to be held next December at Lahore ? If so I will see you there. Otherwise, I shall have to send some qestions to you, to which I will solicit replies from you.

Hoping to be excused for this trouble.

I Remain
Yours faithfully
(Munshiram)

परिशिष्ट ३

स्वागताध्यक्ष का भाषण

[‘जलियाँवाला बाग’ के नृशंस हत्या-काण्ड के उपरान्त ‘भारतीय राष्ट्रीय महासभा’ का जो अधिवेशन अमृतसर में हुआ था उसके ‘स्वागताध्यक्ष’ का दायित्व महात्मा गांधी के अनुरोध पर स्वामी जी ने स्वीकार किया था। उस अवसर पर स्वामी जी ने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था उसकी अविकल प्रति हमें हिन्दी के ख्यातिप्राप्त साहित्यकार आचार्य क्षेमचन्द्र ‘सुमन’ के सौजन्य से प्राप्त हुई है।

यहाँ उस स्वागत-भाषण को इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जा रहा है कि स्वामी जी ने कांग्रेस के मंच से वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ देश के स्वातन्त्र्य एवं ऐक्य के लिए जिन क्रान्तिकारी विचारों का प्रकटीकरण किया था उनसे, एवं उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और ओजस्वी मनीषा से पाठक परिचय प्राप्त कर सकें। ऐसे उदात्त और प्रेरक भाव स्वामी जी-जैसा महानुभाव ही प्रकट कर सकता था। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि इस अधिवेशन में जहाँ मनोनीत अध्यक्ष श्री मोतीलाल नेहरू अपने पूरे परिवार के साथ सम्मिलित हुए थे वहाँ महात्मा गांधी के अतिरिक्त लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, देशबन्धु चित्तरंजन दास, विपिनचन्द्र पाल, प्रभृति अनेक चोटी के नेता देश के विभिन्न भू-भागों से पधारे थे। इस प्रकार नरम और गरम दलों की इन विभूतियों में वैचारिक सामंजस्य बिठाने का कार्य श्रीमती एनी बेसेण्ट तथा पण्डित मदनमोहन मालवीय जी के साथ स्वयं स्वामी जी भी कर रहे थे। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में यदि पाठक स्वामी जी के भाषण को पढ़ेंगे तो उन्हें विशेष प्रेरणा मिलेगी। कांग्रेस के इस ‘अधिवेशन’ तथा भाषण का उल्लेख “ग्रन्थावली” के प्रस्तुत खण्ड के पृष्ठ १०४ पर किया जा चुका है।

—सम्पादक]

भारतीय राष्ट्र समाज के ३४वें अधिवेशन (अमृतसर) की स्वागतकारिणी सभा के सभापति का आरम्भिक भाषण

तिथि ११ पौष, १९७६) (ता० २६ दिसम्बर, १९१९

ओ३म् त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधाते सुम्नमीमहे ।।

हे, सारी सृष्टि के आधार ! तुम्हीं हमारे रक्षक पिता हो—तुम्हीं हमें मान दिलानेवाली माता हो। इसलिए हम सब तुम्हें इस पवित्र यज्ञ में आह्वान करते हैं। हे शासकों के परम शासक और जातियों के परम सहायक ! तुम आज इस जातीय भवन में अपने दृढ़ न्याय और असीम प्रेम का प्रसार करो जिससे प्रभावित होकर सब बहिनें और भाई, चेतन और अचेतन—दोनों प्रकार के जगत् के डर से मुक्त होकर, न्याय और प्रेम की आहुतियों से इस जातीय यज्ञ को पूर्ण करें।

भारत माता की पुत्रियो और पुत्रो !

स्वागतकारिणी सभा अमृतसर की ओर से मैं आप सबका हार्दिक स्वागत करता हूँ। जिन्होंने दिल्ली नगर में पहुँचकर इस जातीय महासभा के रत्नों को निमन्त्रित किया था, जिन्होंने आप सबके स्वागत के लिए देहली से लौटते ही अमली काम शुरू कर दिया था, जो मातृ-भक्ति के प्रेम-मद से उन्मत्त होकर दिन-रात जातीय सेवा की मस्ती में झूमते फिरते थे, जिन्होंने गंगा और यमुना के संगम की बुनियाद गत रामनवमी के दिन रखकर सिक्ख गुरुओं से पवित्र किए हुए इस नगर को सचमुच अमृत-सरोवर बना दिया था—उनको भयभीत स्वार्थ तथा अन्याय की शक्तियों ने गत १० अप्रैल को गुम कर दिया। अपने नेताओं का बिछोड़ा एक ओर, और जिस देवता की पूजा के लिए सत्याग्रह का मानसिक व्रत धारण किया था, उसकी गिरिफतारी दूसरी ओर—इन दोनों घटनाओं ने अमृतसर की व्याकुल जनता को अन्धा कर दिया। प्रजा अपनी पैत्रिक प्रथा के अनुसार सिर और पैर से नंगी, अपने माँ-बाप हाकिम के पास, फरियाद को दौड़ी। परन्तु हाकिम को उसके अन्दर का भय कँपा रहा था। वह मानता है कि उसने पहले से ही फौज इकट्ठी कर रक्खी थी और उसको हुकुम दे दिया था कि यदि भूलकर,

उसे माँ-बाप समझनेवाली, प्रजा उसके मन्दिर की ओर चलने का यत्न करे तो, जैसे भी हो सके, उसे आगे बढ़ने से रोका जाए। भोली निहत्थी प्रजा ने रूठे हुए बालक की तरह मारपीट कर आगे बढ़ने का यत्न किया और प्रजा के पति सम्राट् ज्यार्ज पंचम के प्रतिनिधियों ने उसकी प्रजा को गोलियों से भून डाला। अपने निरपराधी सम्बन्धियों को घायल होते हुए, और उनमें से बहुतों को रंगभूमि में बे-जान पड़े हुए देखकर, जनता में आसुरी भाव का विकास हुआ। जिस लाडले मान के भाव से प्रेरित होकर चले थे, उसका उलटा परिणाम देखकर भी जिन वीरों के हृदय नहीं डोले और जो फिर भी एक ओर मृत शरीरों और घायलों को उठाते हुए, दूसरी ओर जनता को शान्ति से काम लेने की प्रेरणा करते रहे, उन पर अब तक सत्यपरायण देवताओं के मानसिक भावों की पुष्प-वर्षा हो रही है। परन्तु साधारण पुरुष क्रोधाग्नि में दग्ध होकर बुद्धिहीन हो गए। उस तामसी अवस्था में जो पिशाचत्व के काम कुछ भारत के कुपुत्रों से हुए वह जाति के उज्ज्वल मुख पर एक बदनुमा धब्बा है और उसी के लिए सारे पंजाब को प्रायश्चित्त करना पड़ा है। यदि गंगा और यमुना के संगम के साथ सरस्वती भी उनमें आ मिलती तो पूर्ण पवित्र प्रयाग बन जाता, और हिन्दू, मुसलमान और ईसाई जन-समाजों के मेल से भारत से दुई दूर होकर वृटिश साम्राज्य की जड़ें पाताल में पहुँच, संसार में सचमुच एक चक्रवर्ती राज्य की बुनियाद डाल देतीं। परन्तु जहाँ स्वार्थ का चारों ओर राज्य है, वहाँ इस गिरे हुए समय में निःस्वार्थ क्षमता का प्रकाश कैसे होता! नियम के नाम पर विप्लव और शान्ति के नाम पर अत्याचार का राज्य फैल गया। मार्शल-लॉ ने—नर, नारी, बाल, वृद्ध और युवा सबको बेजान कर दिया। वैशाख की पवित्र संक्रान्ति के दिन जो रक्त से भूमि लाल हुई उसके श्रवणमात्र से सबके छक्के छूट गए। हाँ, उस दिन मार्शल-लॉ का विजय हुआ और शान्ति फैल गई, परन्तु वह श्मशान-भूमि और कब्रिस्तान की शान्ति थी—वह मौत की शान्ति थी।

इस शान्ति का निष्कण्टक राज उस समय तक बराबर रहा जब २९ जून सन् १९१९ की दोपहर के समय मैंने, भारत के दो प्रसिद्ध नेताओं और पंजाब के अपनाए हुए संरक्षकों के साथ, अमृत नाम्नी—परन्तु विष से मूर्छित—नगरी में प्रवेश किया। मेरा मतलब पूज्य मालवीय जी तथा माननीय पं० मोतीलाल नेहरू जी से है।

जिस दिन से इन दोनों वीरों ने जलियाँवाला बाग नामी पवित्र तीर्थ की प्रदक्षिणा करके धैर्य और निर्भयता का अमर मन्त्र फूँकना शुरू किया, उसी दिन से अमृतसर में जीवन का संचार हो चला और इस जागृति का पहला परिणाम यह हुआ कि मूर्छा से जागते ही जनता ने अपने नेताओं की प्रतिज्ञा को याद करके कहना आरम्भ किया कि कांग्रेस का आगामी अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए।

किस प्रकार यह शब्द सारे शहर में गूँज उठा, किस प्रकार इस आवाज की गूँज को दबाने की कोशिश हुई, किस प्रकार 'दिन-दिन चढ़े सवाया गूढ़ा रंग' की उक्ति के अनुसार जनता की दृढ़ता को कामयाबी हुई, इसपर कुछ भी कहने की जरूरत नहीं। 'जिन ढूँढा तिन पाइया' अमृतसर की जनता की मुराद आज पूरी हुई और मुझे भारत की पूज्या देवियों और माताओं पर न्यौछावर होनेवाले पुत्रों का स्वागत करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस जातीय महासभा के इतिहास में शायद यह पहला ही अवसर है जब एक संन्यासी इसकी शानदार वेदी पर खड़ा दिखाई देता है। जिस दिन से मैं स्वागतकारिणी सभा का सभापति चुना गया, उसी दिन से यह प्रश्न हो रहा है—'क्या संन्यासी को राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेना चाहिए?' मेरा उत्तर बहुत सीधा है। जिस दिन से मैंने पवित्र संन्यासाश्रम में प्रवेश किया उसी दिन से सारे संसार को एक परिवार समझने, सारे संसार के धन को एक आँख से देखने और लोक-लज्जा को छोड़कर लोक-सेवा में दत्तचित्त होने का व्रत धारण कर लिया। मैं राजनैतिक आन्दोलन के लिए नहीं प्रत्युत किसी और कर्त्तव्य के पालन के लिए आज इस वेदी पर खड़ा हूँ। पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का यह है कि पंजाब के जिन रत्नों ने भारतमाता के उज्ज्वल माथे को दाग से बचाने के लिए फांसी और जन्मकैद को तुच्छ समझा और निरपराध होते हुए रहम की दर्खास्त को पाप समझकर कैदखाने को काशी और काबे का रुतबा दिलाया—हरकिशन लाल, दुनीचन्द, रामभज दत्त, किचलू, सत्यपाल—उन्होंने अपनी भरी सभा से मुझे आज्ञा भेजी कि मैं स्वागतकारिणी का सभापति बनूं। फिर मैंने जेल के खूनी पिंजरों में श्रद्धा-सम्पन्न चौधरी बुग्गा और वीर महाशय रत्तो-से सिंह-पुरुषों के मुख से भी यही ध्वनि सुनी। परन्तु जब इनमें से कुछ धर्म-वीरों की धर्मपत्नियों ने कहा—'बन्दीगृह में घिरे हुए हमारे पति महाशयों के आत्मा तभी शान्त होंगे जब कांग्रेस का महोत्सव न टले' और भिक्षु संन्यासी से उल्टी भिक्षा माँगी तो उसे मातृ-शक्ति के आगे सिर झुकाना पड़ा।

यह पहला कारण मेरे इस वेदी पर आने का है। दूसरा कारण मेरा आश्रम और उसका कर्तव्य है। सनातन वैदिक धर्म की रक्षा के लिए जो सम्प्रदाय (सनातन धर्म समाज, आर्यसमाज और सभा-समाजें) भारतवर्ष में स्थापित हैं, उनका प्रश्न है कि संन्यासी का राजनीति से क्या सम्बन्ध? मेरा उत्तर 'वेद मुझे आज्ञा देता है कि सौ बरसों की उम्र तक जीने की आशा कर्म करते हुए ही करूँ, परन्तु शर्त यह है कि उन कर्मों में फँसूँ नहीं।'

कवि तुलसीदास ने सच कहा है—'करमप्रधान विश्व करि राखा'—प्रत्येक को अपना धर्म पालन करना है। आज तक यह 'भारत जातीय महासभा' साधारण पोलिटिकल काम करती रही है, परन्तु आज इसे धर्म के शिखर पर उठना पड़ेगा,

और उसके साथ ही—हे, बहिनो और भाइयो! हम सबको भी अपनी दृष्टि ऊँची करनी पड़ेगी। पंजाब का तप सहस्र मुख से यही उपदेश दे रहा है कि मानवी मूल अधिकारों की प्राप्ति के लिए बड़े गम्भीर तप की आवश्यकता है।

अब नीतियों और राजीनामों और सौदा-सुलुफ का जमाना नहीं रहा; अब निर्भयता से सत्य पर दृढ़ होने का समय आ गया है। संन्यासी की सम्प्रदायों से—चाहे वे धार्मिक हों या राजनैतिक—क्या काम? उसने तो सारे संसार की सेवा का बीड़ा उठाया है—उसका किसी सम्प्रदाय के साथ क्या सम्बन्ध! शायद इसी विचार से प्रेरित होकर मेरे हस्बेहाल फारसी कवि ने कहा है—

'न हिन्दू अम् न मुसलमान न गब्रियम न यहूद'

मैं न 'हिन्दू' हूँ न 'मुसलमाँ', न 'ईसाई' हूँ और न 'यहूदी'। मैं न 'मॉडरेट' हूँ, न 'एक्स्ट्रीमिस्ट', न 'होमरूलर' हूँ और न किसी विशेष पक्ष का समर्थक हूँ। लेकिन, शायर के दूसरे मिसरे के साथ मैं सहमत नहीं। मैं नहीं कहता कि—

'बहैरतम् कि सरंजामे माचिखाहद बूद'

मैं विस्मित नहीं हूँ कि मेरा अन्त क्या होगा। मेरा आनन्द श्रद्धा में है और इसलिए मैं जानता हूँ कि भारत माता की सन्तान के साथ मेरा भविष्य भी उत्तम ही होगा।

एक राजनैतिक बुद्धिमान् ने मुझे सम्मति दी है कि मैं रिलीजस और सोशल कामों में लगा रहूँ और पोलिटिकल कामों में दखल न दूँ। उनके लिए मेरा उत्तर यह है कि जिस समय पंजाब की भूमि में आते हुए 'परिन्दों के भी पर जलते' थे, उस समय संन्यासी ने अपना कर्त्तव्य समझा कि यहाँ की मुरझाई हुई वाटिका को प्रेम-जल से सींचने के काम में आपके राजनैतिक नेताओं के कन्धे से कन्धा जोड़ दें। परन्तु आज जब देश के रत्नों ने अपना कर्त्तव्य सँभाल लिया है और ३४ वर्षों से देश-सेवा में रत कर्मवीरों ने एक स्वर से पंजाब को अपना लिया है, तब मैं जाति के अमीनों को उनकी अमानत सौंपकर अपने-आपको कृतकृत्य समझता हूँ।

बहिनो और भाइयो! मैं पंजाब की ओर से साधारणतया और अमृतसर की प्रजा की ओर से विशेषत: आप सबका स्वागत करता हूँ। मैं जानता हूँ और भली प्रकार अनुभव करता हूँ कि आपकी सेवा हम यथार्थ रूप से नहीं कर सकते। इस नगर को धनहीन, सम्पत्तिहीन, बलहीन और उत्साहहीन बनाने में मार्शल-लॉ ने कुछ कसर नहीं छोड़ी। परन्तु एक भाव है जिसे मार्शल-लॉ का भयानक अत्याचार भी दबा नहीं सका। वह है मातृभूमि का प्रेम और माता की सन्तान के साथ सच्चा अनुराग और वही भाव मैं आपको भेंट धरता हूँ। इस भाव में ऐसी वृद्धि हुई है कि यदि हम उसके लिए मार्शल-लॉ के संचालक श्रीमान् सर माइकल

ओडवायर और उनके हाथ के दोनों हथियारों—अर्थात् जनरल डायर और कर्नल फ्रेंक जॉनसन का हार्दिक धन्यवाद करें तो अनुचित नहीं है। और शायद कुछ व्यक्तियों ने इसी भाव को लक्ष्य में रखकर कर्नल फ्रेंक जॉनसन के सामने 'मार्शल-लॉ की जय' गुँजाई हो। निष्कपट कर्नल फ्रेंक और मातृ-प्रेम के रंग में प्रजा को रंग देनेवाले जनरल डायर ने जो मार्शल-लॉ की घुट्टियाँ पंजाब को पिलाई हैं उनसे पंजाब का जातीय जीवन ५० वर्षों के लिए मर तो क्या जाता, उल्टा आधी शताब्दी का उल्लंघन करके आज पंजाब अपने आगे बढ़े हुए बंगाली, मराठी, गुजराती, मद्रासी भाइयों के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ाने को तैयार है। जिस पंजाब प्रान्त में राष्ट्रीयता और उसके अधिकारों की चर्चा पढ़े-लिखों में से भी केवल मुट्ठीभर आदमियों में रह गयी थी वहाँ आज गुमनाम-से-गुमनाम ग्राम में भी जातीय महासभा के उद्देश्य और उसकी शक्ति को केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी कुछ-कुछ समझने लग गई हैं। गत १५ दिनों के अन्दर मेरे पास ग्रामों से जो पत्र आए हैं और २४ जून १६१६ ई० से अब तक जिन ग्रामीण बहिनों और भाइयों से मेरी भेंट हुई है उनकी काया-पलट देखकर मुझे विश्वास हो गया कि जाति में अब पूरी जागृति हो गई है।

इस समय जातिरूपी वीणा की सम्प्रदायरूपी विविध तारें एक-दूसरी से मिली हुई हैं और उनमें से एक ही स्वर निकल रहा है। इन स्वरों की एकता की बधाई में क्या पोलिटिकल पार्टीबाजी के बेसुरे आलाप को न्यौछावर नहीं कर देना चाहिए? मॉडरेट, लिबरल्ज़, और एक्स्ट्रीमिस्ट रेडिकल्ज़, महाराष्ट्र होमरूलर्ज़ और अडियार होमरूलर्ज़ तथा इनकी शाखाएँ-प्रतिशाखाएँ, एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करने की दावेदार हैं। उनका एकमात्र उद्देश्य मातृभूमि को स्वतन्त्र कराना और संसार के अन्तर्जातीय संगठन में उसे माननीय बनाना बतलाया जाता है। तब एक-दूसरे से इतनी घृणा क्यों? अपनी कमजोरी मनुष्य स्वयं नहीं देख सकता और जब दो पक्ष-प्रत्यक्ष में स्थापित होकर विवाद आरम्भ हो जाय तब तो विचारों का पक्षपात स्वाभाविक है, परन्तु तीसरा निष्पक्ष दर्शक दोनों की कमजोरी को ठीक बतला सकता है। सच्चाई के प्रकट करने में क्षमा-प्रार्थना की आवश्यकता नहीं और इसलिए मैं अपनी सम्मति स्पष्ट कह देता हूँ।

इस समय के मतभेद का कारण भारत-सचिव मिस्टर माण्टेगू की पेश की हुई सुधार-स्कीम समझी जाती है। नरमदल के महानुभाव कहते थे कि इसे स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाओ तो हम तुम सबके साथ शामिल होंगे। तब प्रश्न होता कि क्या आप इतने ही संशोधन से सन्तुष्ट हैं? उत्तर मिलता था कि नहीं, परन्तु जितना मिले उसे स्वीकार करके और लेने के लिए हाथ फैलाना और बात है और मिले हुए को सर्वथा अस्वीकार करना और बात है। नरमदल की दृष्टि से यह उत्तर ठीक था, परन्तु अब गरमदल भी तो यही कहने लग गया है।

अब तिलक महाराज भी तो यही कहते हैं कि जितना मिलता है उसे ग्रहण करो और शेष के लिए आन्दोलन जारी रक्खो। फिर मतभेद क्यों ? उत्तर दोनों ओर से एक-सा ही मिलता है। नरम कहते हैं—'हम अपनी सम्मति से नहीं डिगे, गरमों ने अपनी सम्मति बदल ली है—वे हमारे समीप पहुँच गए हैं और इसलिए हमारी जीत स्वीकार करो।' गरम कहते हैं—'नरम तो बिना ननुनच के सब-कुछ स्वीकार करने को तैयार थे, अब वे हमारी ओर उठे हैं, इसलिए उन्हें हार स्वीकार करनी चाहिए।' एक-दूसरे की दलीलें समाचारपत्रों में निकल चुकी हैं, उनको दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं। बात सीधी यह है कि दोनों में से कोई भी हार मानने को तैयार नहीं है। दोनों ही अपने स्थान में डटे खड़े हैं। नरम कहते हैं कि भारत-सचिव हमारी बुद्धिमत्ता पर मोहित हुए और हमारी माकूल महदूद तजवीजों से सहमत होकर उन्होंने भारतवर्ष को कुछ अच्छे अधिकार दिए हैं। इसके उत्तर में गरम कह सकते हैं कि यदि हम पूरे स्वराज की एकदम याचना न करते तो देश को इतना भी न मिलता जो अब मिला है। वे पंजाबी की प्रसिद्ध लोकोक्ति पेश कर सकते हैं कि 'मौत को पकड़ो तो जहम कबूल करता है।' परन्तु मिस्टर माण्टेगू एक तीसरी बात कह रहे हैं। 'हाउस आव कॉमन्स' में सुधार-स्कीम पर वक्तृता करते हुए उन्होंने ४ दिसम्बर को मिस्टर स्पूर के उत्तर में कहा कि न तो कॉमन्स भारत की शासन-पद्धति को हिन्दोस्तानी आन्दोलन के कारण बदल रहे हैं और ना ही वह विश्वास करते हैं कि यह आन्दोलन आगे जारी रहेगा। उन्होंने यह भी कहा अर्थात् 'आन्दोलन से शक्ति के परिवर्तन में शीघ्रता न होगी प्रत्युत देरी हो सकती है।'

तीन दल हैं और तीनों की बात एक-दूसरे को काटती है। परन्तु अपने-अपने खयाल में तीनों सच्चे हैं। नरम यदि सचिव माण्टेगू के प्रस्ताव का समर्थन करते तो उनके पास सुधार-स्कीम के विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देना कठिन हो जाता। परन्तु क्या यह सच नहीं कि इस सुधार-स्कीम को एकदम से पास कराने के लिए 'कांग्रेस की एक शिकायत आज के अधिवेशन से पहले दूर करना' ही मिस्टर बानरला ने बतलाया था। मिस्टर माण्टेगू भी सच्चे हैं क्योंकि उन्होंने जो कुछ ब्रिटिश पार्लियामेंट से भारत को दिलवाया है वह उन्हीं के दृढ़ संकल्प का नतीजा है—भारत की नरम और गरम पार्टी तो उनकी शतरंजी चालों के मोहरे मात्र थे।

जब यह हाल है तो लड़ाई काहे की ? पुराने पठानों की तरह दोनों मूँछों पर ताव दे रहे हैं और मातृभूमि के विरोधी उनकी खिल्ली उड़ा रहे हैं। यह घरू युद्ध कैसे दूर हो ? सुधार-स्कीम अब विवादास्पद विषय नहीं रहा। नरमों का उसे स्वीकार करना और गरमों का उसे अस्वीकार करना—दोनों निरर्थक डींगें हैं। बुरी है वा भली, पूर्ण है वा अपूर्ण—सुधार-स्कीम हमपर लागू हो चुकी है।

नरमों से तो इसपर कोई प्रश्न नहीं हो सकता, परन्तु मैं गरमों से पूछता हूँ कि आपके अस्वीकार करने के अर्थ क्या हैं? क्या आप इस पास हुए कानून का सर्वथा बहिष्कार करने को तैयार हो? क्या आप यत्न न करोगे कि लेजिस्लेटिव काउँसिलों में आपके चुने हुए, आपका पक्ष समर्थन करनेवाले प्रतिनिधि बैठें? यदि सारी जाति, एकसम्मत होकर, इन मिले हुए अधिकारों की उपेक्षा करने को तैयार होती, तब तो अस्वीकार करने के कुछ अर्थ भी हो सकते। परन्तु इस समय तो यह असम्भव है। तब झगड़ा कैसे तै हो? झगड़ा तै हो गया है क्योंकि लोकमान्य तिलक महाराज ने व्यवस्था दे दी है कि 'जो मिला है उसे ले लो और शेष के लिए व्यवस्थित आन्दोलन जारी रक्खो।'

भारत में राष्ट्रीयता के भाव के आदि संचारकों में से तिलक महाराज का ऊँचा दर्जा है। और कौन भारत का सपूत है जिसने बहादुर तिलक से बढ़कर माता की शान की रक्षा के लिए सहन किया है? क्या 'मातृ-सेवक-सेना' के सैनिक अपने बूढ़े सेनापति की व्यवस्था के आगे सिर न झुकाएँगे?

अब रास्ता साफ हो गया। नरम और गरम दोनों मिले अधिकारों को लेने में सहमत हैं। मतभेद इतना ही है कि इतना भी किसकी कृपा से मिला? मैं उस बहुत पक्ष की सेवा में, जिसके हाथों में इस समय कांग्रेस की बागडोर है, एक निवेदन करता हूँ। आपकी शक्ति बड़ी है। बुद्धि और नीति का चाहे आपके कुछेक मॉडरेट लिबरल भाइयों ने ठेका ले रक्खा हो, लेकिन संस्था और बल में आपका पाया इस समय ऊँचा है। सामने शत्रु नहीं है, एक ही माता के पुत्र आपके भाई हैं। उनमें से कुछ ऐसे पुराने योद्धा भी हैं जिन्होंने माता की सेवा में बहुत-कुछ सहन किया है। क्या स्वर्गवासी गोखले—मातृसेवा में मुग्ध उसी चिन्ता में प्राण देने वाले गोखले—को आप भुला सकते हो? और उस राजनैतिक संन्यासी के त्यागी उत्तराधिकारी साधु-स्वभाव श्रीनिवास शास्त्री की तुम उपेक्षा कर सकते हो? आज समय के फेर ने चाहे कुछ पलटा दे दिया हो, परन्तु क्या राजनैतिक आन्दोलन के प्रथम वीर सिपाही श्री सुरेन्द्रनाथ बंदोपाध्याय का तुम तिरस्कार करोगे?

झगड़ा एक पल में निबटता है, यदि एक संन्यासी का कहना मान लो। तुम ही मूँछ नीची कर लो और जो कुछ मिला है उसके सँभालने में लग जाओ।

इस सम्बन्ध में आपका एक कर्त्तव्य है जिसे मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। यह सच है कि हमारी जाति को उसके अधिकारों से ब्रिटिश शासकों ने मुद्दत तक वंचित रक्खा, यह सच है कि इस देश के साथ कई बार विश्वासघात हुआ, यह सच है कि इस समय भी ब्रिटिश जाति के अन्दर ऐसे लोग हैं जिन्होंने आपके पोलिटिकल अधिकारों को दबाने का ही नहीं बल्कि हमारे बचे-खुचे मानवी अधिकारों तक को छीनने का यत्न किया है, परन्तु क्या कुपात्रों की खुदगर्जी और

बे-इनसाफी को देखकर सुपात्रों के धर्मभाव और न्याय को भूल जाना चाहिए? मिस्टर माण्टेगू ने इस समय वह काम किया है जो संसार के इतिहास में सदा के लिए यादगार रहेगा। कहा जा रहा है कि 'मि० माण्टेगू ने क्या किया है? किसी हद तक उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन किया है और जो कुछ भी किया है अपने साम्राज्य की भलाई के खयाल से किया है। अब उनका धन्यवाद करने की क्या जरूरत है?' मैं पूछता हूँ कि संसार में कितने व्यक्ति हैं जो अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं? क्या यह सच नहीं है कि आपमें से जितने पोलिटिकल अधिकार पाने के लिए अधिक शोर मचाते हैं, वे भारत के साढ़े छः करोड़ अन्याय से पीड़ित अपने भाइयों को अछूत समझकर उनसे घृणा का भाव दूर नहीं कर रहे? और कितने हैं जो अपने उन दीन भाइयों को अपनाते हैं? यदि अपनी जाति के एक अन्त्यज को अपनाने के लिए आप 'मोहनदास कर्मचन्द गांधी' को देवता मान सकते हों तो घोर विरोधों का मुकाबिला करते हुए एक रसातल को गई हुई जाति को, किसी अंश तक, उसके अधिकार दिलाने में कृतकार्यता प्राप्त करने के उपलक्ष्य में क्या आप मिस्टर माण्टेगू का वाणी से भी धन्यवाद न करेंगे? और जिस ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने अपने कर्त्तव्य को (चाहे वह किसी स्वार्थ के विचार से क्यों न हो) समझा है, क्या हम उसे साधुवाद न कहेंगे? बहिनो और भाइयो! भारत की प्राचीन सभ्यता के नाम पर मैं आप सबसे अपील करता हूँ कि इस अपूर्व अवसर को हाथ से न जाने देना और कृतघ्नता का दाग माथे पर न आने देना!

परन्तु इस कृतज्ञता प्रकाश करने का यह मतलब नहीं है कि आप अपने शेष अधिकारों के लिए आन्दोलन करना छोड़ दो। मिस्टर माण्टेगू के कृतज्ञ होते हुए भी इस अंश में उनसे मतभेद आवश्यक है। परन्तु एक बात मैं अवश्य कहूँगा कि कहीं आन्दोलन में फँसकर मिले हुए अधिकारों का ही नाश न हो जाय। एक शायर का कलाम बिल्कुल हस्बे-हाल है—

धोने की रिफार्मर है जा बाकी, कपड़े पै है जब तलक कि धब्बा बाकी।
धो शौक से धब्बे को पै इतना न रगड़, धब्बा रहे कपड़े पै न कपड़ा बाकी।

अब मैं उस घटना की ओर आता हूँ जो आपको स्वदेश के दूर-से-दूर कोने से खींच कर लाई। देश जिस परीक्षा में से गुजरा है उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। जिस घटना ने पंचनद की पुरानी पाक सरजमीन से चंगेजखाँ और नादिर-शाह के अत्याचारों को विस्मरण करा दिया उसकी बुनियाद भारत की असली और बनावटी—दोनों प्रकार की राजधानी देहली नगर में रक्खी गई थी। ३० मार्च सन् १६१६ ई० के तीसरे पहर पहिली गोली देहली में चली और उस समय पता लगा कि जिस देश को बेजान समझा जाता है उसमें कितनी जान है। हण्टर-कमेटी के आगे जो शहादत गुजरी है वह क्या जाहिर करती है? उससे मालूम होता है कि इस सदियों से सोई हुई जाति के अन्दर सच्ची वीरता का भाव भी

सोया हुआ ही था, मर नहीं गया था। भारतवर्ष के पुनरुद्धार के लिए पहला रक्त पाण्डवों की पुरानी राजधानी की भूमि पर गिरा और उस रक्त ने भारतमाता के प्रधान पुत्रों (अर्थात् हिन्दुओं और मुसलमानों) के सदियों से जुदा हुए दिलों को जोड़ दिया। ३१ मार्च को पहला जनाजा पचास हजार मातमदारों के साथ कब्रिस्तान की तरफ चला और वहाँ शहीद की लाश पर मुस्लिम ईमान, हिन्दू-मुस्लिम एकता के शैदा, इस समय के मेरे सबसे प्यारे भाई, हकीम अजमलखाँ से मेरी भेंट हुई। मुसलमान शहीद का जनाजा और हिन्दू बराबर कन्धा दे रहे थे। यह भी एक विचित्र दृश्य था। शहीद की कब्र पर उसके खून के पैवन्द से, बरसों के बिछुड़े हुए दिल एक-दूसरे से जुड़ गए।

फिर जब शाम को दो जनाजे कब्रिस्तान की ओर चलते करके मैं तीन अर्थियों के साथ श्मशान-भूमि में पहुँचा और दाह-कर्म के पीछे परमेश्वर के दरबार में शान्ति के लिए प्रार्थना की और हिन्दू-मुसलमानों को इस ईश्वरदत्त एकता को स्थिर रखने के लिए अपील की तो एक सिक्ख भाई ने कहा—'हमपर क्यों जुल्म करते हो? सिक्ख भी कौम के साथ हैं।' अब हजारों के मजमे में उस वक्त सैकड़ों आँखों से प्रेम की जलधारा बह रही थी। और जब मैं श्मशान-भूमि से चल दिया तो (पूर्वीय तपस्वी महात्मा मसीह के सच्चे चेले और भारत माता के प्रेम-पुत्र, मेरे प्रिय भाई महाशय चार्ली ऐण्ड्रूज के धर्मभ्राता) प्रिंसिपल 'सुशील कुमार रुद्र' मुझे आकर गले से मिले और कहा—'मातृभूमि के निरपराध पुत्रों पर अत्याचार देख नहीं सकता। मेरा हृदय जाति के साथ है और प्रत्येक सच्चा ईसाई आपके साथ है।' परमेश्वर इस मरुभूमि में बहुत-से ऐसे रागद्वेषरूपी दुष्ट व्यसनों के दलन करनेवाले रुद्र उत्पन्न करे, यह मेरी हार्दिक याचना है।

४ अप्रैल सं० १९१९ ई० का दिन आया जब जुमा मस्जिद देहली में खुदा की शान दिखाई दी। उसके पश्चात् १८ अप्रैल की रात तक (जब तक कि पुलिस का राज फिर से स्थापित न हुआ) दिल्ली नगर में रामराज रहा। यह ठीक है कि ३ मार्च के प्रातःकाल से १८ अप्रैल की रात तक एक ताला नहीं टूटा, एक मारपीट नहीं हुई, एक जेब नहीं कतरी गई—और तो क्या, जुएखाने बन्द रहे, शराबखानों में कोई विरला आदमी ही दिखाई देता था और प्रसिद्ध गुण्डों ने भी देवियों को माँ, बहिन, और बेटी समझकर उनको अभयदान दे छोड़ा था।

देहली से यह प्रेम-मयी वायु सारे पंजाब में फैल गई। एकता और मिलाप की लहर बिजली की तरह सारे देश में घूम गई। मस्जिद और मन्दिर में कुछ भेद न रहा। ऐसे समय में सचाई और सहनशीलता का सन्देश देने के लिए महात्मा गांधी देहली की ओर चले। जिन हुकूमत के नशे में चूर मनुष्यों का जीवन ही स्वार्थ का स्वरूप हो, उनकी समझ में न सत्य का गौरव आ सकता है और न ही वे सत्याग्रह की शान को समझ सकते हैं। स्वार्थ का इन्द्रासन डाँवाडोल हो गया।

इस दुबले, बीमार, मुनहनी जिस्म के अन्दरवाले आत्मा के तेज को दुनियादार स्वार्थ सहन न कर सका। जिन बहादुर ब्रिटिश जनरलों और गम्भीर नीतिमान् ब्रिटिश शासकों ने एक-तिहाई दुनिया को जीतकर जर्मन साम्राज्य की शक्ति खाक में मिला दी थी, उसके योद्धा इस नई शक्ति के उद्भव से दहल गए, और उसी का नतीजा पंजाब का घोर उपद्रव है। अराजकता का राज हो गया, मनुष्य की जान का कुछ मूल्य न रहा, जेलखाने भर दिए गए, बोलना अपराध हो गया, नंगे चूतड़ों पर कोड़े खाकर चिल्लाना पाप हो गया, इज्जतदारों ने खयाली इज्जत को बचाने के लिए पुलिस रूपी यमदूतों के घर भर दिए और साध्वी सतियों को अपनी रक्षा कठिन हो गई। जलियाँवाले बाग की घटना को सामने लाओ और जनरल डायर के कथन को याद करो :

'हाँ, मैं समझता हूँ कि बिना गोली चलाए भी शायद मैं उनको मुन्तशिर कर सकता था।' इसपर प्रश्न हुआ कि फिर आपने ऐसा क्यों न किया ? उत्तर मिला— 'वे लौट आते और मेरी हँसी उड़ाते और मैं समझता हूँ कि मैं बेवकूफ बनता।' शायद इसी मौके के लिए शायर ने कहा था—'किसी की जान गई आपकी अदा ठहरी ! एक बहादुर ब्रिटिश जनरल की शान पर सैकड़ों युवा, बूढ़े और बालकों के सीस चढ़ जायँ तो क्या परवाह है, उसकी शान में फर्क न आना चाहिए। उन ११ से १५ वर्ष की विधवाओं का चित्र अपने सामने लाइए जिनके पति सूली पर चढ़े या भून डाले गए और जिनके उदासीन मुखों के दर्शन मात्र ने मुझे, नेहरू जी और मालवीय जी को आठ-आठ आँसू रुलाया। एक युवक के नंगे चूतड़ों पर बैतों की मार का हाल सुनाकर एक वृद्ध ऐसा रोया कि उसकी घिग्घी बँध गई। सिंह-पुरुष चौधरी बुग्गा की वीर रमणी का एक गोरे के हाथ से खींचकर मकान से लाया जाना केवल एक घटना है।

मैंने इन घटनाओं का स्मरण आपके हृदयों में शोक और घृणा का भाव उभारने के लिए नहीं दिलाया। घृणा किससे दिलाऊँ ? क्या ब्रिटिश जाति से जिसने रिपन, ब्राइट, फासेट, ब्रैडला, वेडरबर्न, इस कांग्रेस के पिता ह्यूम, काटन और उनके बीसियों सहकारियों को उत्पन्न किया और इस गिरी हुई जाति को उठाने में सहायता देते हुए ही समाप्त हुए ? क्या उस जाति से जिसने हार्डिंग और मॉर्ले, और माण्टेगू को जन्म दिया, जिनसे आगे भी बहुत-सी सहायता मिलने की आशा है ? परन्तु स्वार्थ के सौदे को छोड़कर मैं पूछता हूँ कि जिस जाति ने देवी वसन्ती और हार्नीमन, वुड्राफ और इनके बीसियों साथियों को उत्पन्न किया और जिसने श्रद्धा-सम्पन्न सरलहृदय ऐण्ड्रूज़ को भारत माता की गोद में दे दिया— उस ब्रिटिश जाति से घृणा दिलाने के लिए मैंने आपकी स्मरणशक्ति को नहीं प्रेरित किया है और न मैं आपको व्यक्तियों से घृणा दिलाना चाहता हूँ। व्यक्ति सब हमारे भाई हैं; उनमें जो दोष घुस जाते हैं वे ही हमारे शत्रु हैं।

'ओडवायर' और 'डायर', 'जॉनसन'और 'ओब्रायन' ये सब हमारे ही तो भाई हैं। एक पिता की तो सब सन्तान हैं। उनके अन्दर जो क्रोध और असाधुता के भाव हैं वे ही हमारे शत्रु हैं। परन्तु क्या उन शत्रुओं पर घृणा और क्रोध और 'कीने' की सहायता से हम विजय पा सकेंगे ? इसका एक कवि ने ठीक उत्तर दिया है—

अक्रोधेन जयेत्क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतं ।।

'क्रोध को हम शान्ति से जीतें, असाधुता को साधु-भाव से, कंजूसी को दान से और झूठ को सचाई से जीतने की आशा रक्खें।' जातियों की परस्पर की घृणा ने तो संसार के नाश की बुनियाद रक्खी है—उस घृणा का मैं समर्थक नहीं। न मैंने आपको शोकातुर करने के लिए इन घटनाओं का वर्णन किया है। मेरा मतलब केवल यह बतलाने का है कि जिस वेदना में से गुजरने का पंजाब को सौभाग्य प्राप्त हुआ है उससे हम सबको क्या शिक्षा मिलती है।

इस वेदना का प्रथम फल हिन्दू-मुसलमानों का ईश्वरदत्त मिलाप है जिसे स्थिर रखना जाति का प्रथम कर्त्तव्य है। इस मिलाप को स्थिर रखने के लिए दिलों को तीसरों के द्वेष से भी पाक रखना चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों की एकता के स्थान में हिन्दोस्तानी मात्र के अन्दर एकता उत्पन्न करके सारे संसार को अपनाना इस समय का मुख्य कर्त्तव्य है।

दूसरा फल इस वेदना का यह है कि जाति को तप का गौरव मालूम हो गया। मार्शल-लॉ के दिनों में पता लगा कि पोलिटिकल अधिकारों का शोर मचानेवाले यदि चरित्रहीन हों तो वे देश को रसातल में ले जाते हैं। इसलिए सबसे बढ़कर काम चरित्र-संगठन का है जो जाति को अपने हाथ में लेना चाहिए।

तीसरा फल यह हुआ कि जाति को व्यवस्था-बद्ध आन्दोलन के प्रभाव का पता लग गया। जहाँ भी नेता बुद्धिमान्, सहनशील और सत्य-परायण थे और जनता ने उनकी आज्ञाओं का पालन किया, उन स्थानों में बड़ा भारी बचाव हुआ और शीघ्र शान्ति स्थापित हो गई। सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सहनशक्ति का गौरव प्रत्यक्ष हो गया। सबसे बढ़कर सहनशक्ति का प्रकाश जलियाँवाले बाग में हुआ। इस वृक्ष-पुष्प-फल-हीन (किन्तु अमर)वाटिका में युवा पुरुषों ने ही नहीं, बल्कि बूढ़ों और बालकों तक ने सत्य पर आरूढ़ होकर घातक गोली की वर्षा को फूलों की वर्षा समझा। इस स्थान की 'जलन' को हिन्दू-मुसलमान और सिक्ख वीर शहीदों के लहू ने मिलकर शान्त कर दिया है। यह भूमि अब 'अमर-वाटिका' के नाम से प्रसिद्ध होगी क्योंकि इस पवित्र भूमि में जो मरे वे स्वयं अमर हो गए और हम सबको और आनेवाली नस्लों को अमृत-नगर में पहुँचने का सीधा रास्ता दिखा गए।

बहिनो और भाइयो ! पश्चिमी परिभाषा में 'पोलिटिकलमैन' जिसे कहते हैं, वह मैं नहीं हूँ। अपने पोलिटिकल अधिकार लेने का जो आधुनिक मार्ग है उसका मुझे अनुभव नहीं और इसलिए उसमें मेरा दखल देना धृष्टता मात्र होगा। कितना किस दर्जे का, किस क्रम से स्वराज्य मिलना चाहिए और किस प्रकार उसके लिए यत्न करना चाहिए, यह देश के राजनैतिक नेता ही जानते हैं, इसलिए इसका विचार मैं उन्हीं पर छोड़ता हूँ। और इस काम के लिए मैं मुनासिब साधन उन विविध राजनैतिक सभाओं को समझता हूँ जो इस समय, कई कारणों से, स्थापित हो चुकी हैं और जिनके नेता उनको दिनों तक उन्नत करने में लगे हुए हैं। परन्तु इस जातीय महासभा के सामने मैं कुछ अपने विचार रखना चाहता हूँ जो मेरे क्रियात्मक अनुभव का निचोड़ हैं।

इस जातीय महासभा का प्रधान काम अब तक यह रहा है कि स्वदेश के पोलिटिकल अधिकारों को विदेशी गवर्नमेण्ट से प्राप्त करने के लिए रेज़ॉल्यूशन मात्र पास करे, परन्तु जहाँ एक ओर उन पास किए हुए प्रस्तावों (Resolutions) को अमली जामा पहिनाने के लिए बहुत कम यत्न हुआ है वहाँ कौम की असली बुनियाद डालने और उस कौम को मिलनेवाले अधिकारों को पचाने के योग्य बनाने का बहुत कम क्या, इस जातीय महासभा की तरफ से कुछ भी यत्न नहीं हुआ। स्वराज्य प्राप्त करके उसे पचाने के लिए पहली जरूरत यह है कि कौम का एक-एक बच्चा ऐसी तालीम हासिल कर सके जिससे उसकी आत्मा दृढ़ होकर उसके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन का मालिक, उनको वश में करनेवाला बन सके। यह तब हो सकेगा जब एक ओर जातीय शिक्षा-पद्धति बनाकर कौम की तालीम कौम के हाथों में हो जाय और दूसरी ओर जाति के माता और पिता अपने शरीरों, इन्द्रियों और मनों को शुद्ध करके अपनी सन्तान के सामने, पैरवी करने के लिए, उत्तम मिसाल रक्खें। मैंने देश की आचार तथा समाज-सम्बन्धी सेवा करते हुए गत २६ वर्षों में अनुभव किया है कि जहाँ प्रत्येक शिक्षित पुरुष कॉलिज से निकलते समय देश और धर्म-सेवा का मानसिक व्रत धारण करके निकलता है वहाँ परीक्षा के समय एक हजार में से शायद ही एक साबितकदम रहता हो। ऐसे हिन्द के देशभक्त उँगलियों पर गिने जा सकते हैं जो विदेशी शासकों से प्रलोभित किए जाने पर भी देश के हित के लिए उपाधि (Title) रूपी सुनहरी जंजीरों को तोड़के फेंक दें। वाइसराय की अनुचित धमकी के उत्तर में 'सर' की उपाधि को सिर से उतारके फेंक देनेवाले डॉक्टर सुब्रह्मण्यम-से ब्राह्मण देश में कितने हैं? अपनी जाति पर अत्याचार करनेवाले पिशाच-भाव का जिस गवर्नमेण्ट की तरफ से इजहार हुआ, जिस गवर्नमेण्ट के चाकरों ने स्वजाति के गौरव को नष्ट करने में कुछ कसर न छोड़ी, उसकी दी हुई उपाधि को एक दिन के लिए भी धारण किए रखना पाप समझनेवाले भारत के सूर्य, कवि रवीन्द्रनाथ-

से कितने देवता हैं ? और सच्चे राजधर्म का पालन करनेवाले, मनुष्य और पशु के भय से मुक्त, वैदिक निर्भयता के उपदेश पर अमल करनेवाले, स्वदेश को पद-दलित करनेवाले शासकों की श्रेणी को एकदम छोड़ देनेवाले वीर शंकर नायर-से सिंहपुरुष कितने हैं ? देवियो और भारत माता के सुपुत्रो ! यदि जाति को स्वतंत्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। अब सदाचारी, ब्रह्मचारी, शिक्षक हों, और कौमी हो शिक्षा-पद्धति (National Scheme of Education) तब ही कौम की जरूरतों को पूरा करनेवाले नौजवान निकलेंगे, नहीं तो इसी तरह आपकी सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम निकलती रहेगी।

परन्तु यह पहली जरूरत पूरी होना कठिन है जब तक कि कौम की बुनियाद न पड़ ले। मैं इण्डियन नेशनल कांग्रेस की वेदी पर खड़ा हूँ और इसलिए शायद यह कहना सिडीशन समझा जाय कि ३० मार्च सन् १६१६ से पहले तक कौम की बुनियाद नहीं पड़ी थी। परन्तु मैंने, और जिन निर्भय देशसेवक देवताओं का मैं साथी हूँ उन्होंने मशीनगनों (Machine Guns) और हवाई जहाजों (Aero-planes) की मालिक गवर्नमेण्ट की धमकी पर भी सच को कभी नहीं दबाया तब आप दयालु बहिनो और भाइयो ! आगे मुझे सत्य के प्रकाश करने में क्या सन्देह हो सकता है ! मेरा मन्तव्य है कि ३० मार्च, १६१६ ई० तक 'नेशन' का नाम ही नाम था, उसकी बुनियाद नहीं रक्खी गई थी। जो काम हिन्दू-मुसलमानों के समझदार नेताओं की ३४ वर्षों की मेहनत पूरा न कर सकी उसकी बुनियाद, परमेश्वर की कृपा से, देहली नगर में ३० मार्च की शाम को रक्खी गई और १३ अप्रैल की शाम को जब जलियाँवाले बाग में हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख, बाल, युवा और वृद्धों का रक्त मिलकर बहा उस समय जातीयता के महल की बुनियादें भरी जाकर दृढ़ हो गईं। अब कसर केवल एक है जिसे निकाल डालिए।

लण्डन नगर में भारत की रिफॉर्म स्कीम कमेटी के सामने 'ईसाई मुक्ति फौज' के जनरल बूथटकर (Booth-Tucker) साहब ने कहा था कि भारत के ६½ करोड़ अछूतों को विशेष अधिकार मिलने चाहिएँ और उसके लिए हेतु दिया था—"Becaause they are ancher-sheets of the British Government."

इन शब्दों पर गहरा विचार कीजिए और सोचिये कि किस प्रकार आपके ६½ करोड़ भाई—आपके जिगर के टुकड़े जिन्हें आपने काटकर परे फेंक दिया है—किस प्रकार भारतमाता के ६½ करोड़ पुत्र एक विदेशी गवर्नमेण्ट रूपी जहाज के लंगर बन सकते हैं ! मैं आप सब बहिनों और भाइयों से एक याचना करूँगा। इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो कि 'आपके वे ६½ करोड़ हमारे लिए अछूत नहीं रहे बल्कि हमारे बहिन और भाई हैं। उनकी पुत्रियाँ और उनके पुत्र हमारी पाठशालाओं में

पढ़ेंगे, उनके गृह-नर-नारी हमारी सभाओं में सम्मिलित होंगे और हमारे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में वे हमारे कन्धे से कन्धा जोड़ेंगे और हम सब एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए ही अपने जातीय उद्देश्य को पूरा करेंगे।' हे देवियो और सज्जन पुरुषो ! मुझे आशीर्वाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह संकल्प पूरा हो।

देहली नगर की जुमा मस्जिद में मैंने वह दृश्य देखा था जिसका स्वप्न मुझे २६ वर्षों से आ रहा था और क्या आश्चर्य है कि परम पिता और जगत् की दयालु माता की कृपा से मुझे अपने दूसरे स्वप्न का दृश्य भी जागृत अवस्था में देखना नसीब हो ! जब वह दिन आवेगा जब आपको अपने विदेशी खानपान, अपने विदेशी पहरावे और अपने विदेशी भोग जीवन (Life of Luxury) को तिलांजली देनी होगी और कोई छुआछूत नहीं बन सकेगी जो इस जातीय महासभा के सभ्यों को अपने नीचे महदूद कर सके। जाति के बिखरे हुए अंग मिलकर फिर से जातीय-भवन खड़ा हो जाय और भारत सन्तान की शिक्षा जाति के ही अधिकार में हो, यह जाति की स्वतन्त्रता का मूल मन्त्र है। आओ, बहिनो और भाइयो ! उस स्वर्गीय समय की एक झलक देखने के लिए परमेश्वर के पवित्र अदृश्य चरणों में अपने हृदयरूपी सीस नवा दें। कौन परमेश्वर ?

'काँटा है हरिक जिगर में खटका तेरा,
हलका है हरिक गोश में खटका तेरा।
माना नहीं जिसने तुझको जाना है जरूर,
भटके हुए दिल में ही खटका तेरा।'

हे गोरे और काले के मालिक ! हे राव और रंक के स्वामी ! इस जातीय महासभा में अपनी सच्ची रोशनी का प्रकाश कर जिसकी सहायता से जाति के नेता सत्य का यथार्थ स्वरूप देखें और उसकी रोशनी में अपने और बेगाने के साथ एक-सा न्याय का बर्ताव कर सकें ! ! !

—श्रद्धानन्द संन्यासी

[जलियाँवाला बाग के क्रूर गोलीकाण्ड के बाद पंजाब स्तब्ध था। कांग्रेस का अमृतसर अधिवेशन करने का भार पंजाब के कांग्रेसी नेताओं ने वीर संन्यासी श्रद्धानन्द पर डाला। स्वामी श्रद्धानन्द को इसका स्वागताध्यक्ष बनाया। निर्भीक संन्यासी का यह ऐतिहासिक भाषण हमें आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन से प्राप्त हुआ।]

परिशिष्ट ४

महात्मा गांधी गुरुकुल में : एक संस्मरण

—श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार

मैं १३वीं कक्षा में पढ़ता था(सन् १६१३ ई०)। सरदियों के दिन थे, कदाचित् जनवरी का महीना था। श्री स्वामी श्रद्धानन्द (तात्कालिक महात्मा मुंशीराम) अपने खटुआ वाले गंगातट पर बने बंगले में रहते थे। हमारी बैरक छः छात्रों की थी; उसके ऊपर टीन की छत, नीचे पक्की ईंटों का फर्श था और बंगले के आगे पूर्व की ओर बनी थी। प्रातः लगभग ७-७½ बजे होंगे। मैंने एक आवाज धीमी-सी सुनी—'कोई है?' मैं फौरन अपने कक्ष से बाहर आया। देखा, बंगले को जाने वाली कच्ची सड़क पर एक पतला-सिकुड़ा आदमी काला कम्बल ओढ़े, नंगे पैर, सिर नंगा, बड़ी उत्सुक जिज्ञासा लिये खड़ा है। मैं पास आया, नमस्ते की और पूछा—'महाशय जी, आप किनको पूछते हैं?' उत्तर मिला—'श्री महात्मा मुंशीराम जी को। उनका बंगला कहाँ है?'

मैं जानता नहीं था कि कम्बल में लिपटा यह पतला-सिकुड़ा आदमी कौन है, बेमौके और बे-सूचना यह कौन हमारे आचार्यप्रवर को पूछ रहा है? कुछ देर सोचा। परन्तु मैंने सब विकल्प छोड़कर उनसे कहा—'आप मेरे साथ चलिये।' मैं आगे, वे कम्बलवाले महाशय मेरे पीछे-पीछे। सीधा बंगले में पहुँचा। उस समय महात्मा जी मेज पर कुछ लिख रहे थे। भीतर ले-जाकर मैंने उनसे कहा—'ये महाशय आपको पूछते हैं।' यह कहकर मैं तो चला आया।

बाद में पता चला कि ये महाशय महात्मा गांधी थे। हरिद्वार से सीधे चले आ रहे थे। मार्ग पूछते-पूछते बंगले पर आ गये। उनके पास न बिस्तर, न झोला, बस तन पर एक कम्बल, गले में कुर्ता, एक जाकट सादी-सी, नीचे धोती, और कुछ नहीं। यह बात उस समय खुली जब उनके स्वागत में सभा हुई, उनका परिचय कराया गया। महात्मा गांधी उस समय दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से भारत आये थे।

यह मेरे वैयक्तिक अनुभव की घटना है। मैं कुछ मिनटों के लिए दोनों महात्माओं के मिलवाने में एक स्वल्पकालिक सहयोगी कारण बना था, इसलिये इसकी स्मृति अभी तक बनी है।

परिशिष्ट ५

श्रद्धाञ्जलियाँ और भावप्रसून

मैंने शीघ्र ही आपकी मुख्य और पुरानी गुरुकुल कांगड़ी को देखा और उसी समय आपके नेताओं और मित्रों में से बहुतों से परिचय-लाभ किया। इसी समय महात्मा मुंशीराम जी से मेरा परिचय हुआ। मुझे विश्वास है कि उनका विनय मेरे लिए प्रबल हेतु है कि उक्त नामी सज्जन के विषय में जो सम्मति मैंने स्थिर की है, उसे मैं प्रकट करूँ। पर उनके भावों का सत्कार करते हुए निःसंकोच इतना अवश्य कहूँगा कि एक मिनिट भी उनके साथ रहते हुए उनके भावों की सत्यता और उनके उद्देश्यों की उच्चता को अनुभव न करना असम्भव है। दुर्भाग्यवश हम सब मुंशीराम नहीं हो सकते हैं।

—सर जेम्स मेस्टन (संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट)

× × ×

श्रद्धानन्द वीर संन्यासी वीर स्वामी था। वीर और संन्यासी शब्द सुनकर आश्चर्य होता है, परन्तु वैदिक आदर्श यही है। कलियुग में हमारे सौभाग्य हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आदर्श को पूरा किया। लोगों को वीर और संन्यासी शब्द बाधक प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों सहायक हैं। तीन दिन से स्वामी जी के मृत शरीर पर रो-रोकर फूल चढ़ा रहे हैं, परन्तु स्वामी जी के शरीर में से जो आवाज आ रही है उसे सुनिये! वह आवाज है कि इस अनार्यपन को दूर करो! रोना अनार्यपन है। रोना बन्द करो! अब तो उद्यम होना चाहिए। स्वामी श्रद्धानन्द के कतरे-कतरे से, उनकी हड्डियों से दरख्त उगेगा जिसकी जड़ें पाताल में जायेंगी। मित्रो! रोना-धोना समाप्त करो। प्राइवेट रिश्तों में हम तमाम उम्र रोयेंगे। यह समय रोने का नहीं है। यह समय यह दिखाने का है कि जिसने यह समझा था कि स्वामी जी का खून कर शुद्धि बन्द होगी, वह वृक्ष स्वामी जी के खून से सींचा जाकर, भारत में बढ़ और फैलकर संसारभर में फैलेगा। किसी शख्स ने लिखा था कि स्वामी जी की अर्थी यमुना में बहेगी। परन्तु याद रखना चाहिए कि यमुना इतनी निर्दयी नहीं है। यमुना शुद्धि की अर्थी को बहाती नहीं। मित्रो!

बाज़ हल्कों में यह कहा जाता है कि स्वामी जी की मृत्यु कम्यूनलिज्म का नतीजा है। जो आदमी ऐसा कहता है वह स्वामी जी की हत्तक-इज्जत करता है।

स्वामी जी पोलिटिकल कम्यूनलिज्म के सदा से बखिलाफ रहे हैं। कोई भी हिन्दू नेता पोलिटिकल कम्युनिज्म को नहीं चाहता। स्वामी जी यही चाहते थे कि हम भी ईसाई और मुसलमानों की तरह अपने धर्म का प्रचार करें। मैं हिन्दू-मुस्लिम एकता का हामी हूँ, परन्तु धर्म-प्रचार को बन्द कर एकता नहीं कराना चाहता। हम जानते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द देर से मौत के निशाने बने हुए थे, और भी कई लोग आज उनकी गोलियों के निशाने बने हुए हैं। परमात्मा! हमें बल दे कि हम छाती पर गोलियाँ सहकर धर्म-प्रचार करें।

हिन्दू बालको! खड़े हो जाओ। हमारा धर्म 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' है। निर्भयतापूर्वक काम करना चाहिए। धर्म हमको जाति और देश की सेवा करना सिखाता है। हमारी जाति में केवल जागीरदार नहीं, गरीब से गरीब अबला माता हमारी जाति में शामिल हैं। अबला स्त्री हमारी सिरताज हैं। शहीदों के खून से नये शहीद पैदा होते हैं। आर्य माताओं को चाहिए कि वह दूध के साथ बच्चों को 'बलिदान' का पाठ पढ़ायें। स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस वृक्ष को लगाया है, उसको पानी देना तुम्हारा काम है। परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हमें बल और सामर्थ्य दे।

—लाला लाजपतराय

× × ×

मैं और मुंशीराम जी सहपाठी थे। हमारे सम्बन्ध बहुत ही ममतापूर्ण थे। वे जब बोलते या लिखते थे तब शब्द बहुत तौल-तौलकर इस्तेमाल करते थे। वे किसी से डरते नहीं थे। उन्होंने देश-सेवा की थी और वे गम्भीर जोखिमें उठाते थे। वे विधवा-विवाह के पक्ष में थे। उनकी मृत्यु और हत्या से मुझे सख्त आघात लगा है। ऐसे मामलों में बदला लेने का कोई अर्थ नहीं है। अलबत्ता खूनी को उचित दण्ड मिलेगा, परन्तु हम इतने से सन्तोष न करें। उनकी मृत्यु से झगड़ालू मानस वाले पाठ लें, अपनी-अपनी दुश्मनी भूल जायें और एक हो जायें।

—पं० मोतीलाल नेहरू

× × ×

उनका (स्वामी जी का) मुख्य कार्य उनके धर्म-संगठन के सम्बन्ध में था और उस बारे में शंका नहीं की जा सकती। फिर भी इतना तो सही है ही कि वे जिसे अपना धर्म मानते थे, उसके लिए काम करने में उन्होंने उल्लेखनीय लगन दिखायी थी। उनकी हिम्मत के बारे में शंका ही नहीं थी। साहस और शौर्य के वे मिश्रण थे। गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छाती खोल देनेवाले उस बहादुर देश-प्रेमी का चित्र अपनी नजर के सामने रखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। ऐसी

उम्दा मौत के मिलन से उन्हें तो कुछ नहीं लगता, मगर हमारे लिए यह महान् दुःखदायक घटना है।

—मौलाना मुहम्मद अली

× × ×

हमारे परम देशभक्त और हिन्दू जाति के परम सेवक श्रद्धानन्द जी का देहान्त एक पतित पुरुष के हाथ से हुआ है। स्वामी जी इस देश के एक चमकते तारे थे। इनका देश-प्रेम ४० वर्ष से सरकार को विदित है। पहले तो वे वकालत करते थे। २० वर्ष पहले इन्होंने गुरुकुल स्थापित किया और उस संस्था को अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। इनकी देश-भक्ति कैसी थी, इसका स्मरण कराने की जरूरत नहीं। आपको पता ही होगा कि दिल्ली में छाती खोलकर वे बन्दूकों के सामने खड़े रहे थे। हिन्दू महासभा के काम में वे बड़ा भाग लेनेवाले थे। शुद्धि के तो वे आचार्य ही थे। हजारों मलकानों को उन्होंने हिन्दू बनाया था। स्वामी जी को शुद्धि और संगठन की चिन्ता थी। ७१ वर्ष की उम्र के ऐसे स्वामी को कोई मार डाले, यह लज्जा और शोक की बात है।

स्वामी जी के लिए तो यह बड़ी बात थी, क्योंकि उनकी ऐसी मृत्यु हिन्दू-धर्म के मृत शरीर में नया प्राण-मन्त्र फूँकने जैसा है।···इस प्रकार दिल्ली में हमारे एक प्रधान नेता ने धर्म की खातिर अपने प्राण दिये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द भी ऐसे ही दूसरे शहीद हुए हैं। ये किसी धर्म के साथ वैर नहीं रखते थे। हिन्दुओं की सेवा करते थे।

इससे हमें क्या सीखना है? जैसे तेगबहादुर की मृत्यु से हिन्दू-जाति में जागृति आयी थी और औरंगजेब का जोर टूटा था, वैसे ही हमें यह चीज सीखनी है कि हिन्दू जाति का प्रत्येक मनुष्य शुद्धि और संगठन के काम में लग जाये।

स्वामी जी का दूसरा उपदेश यह है कि ऐसे काम में किसी भी प्रकार का डर न रखा जाये। उन्होंने शुद्धि के काम में डर नहीं रखा। इतना ही नहीं, परन्तु जरा भी अन्याय नहीं किया। वे कहते थे कि मुसलमान को हिन्दू बनाने का प्रत्येक हिन्दू को अधिकार है। मैं तो कहता हूँ कि यह तबलीग (धर्म-परिवर्तन या भ्रष्ट करने का आन्दोलन) सर्वथा बन्द हो जाये। ईसाई भी यह काम बन्द कर दें। मगर जब हजारों मुसलमान और ईसाई हिन्दुओं को धर्म-भ्रष्ट करने को बैठे हैं, तब कोई हमें यह नहीं कह सकता कि हिन्दुओं को शुद्धि नहीं करनी चाहिए। अलबत्ता ऐसा करने में हम किसी के प्रति अन्याय न करें, यह बात स्वामी जी हमेशा करते थे और यह भी कहते थे कि यह आन्दोलन राष्ट्रीय एकता का विरोधी नहीं होना चाहिए। घोर पाप होता हो, तो भी हिन्दू अपने धर्म में दृढ़ रहें और बदला लेने का पाप न करें। भविष्य में किसी दिन हिन्दू-सन्तान की निन्दा हो, ऐसा नहीं होना चाहिए।

स्वामी जी के शोकयुक्त अवसान का स्मारक किस ढंग से बनायें ? एक दिन नियत किया जाये, जब सभी मिलें और उनके नाम से एक कोष बनाया जाये। उनके जाने से उनके साथ का हमारा सम्बन्ध टूट नहीं गया। वे अभी जिन्दा हैं।

—पं० मदनमोहन मालवीय

× × ×

स्वामी जी वीरों में अग्रणी थे। स्वामी जी ने अपनी वीरता से भारत को आश्चर्यचकित किया था। उन्होंने अपनी देह को भारतवर्ष के लिए कुर्बान करने की प्रतिज्ञा ली थी, इसका मैं साक्षी हूँ।···स्वामी जी अनाथबन्धु थे, अनाथों के सहायक थे। स्वामी जी ने अछूतों के लिए जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति प्रेम इतना अधिक था कि एक बार उन्होंने मुझसे कहा था कि "कांग्रेस अछूतों के लिए कितना ही काम करे, परन्तु जब तक महासमिति का प्रत्येक सदस्य कम-से-कम एक अस्पृश्य नौकर अपने घर में रखने की प्रतिज्ञा न ले, तब तक कांग्रेस की सेवा कोई बड़ी नहीं कही जायेगी।" भले ही कोई व्यवहारज्ञ मनुष्य आज स्वामी जी के इस सुझाव को अव्यावहारिक कहे, परन्तु यह सुझाव उनका अस्पृश्यों के प्रति असाधारण प्रेम बताता है। किन्तु स्वामी जी जैसे वीर देशभक्त, ईश्वर के अनन्य भक्त और सेवक की हत्या देश के लिए जैसे फायदेमन्द है, वैसे ही उसका दुःख होना भी स्वाभाविक है।

···आज श्रद्धानन्द जी की मौत के लिए आँसू बहाने का समय नहीं है। आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का विशेष गुण भले ही हो, परन्तु ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सब क्षत्रियता बता सकते हैं। खास तौर पर आज का स्वराज्य-युग हम सबके लिए क्षत्रियता का युग है। इसलिए रोने की बात छोड़ दें और श्रद्धानन्द जी के बलिदान से, रशीद द्वारा की गयी हत्या से जो पाठ मिलता है, उसे हृदय में धारण करें।

—महात्मा गांधी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन बहुत महान् था। धर्म, देश और हिन्दू जाति के लिए उन्होंने जो कुछ किया, आगामी संतति उसके सामने श्रद्धा के साथ सिर झुकावेगी। तप-युक्त उनकी वीरता और उनके साहस के सामने उस समय देश-भर स्तम्भित रह गया जब उन्होंने दिल्ली के निवासियों की अरक्षित देहों पर लक्ष्य करनेवाली सरकारी तोप के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी। वे हर तरह से महान् थे और ऐसे महान् थे कि हमें भासित होता है कि देश की इस सबसे बड़ी समस्या को हल करने के लिए अर्थात् धर्मान्धता और मोह की भावनाओं की अन्त्येष्टि-क्रिया करने केलिए विधि की गतियों ने इस अवसर पर उनसे बढ़कर

दूसरा और कोई बलिदान का पात्र ही नहीं पाया। अत्यन्त विनय के साथ उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हुए हम उनकी अमर आत्मा और उतनी ही अमर कीर्ति के नाम पर देशभर से प्रार्थना करते हैं कि इस महान् बलिदान से इस देश में धर्मान्धता का नाश और धर्म और त्याग के सच्चे भाव का उदय हो।

—गणेशशंकर विद्यार्थी

× × ×

हमारे देश में जो सत्य-व्रत को ग्रहण करने के अधिकारी हैं एवं इस व्रत के लिए प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहाँ है, वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जैसे इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी, इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी की याद आते ही १९१९ का दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। सरकारी सिपाही फायर करने की तैयारी में हैं। स्वामी जी छाती खोलकर सामने जाते हैं और कहते हैं, 'लो, चलाओ गोलियाँ!' उनकी उस वीरता पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता? मैं चाहता हूँ कि उसी वीर संन्यासी का स्मरण हमारे अन्दर सदैव वीरता और बलिदान के भावों को भरता रहे।

—सरदार बल्लभ भाई पटेल

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन का पिछला हिस्सा देश की राजनैतिक सेवा के लिये अर्पित किया, उनका पहला भाग केवल धार्मिक था। उनका इससे भी बड़ा काम हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता की रक्षा के लिए हमारी सभ्यता, धर्म और जातीयता के अज़दहा (अजगर) की तरह हड़प करनेवाली शिक्षाप्रणाली के बुरे प्रभाव को दूर करने के लिए गुरुकुल-प्रणाली को जारी करना था। मेरी सम्मति में हिन्दू जाति को स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए था, यदि केवलमात्र गुरुकुल चलाना ही उनका काम होता। उन्होंने संन्यासी बनकर तथा राजनीति में आकर भी अपनी उसी स्पिरिट को आगे बढ़ाया। देहली या अमृतसर में जो गोली का सामना किया या जेल में निडरता दिखाई, वे ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें सब भली प्रकार जानते हैं, मुझे उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

मुझे तो सिर्फ इतना ही कहना है कि राजनैतिक आन्दोलन में सबसे आगे कदम रखते हुए स्वामी जी ने अपनी प्राचीन सभ्यता और धर्म के प्रेम को ही

प्रधानता दी। जब उन्हें हिन्दू जाति संकटापन्न प्रतीत हुई तो वह पहले पुरुष थे जो शुद्धि के खतरों से भरी हुई रणभूमि में कूद पड़े।……उनके पिछले जीवन का हरेक क्षण धर्म के लिए बलिदान का क्षण था। यदि उनकी मृत्यु वैसे ही सामान्य रूप से हो जाती तो साधारण जनता को इस सचाई का अनुभव न हो पाता। मुझे तो हर्ष है कि एक कातिल ने अपने इस कार्य से सारी दुनिया को दर्शा दिया कि स्वामी जी का जीवन ऐसे ही बलिदान का जीवन था जैसी कि उनकी मृत्यु हुई।

—भाई परमानन्द

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी आर्यसमाज की महात्मा-पार्टी के नेता थे। वह स्वयं उच्च वर्ण के हिन्दुओं में से थे, परन्तु उन्होंने दलित जातियों को उच्च जाति के अत्याचारों से मुक्त कराने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं किया। उन्होंने अपना सारा जीवन मनुष्य-मात्र की सेवाओं में अर्पित किया हुआ था। वह सच्चे हिन्दू थे। उन्होंने अस्पृश्यता और सामाजिक विषमता जैसी उन अहिन्दू दुर्भावनाओं तथा रीतिरिवाजों को, जो कि मध्यकाल के ब्राह्मणों के अज्ञान के कारण पैदा हो गए थे, अपने हृदय से निकाल दिया था।

कुछ समय के लिए उन्होंने कांग्रेसमैन के रूप में भी काम किया। परन्तु अन्त में उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति के सामाजिक और धार्मिक सुधार करने में लगा दिया। वह वैदिक संस्कृति के प्रकाश-स्तम्भ थे। उन्होंने अपने जीवन का चरम भाग दलित-जाति के उद्धार के काम में अर्पित किया था। उनका वैदिक धर्म में अटूट और अदम्य विश्वास था। वह वैदिक धर्म के निर्भीक प्रचारक थे।

पौराणिक मूर्तिवाद के प्रचारकों ने हिन्दू-समाज में छुआछूत की प्रथा को प्रचलित कर दिया था। यह छुआछूत का धर्म घृणा का धर्म है। ऐसा धर्म वैदिक धर्म की पवित्र भावनाओं के प्रतिकूल है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने छुआछूत के धर्म की जी-जान से निन्दा की। वेद सार्वभौम मानव-धर्म के स्रोत हैं। उन्होंने वैदिक धर्म की विश्वव्यापी शोभा तथा आभा को संसार में स्थापित करने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया और अन्तिम क्षण तक इस उद्देश्यपूर्ति में लगे रहे। इसी महान् उद्देश्य के लिए आन्दोलन करते हुए प्रत्येक हिन्दू को उनके इस पवित्र बलिदान-यज्ञ में अपना-अपना भाग समर्पित करना चाहिए जिससे स्वामी श्रद्धानन्द जी की स्मृति सदा चिरजीवी रहे।

—लाला हरदयाल

× × ×

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान वर्तमान समय में सबसे बड़ा बलिदान है। यह बलिदान हिन्दू जागृति का सबसे बड़ा साधन बनेगा। स्वामी जी का जीवन हिन्दू मात्र के लिए अमूल्य था। आर्यसमाज और वैदिक धर्म की जो सेवा

उन्होंने की है उसका निर्देश करना मानो सूरज को दीपक दिखाना है। स्वामी जी का हृदय इतना विशाल था कि उसमें मुसलमान, ईसाई, जैन मतमतान्तर वालों के लिए स्थान था। स्वामी जी सबसे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दू होते हुए भी जुमा मसजिद में मुसलमानों को धर्म का उपदेश दिया था। उनकी सर्वप्रियता का इससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है! परन्तु वैदिक धर्म का प्रेम जो उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, उसको मुसलमानी असहिष्णुता सहन न कर सकी। वैदिक धर्म के प्रेमी इस बलिदान से एक नये जीवन और उत्साह को प्राप्त करेंगे। वैदिक धर्म मुसलमानी मत का सबसे बड़ा उद्धारक है। इसी धर्म के निरन्तर प्रचार से मुसलमानों का अन्धविश्वास तथा उनकी संकीर्णता दूर हो सकती है। अतः इसके प्रचार के लिए हम सबको कटिबद्ध हो जाना चाहिए। यही स्वामी जी महाराज के जीवन का सबसे बड़ा आदर है।

—प्रो० सुधाकर एम० ए०

× × ×

स्वामी जी निर्भय थे, धुन के पक्के थे और अपने विचारों को बहुत स्पष्टतया प्रकट करनेवाले थे। स्पष्टवादिता के कारण वह कितनी ही बार अपने साथी मित्रों और अनुयायी भक्तों को भी रुष्ट कर दिया करते थे।

स्वामी जी का कार्य-क्षेत्र सीमाबद्ध न था। वह एकही साथ अनेक भिन्न रूप क्षेत्रों में कार्य आरम्भ कर देते थे और तन्मयता से सभी को पूरा करते थे। शिक्षा, सम्पादन, सामाजिक सुधार, आर्य संस्कृति की रक्षा, नारी-हितों का संरक्षण, आध्यात्मिक उन्नति, धार्मिक विचारों में स्वातन्त्र्य, देशहित, नवयुवकों की अभिभावकता, संगठनशक्ति और दलितों का उद्धार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों में स्वामी जी ने बहुत कार्य किया है और प्रायः सभी जगह वह सफल भी हुए। प्रायः लोगों का जीवन-काल ही किसी कार्य का सहायक हुआ करता है, पर स्वामी जी का मरणकाल तो जीवन से भी अधिक जाति के अभ्युदय का साधन बन गया।

—नेकीराम शर्मा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आर्यधर्मियों की उन्नति में ही व्यतीत हुआ। जिसमें भी गुरुकुलों की स्थापना, शुद्धि-संगठन के कार्य से तो हिन्दुओं में नवजीवन-सा आ गया। जाति के जीवन के लिए जनसंख्या तथा योग्यता दोनों की ही वृद्धि होनी आवश्यक है। स्वामी जी ने दोनों ओर ही कार्य प्रारम्भ कर रक्खा था। यदि हम उनकी यादगार रखने के योग्य अपने को दिखाना चाहते हैं तो उनके प्रारम्भ किये हुए कार्य को तेजी के साथ आगे बढ़ाते जाने से ही उनकी यादगार है।

—जुगलकिशोर बिरला

श्री स्वामी श्रद्धानन्द का नाम हिन्दू जाति की नसों में नये रक्त का संचार करनेवाला है। अपने जीवन के मध्यकाल में वे आर्यसमाज के उच्च कोटि के नेता थे और मैं उस समय सनातन धर्म का जोरों से प्रचार कर रहा था। उस समय हमें यह भान न होता था कि हम दोनों कन्धे से कन्धा मिलाकर एक "मिशन" के लिए एकमन होकर काम करेंगे। किन्तु हिन्दुओं की करुणाजनक दशा को देखकर स्वामी जी का आर्द्र हृदय पिघल उठा और वे बड़ा उदार भाव लेकर अपने जीवन के सन्ध्या-काल में हिन्दू-महासभा के नेता बने। उस समय हमें कई वर्ष तक साथ काम करने का अवसर मिला और मुझे याद है कि जाति-हित की दृष्टि से कई बार उन्होंने मेरे अनुरोध का पालन कर अपने भावों की उदारता दिखाई। उनके हृदय में अनाथ हिन्दू जाति का दर्द भरा था और इसी कारण हिन्दू सभा के क्षेत्रों में मेरा उनके साथ अच्छा सहयोग रहा। उन्होंने आर्यसमाज के लिए नहीं, किन्तु हिन्दू जाति, आर्यभूमि और आर्य-संस्कृति-रक्षा के व्रत में अपने प्राणों की आहुति दी है। वह पक्के कर्म-योगी थे। गुरुकुल काँगड़ी, उनकी कर्म-निष्ठा का प्रबल उदाहरण है।

—दीनदयाल शर्मा

× × ×

यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नजीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाजारी चीजों की तरह विद्या बिकती है, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी का ही दिमाग था जिसने प्राचीन गुरुकुल-प्रथा में भारत के उद्धार का तत्त्व समझा।......समय उनके अनुकूल न था, विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ बाधाएँ-ही-बाधाएँ, पर वे जितने आदर्शवादी थे, उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुए गुरुकुलों की स्थापना कर दी।

—उपन्यासकार प्रेमचन्द बी० ए०

× × ×

कल्याण मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द जी की सेवा अपनी दृष्टि से अपूर्व है। राष्ट्रीय शिक्षण, धर्म, जागृति, समाज-सेवा आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने भारतवर्ष को एक नया ही रास्ता दिखाया है। श्रद्धा के बल से ही वे यह सब कर सके। जिस दिन उन्होंने अपने प्रिय पुत्रों को लेकर गुरुकुल की स्थापना के संकल्प से गंगा के तट पर निवास किया, वह दिन भारतवर्ष के वर्तमान इतिहास में महत्त्व का था। उस दिन उन्होंने हिन्दू जाति के उद्धार की नींव डाली, ऐसा कहा जा सकता है। जिस दिन उन्होंने अन्त्यज बालकों को अपनाया, उसी दिन हिन्दू जाति को उन्होंने संगठित किया और जिस समय उन्होंने पत्थर, गोली और

खंजर की तरफ तुच्छता की नजर से देखा, उसी दिन भारतवर्ष को उन्होंने निर्भय किया। अपनी अतुल श्रद्धा से उन्होंने अपना दीक्षा-नाम कृतार्थ किया। सचमुच श्रद्धानन्द राष्ट्रमूर्ति थे। ऐसा समय जरूर आयेगा कि जब उनके द्वेषी और विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि यह भारतवर्ष का आधुनिक संन्यासी मित्र की नजर से ही सभी की तरफ देखता था। —काका कालेलकर

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का मूल आधार श्रद्धा थी। जिस काम को भी उन्होंने अपने हाथ में लिया, श्रद्धा से उसे पूरा कर दिखाया। श्रद्धा तब तक पैदा नहीं हो सकती जब तक त्याग न हो, और त्याग के बिना श्रद्धा का कोई अर्थ नहीं। इसलिये स्वामी जी ने संन्यास लेते हुए अपना नाम श्रद्धानन्द रखा। उनका सारा जीवन त्याग का जीवन था। न केवल इस दृष्टि से कि उन्होंने अपना सर्वस्व धर्म पर न्योछावर कर दिया था, बल्कि इसलिए भी कि उनका जीवन बहुत सादा था। उनकी आवश्यकताएँ साधारण थीं। वे श्रद्धा और त्याग की मूर्ति थे। जिस काम में वे पड़े, पूरी लगन से पड़े। सन्देह नहीं कि उनकी गतिविधियों का क्षेत्र बदलता रहा, किन्तु आर्यसमाज से उनका प्रेम कम नहीं हुआ। दूसरे क्षेत्रों में काम करने के बाद वे आर्यसमाज में लौट आए। उन्होंने कहा भी कि जो आनन्द आर्यसमाज की सेवा में है, किसी दूसरे काम में नहीं। उन्होंने यौवन-काल में आर्यसमाज का पल्ला पकड़ा और आयु-भर उसके ही बने रहे। क्या मजाल जो उनकी श्रद्धा में तनिक भी अन्तर आया हो! उन्होंने अपना सर्वस्व आर्यसमाज पर न्योछावर कर दिया।

—महाशय कृष्ण

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जिसे सत्य माना उसपर वे अन्त तक टिके रहे। इतिहास के यदि नहीं तो कम-से-कम वर्तमान जगत् के सबसे बड़े सत्याग्रही महात्मा जी से भी उनका कई बातों में मतभेद था। किन्तु वे उनके मुकाबिले में भी अपनी बात पर डटे रहते थे। यही सत्याग्रह की खूबी है। यह जरूरी नहीं कि आप जिस बात को सत्य मानें उसे मैं भी मानूँ। पर जरूरी है कि आप अपनी सचाई का पालन करें, मैं अपनी सचाई पर डटा रहूँ। फिर भी हम एक-दूसरे को समझने का यत्न करें और जब तक दोनों का सत्य मिल न जाय तब तक एक-दूसरे को सहन करें। स्वामी जी और महात्मा जी के प्रेम और सद्भाव के अन्त तक टिके रहने का कारण यह है कि दोनों में सत्य की साधना सर्वोपरि है। सत्य का तेज तब मलिन होने लगता है जब सत्य-साधक मूढ़ बन जाता है।······ स्वामी श्रद्धानन्द जी अन्त तक वीर और तेजस्वी बने रहे, यह उनकी सत्योपासना का ही फल है।

—हरिभाऊ उपाध्याय

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी के त्याग, लगन और देश-भक्ति की मुझपर बड़ी गहरी छाप पड़ी है। उनकी मुझपर बड़ी कृपा थी। ऐसे अनेक प्रसंग मुझे याद हैं जिनपर अगर लिखने बैठूं तो एक ग्रन्थ बन जाय, पर लेखक कहाँ हूँ! स्वामी जी को मैं एक आदर्श संन्यासी मानता हूँ। उनका जीवन शुरू से आखिर तक कर्ममय था। अगर आजकल के साधु-संन्यासी उनके समान बन जायँ, तो हमारे देश को कितना लाभ हो!

—जमनालाल बजाज

× × ×

इस जीवन में बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें मैं उतना प्रेम करता हूँ जितना स्वामी श्रद्धानन्द जी को करता था। हमारी स्वच्छ, निर्मल तथा प्रगाढ़ मैत्री में कदाचित् ही धुँधलापन आया हो। उनके उच्च चरित्र की ही महत्ता थी जिसने उनके प्रति मेरे प्रेम को सच्चा और गहरा बनाया था। यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न होता था कि स्वामी जी मुझसे प्रेम करते हैं।......स्वामी श्रद्धानन्द एक अत्यन्त स्निग्ध और उदार हृदय रखते थे। जब कभी गरीबों, दुःखियों और दलितों के नाम पर उनके हृदय को अपील की जाती थी तो वह अपील उनके लिए अपरिहार्य हुआ करती थी। इसलिए जब-जब बलिदान-जयन्ती आये तब-तब उनके सच्चे प्रेमियों का ध्यान गरीबों की ओर, जिन्हें वह प्यार करते थे, जाना चाहिए और उन गरीबों को भी परमात्मा के बच्चे समझना चाहिए।

—सी० एफ० एंड्रूज

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज देश की उन महान् विभूतियों में से थे जिनका जीवन निरन्तर त्याग, बलिदान, देश-भक्ति तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के प्रसार में लगा रहा। संकीर्णता उन्हें छू भी नहीं गई थी। साम्प्रदायिकता से परे स्वामी जी जातीय सद्भाव, हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख एकता एवं राष्ट्रीय गौरव के पक्षधर थे। भारत के छः करोड़ अछूत और दलित वर्ग ने स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में अपने मुक्तिदूत के दर्शन किये।

—महात्मा आनन्द स्वामी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रथम परिचय का सौभाग्य मुझे भागलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के समय प्राप्त हुआ। उस समय तक स्वामी जी ने संन्यास नहीं लिया था और महात्मा मुंशीराम जी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। गुरुकुल की स्थापना करके राष्ट्रीय पद्धति से शिक्षा देना उन्होंने बहुत पहले ही आरम्भ कर दिया था और गुरुकुल का काम शान से चल रहा था। आपके हिन्दी-प्रेम और हिन्दी-सेवा को देखकर ही सम्मेलन ने सभापति के पद पर आपका निर्वाचन किया था। सम्मेलन को जिस उत्तमता के साथ आपने निभाया, वह हमें आज भी अच्छी तरह याद है। पर स्वामी जी के गुणों को भारतवर्ष ईसवी सन् १९१९ और उसके बाद

ही पूरी तरह से जान सका। स्पष्टवादिता और निर्भीकता के वे मूर्तिमान् स्वरूप थे। उनकी निर्भीकता, साहस व स्पष्टवादिता के गुणों को अंग्रेजी सरकार अच्छी प्रकार जानती थी। परन्तु इन गुणों को उनके स्वदेशवासी सहयोगी कार्यकर्ता भी तीव्रता से अनुभव करते थे। जो लोग काले कानून के विरोधी आन्दोलन के समय दिल्ली के चांदनी चौक में मौजूद न भी थे, उनके हृदय-पट पर भी स्वामी जी की वह निर्भीक मूर्ति अमिट रूप से चित्रित है। उस समय स्वामी जी ने अंग्रेजों की गोलियों और संगीनों के सामने अपना सीना खोलकर हृदय की निर्भीकता तथा उच्चता का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया। उनकी उस शुद्ध तथा उच्च भावना ने जामा मस्जिद के मिम्बर पर से उनसे उपदेश करवाया और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मनोरम दृश्य दिखाया और उसी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता के कारण आततायी के हाथों से शहादत प्राप्त की। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामी जी का स्थान प्रथम सांस्कृतिक पथप्रदर्शक का है। जिनको स्वामी जी के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, उनके लिए स्वामी जी के जीवन-वृत्तान्त को पढ़ना ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करनेवाला है। स्वामी जी ने गुरुकुल की स्थापना करके ब्रह्मचारियों के शिक्षण का ही प्रबन्ध नहीं किया, प्रत्युत उनका सारा जीवन ही देश के लिए एक महान् गुरुकुल का काम कर रहा है और करता रहेगा।

—राजेन्द्रप्रसाद

× × ×

विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभ कार्य के लिए शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिए मृत्यु तक की परवाह न करनेवाले गुणों का मैं सदा से प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस की प्रशंसा करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकतापूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति तथा संन्यासी वेश में उच्च भव्यमूर्ति, लम्बा कद, शाहाना शक्ल, चमकती हुई अन्तर्भेदिनी आँखें और कभी-कभी दूसरों की निर्बलताओं पर मुख पर आ जाने वाली झुँझलाहट की झलक—इस सजीव मूर्ति को मैं कैसे भूल सकता हूँ! प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

× × ×

मेरी स्मृति और मेरे अनुराग के आराध्य देवता स्वामी श्रद्धानन्द वर्तमान सन्तति के सम्मुख एक ऐतिहासिक मूर्ति के रूप में विराजमान हैं। मैं सदैव अनुभव करती हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीरकाल की एक दिव्य विभूति थे। अपनी भव्य मूर्ति और ऊँचे व्यक्तित्व के द्वारा वह अपने साथियों में देवता की नाईं रहा करते थे। वह अपने जीवन की शहादत की अन्तिम घड़ियों तक साहस और कर्मयोग की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक व आध्यात्मिक

क्षेत्र में और राष्ट्र-सुधार के कार्यों में इन गुणों का सुन्दर परिचय देते रहे। मानव-समाज की सेवा के सम्बन्ध में उनके उच्च भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।

—श्रीमती सरोजिनी नायडू

× × ×

प्रातःस्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान को अनेक वर्ष हो गये। गुरुकुल की स्थापना कर और उसमें हिन्दी को मुख्य स्थान देकर उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी दूरदर्शिता और सच्ची राष्ट्रीयता का रास्ता तथा प्राणिमात्र के लिए सच्चा प्रेम दिखाया था। उनकी सात्त्विक सरलता, सिद्धान्तों में दृढ़ता, देश-मानव-समाज के लिए स्वाभाविक निर्भयता आदि गुणों की छाप आज भी मेरे हृदय पर अंकित है और मेरे जीवन की सुरक्षित सम्पत्ति है। **—पुरुषोत्तमदास टण्डन**

× × ×

मुझे तो स्वामी जी के अनेक गुणों में उनका असीम साहस सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक साहस व उत्साह से वह जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त कार्य करते रहे। उनका सात्त्विक हठ बहुत ही प्रिय था। उनका सारा जीवन वीरोचित था और अन्त में भी उन्हें वीर-गति ही मिली। ऐसे ही महापुरुष हमारे देश का सिर इस गिरी अवस्था में भी उन्नत किये हुए हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं, मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

—श्री प्रकाश

× × ×

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दू-जाति पर तथा हिन्दुस्तान की बलि-वेदी पर अपने जीवन की आहुति दे दी। उनका सम्पूर्ण जीवन विशेषकर उनकी शानदार मौत हिन्दू-जाति के लिए एक स्पष्ट सन्देश देती है।……हिन्दू-राष्ट्र के प्रति हिन्दुओं का क्या कर्तव्य है—इसे मैं स्वामी जी के अपने शब्दों में ही रखना चाहता हूँ। सन् १६२६ के २६ अप्रैल के "लिबरेटर" पत्र में वे लिखते हैं—

"स्वराज्य तभी सम्भव हो सकता है जब हिन्दू इतने अधिक संगठित और शक्तिशाली हो जाएँ कि नौकरशाही तथा मुस्लिम धर्मोन्माद का मुकाबिला कर सकें।"

उपर्युक्त उद्धरण से हिन्दू जाति की तीव्र माँग का पता चल सकता है और विशेषकर ऐसे नाजुक समय में जबकि इसपर चारों ओर से आघात और आक्रमण हो रहे हों।

—विनायक दामोदर सावरकर

× × ×

जब मैं स्वामी जी के जीवन का, उनके उत्तम विचारों का, उनके भाव एवं सेवा का खयाल करती हूँ तो ऐसा मालूम देता है कि वह आज भी जीवित हैं। यद्यपि शरीर नहीं, लेकिन भारत में उनकी आत्मा पूर्णतः नजर आती है।

वह हरिजनों की उमड़ती लहरें, वह मन्दिरों का खुलना, वह गली-गली में भगवान् की कथाओं का होना, उन कथाओं में हरिजनों का सम्मिलित होना, मन्दिरों में हँस-हँसकर जाना और हाथ बाँधकर भगवान् के सामने खड़े होकर यह शिकवा करना कि भगवान्! क्या पाप हमसे हुए हैं? क्या हम तुम्हारे जीव नहीं? क्या हम इतने दरिद्र थे, जो तुम हमसे छिपे बैठे थे? आज इतने अरसे बाद तुमने दर्शन दिये?

वे सारे दृश्य जब आँखों के सामने से गुजरते हैं, तो एक बार स्वामी जी की शिक्षा व उपदेश स्मरण हो आते हैं।

स्वामी जी का एकमात्र सन्देश यही है कि हम हरिजनों को इन्सान समझकर उनका सुधार करें, जाति-भेद को मिटाने की कोशिश करें, आपस में प्रेम व एकता का भाव पैदा करें और अन्त में सारी शक्ति को मिलाकर देश-सेवा में लगा दें। यही उनका उपदेश है, यही उनकी आत्मा चारों कोनों से कह रही है।

—**श्रीमती उमा नेहरू**

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द!
वे लक्ष्य पर पहुँचे!
उन्होंने सब-कुछ पाया!
वह अपना काम इतिहास में बहुत गहरा अंकित कर गये!
उन्हें मेरी श्रद्धाञ्जलि!
प्रत्येक जीवन का कोई चिह्न होता है। उनके जीवन का चिह्न था 'सेवा'!
उनकी स्मृति नये जीवन को जगा देवे, राष्ट्र के युवकों में नई रूह फूंक देवे!

दीन दलितों की इस सेवा के लिए, जो धर्म और आजादी दोनों का दिल है, हमसे अलग होकर भी वे मरे नहीं!

वे तो अब भी बोल रहे हैं!

और उन सबको जिन्हें मैं सुन सकता हूँ, उस शहीद का वह सन्देश सुनाना चाहता हूँ जो इस क्षण मुझे याद आ रहा है!

यह वह सन्देश है जिसमें प्राचीन नवीन का अभिनन्दन करता है—"धन्य है वह जीवन जो बलि में प्रज्वलित हो।"

—**टी० एल० वासवानी**

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी भारत के उन महापुरुषों में हैं, जिनका देश के इतिहास में शाश्वत स्थान है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की कहानी अधूरी ही रह

जायेगी यदि उसमें, शिक्षा, सामाजिक सुधारणा, धार्मिक पुनरुत्थान और वेद धर्म की सेवा के क्षेत्र में की गई स्वामी जी की सेवाओं का उचित अंकन न किया जाये। आर्य ऋषियों की दो विशेषताओं—आदर्शवादिता और त्याग की भावना का स्वामी जी में सुन्दर समन्वय हुआ था। वे स्वाधीन भारत के निर्माताओं में अनन्यतम है।

—माधव श्रीहरि अणे

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी की तपस्या, स्वार्थ, त्याग, समाज-सेवा यह सब बहुत ही उज्ज्वल है। जब-जब उनकी स्मृति जागृत होती है तब-तब उनकी धीरोदात्त, भव्य और गम्भीर मुद्रा मानो आँखों के सामने उपस्थित हो जाती है।

—गणेश वासुदेव मावलंकर

× × ×

स्वामी जी की पुण्य स्मृति को निरन्तर देश और समाज के सामने जीवित और जागृत रखना उपयोगी और आवश्यक है। स्वामी जी का स्थान हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों में है और सदैव रहेगा। उनका देश-प्रेम, भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास, अदम्य साहस और वीरता, असाधारण त्याग, निर्बलों और दलितों के प्रति आन्तरिक प्रेम व सहानुभूति और पुनीत सदाचार भारतीय पुरुषरत्नों के इतिहास में सदैव अंकित रहेंगे। उनके यशस्वी जीवन के प्रधान गुण—त्याग और सेवा से आज हम भारतवासियों का मस्तक गर्व से ऊँचा है।

—गोविन्द बल्लभ पन्त

× × ×

पूज्य प्रातःस्मरणीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की पवित्र पुण्यस्मृति राष्ट्र की बुझी हुई आत्मा में जीवनज्योति जागृत करे, एकमात्र कामना है। वे मरकर भी अमर है। महान् पुरुषों का भौतिक शरीर भले ही तिरोहित हो जाय, परन्तु उनका आत्मा विश्व के लिए प्रकाशस्तम्भ बन जाता है।

जिये तो जान लड़ाते रहे वतन के लिए,
मरे तो हो गये कुरबान संगठन के लिए।

—हरिशंकर शर्मा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द एक पवित्र आत्मा वाले महान् पुरुष थे। उनकी मौत राष्ट्रीय हानि है। उनका कत्ल राष्ट्रीय महापाप है और राष्ट्र को इसके प्रायश्चित्त के लिए बहुत-कुछ भुगतना पड़ेगा। ये लोग पछताकर अपना सिर धुनेंगे जिनकी बदनीयती और बदहौसलों ने वह वातावरण उपस्थित किया कि खूनी उन्माद उबल उठा और यह घृणित घटना घटित हुई। बेवकूफ कातिल केवलमात्र उन लोगों के हाथों की कठपुतली था जिन्होंने पर्दे के पीछे बैठकर इस घृणित नाटक को

खिलाया। यह शोकजनक बलिदान उस प्राणघातक रोग का लक्षण है जिससे कि सारे भारत का राष्ट्र पीड़ित है।

स्वामी श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व सारे भारत की सम्पत्ति था। अपनी योग्यता और विद्वत्ता से उन्होंने भारत के उत्थान में भाग लिया जैसे कि बहुत कम लोगों ने लिया होगा। उनकी निर्भयता और स्वार्थ-त्याग ने, उनको ऐसे समय में स्वयमेव सर्वोपरि नेता बना दिया जबकि दिल्ली और वस्तुतः समस्त उत्तरी भारत राजनैतिक थपेड़ों से उथल-पुथल हो रहा था। उन्होंने अपनी व्यवहार-कुशलता, सहनशीलता और शान्त प्रकृति के द्वारा दिल्ली में ऐसे समय में भीषण रक्तपात होते-होते रोका जबकि क्रान्ति का दौर-दौरा अपने यौवन पर था। इनके कार्य सदैव चिरस्थायी और क्रियात्मक रहे हैं। लोग प्रायः इनको समझने में भूल करते हैं। परन्तु आजन्म त्यागपूर्ण वृत्ति, सत्य की लगन तथा सीधा सच्चापन सदैव उनके कामों पर मँडरानेवाली अविश्वास की घनघोर घटाओं को छिन्न-भिन्न करता रहा। स्वामी जी कभी पालिसीबाज न रहे। वह ऐसे स्पष्टवक्ता पुरुष थे, जो अपने देश को प्यार करते थे, जिनकी श्रद्धा-भक्ति उस प्राचीन सभ्यता और शिक्षा में अटूट थी जिसके कारण भारत संसार के आध्यात्मिक गुरु की पदवी पर विराजमान था और अपने सिर पर गौरव और बड़प्पन का मुकुट धारण किये हुए था। वह आर्य जाति के प्रेमी थे, परन्तु साथ ही मुसलमानों को भी प्रेम-दृष्टि से देखते थे, यद्यपि मुसलमान स्वयं इससे अनभिज्ञ थे। उनका उद्देश्य केवलमात्र एक था कि सुख और शान्ति के मार्ग में से रोड़े हटा दिये जावें जिससे एक विशाल और शान्त राष्ट्र खड़ा हो जावे। भगवान् करे यह भारतभूमि अनेक श्रद्धानन्द पैदा करे।

—रायसाहिब हरविलास शारदा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शन मैंने केवल एक बार किये थे, यानी जब वे शान्ति-निकेतन पधारे थे। उससे पूर्व उन्होंने पण्डित तोताराम जी के नाम से लिखी मेरी पुस्तक "फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष" की सहानुभूति-पूर्ण समीक्षा 'सद्धर्म प्रचारक' में कर दी थी। दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज स्वामी जी को बड़े भाई की तरह पूज्य मानते थे और गुरुकुल काँगड़ी की प्रथम यात्रा सम्भवतः उन्होंने १९०७ में की थी। १९१३ में एण्ड्रूज साहब ने दक्षिण अफ्रीका से बहुत-से पत्र स्वामी जी की सेवा में भेजे थे, जिन्हें स्वामी जी ने एक फाइल में इकट्ठा कर लिया था। जब स्व० सत्यदेव जी विद्यालंकार ने स्वामी जी की जीवनी लिखी तो वह फाइल यह कहते हुए मुझे सौंप दी, "चूँकि आप दीनबन्धु के परमभक्त हैं, इसलिए आप इस बहुमूल्य दस्तावेज की विधिवत् रक्षा करें।" मैंने वह फाइल राष्ट्रीय अभिलेखागार को सौंप दी—इस शर्त पर कि वह उसकी तीन फोटोस्टेट कापी तैयार कराये। राष्ट्रीय अभिलेखागार ने वैसा ही किया और उसमें से एक प्रति आगरा विश्व-

विद्यालय के चतुर्वेदी ब्रज केन्द्र में सुरक्षित है।

उस फाइल के पत्र इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनको पढ़ने के बाद लंकास्टर विश्वविद्यालय (इंग्लैण्ड) के प्रोफेसर श्री टिकरे साहब ने दीनबन्धु का एक नया जीवनचरित्र लिखने का निश्चय कर लिया और Ordeal of Love के नाम से छपा भी दिया। आवश्यकता इस बात की है कि एक विस्तृत भूमिका के साथ उन पत्रों के अनुवाद छपा दिये जावें।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने निर्भीकता के जो उदाहरण जपने जीवन में उपस्थित किये, वे युग-युगान्तर तक भारतीय जनता के लिए प्रेरणा के स्रोत बने रहेंगे।

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी के दृष्टिकोण का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि जहाँ वे भारत के अतीत, संस्कृति एवं गौरव पर इतना बल देते थे वहीं वे उनके वर्तमान तथा भविष्य की तरफ भी उतने ही जागरूक थे। इसलिए गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में उन्होंने अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय किया और गुरुकुल काँगड़ी को हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनाया।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू (आर्य) जाति के महान् उद्धारक थे। उनका जीवन केवल आर्यसमाज के लिए ही नहीं अपितु समस्त देशभक्त भारतीय जनता के लिए महान् प्रेरक और प्रेरणास्रोत था।

सत्य के प्रति निष्ठा का आदर स्वामी श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होंने ग्रहण किया था, वही सार्थक हुआ। सत्य में उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि-शक्ति है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य आज तक हम सार्थक रूप में देख रहे हैं।

आज देश के अन्दर इस्लामीकरण और ईसाईकरण की जो आँधी चल रही है, उससे हमें इस शुद्धि आन्दोलन के जन्मदाता की याद ताजी हो जाती है, जिसने धर्म और जाति की रक्षा के लिए अपना जीवन बलिदान किया।

—लाला रामगोपाल शालवाले

परिशिष्ट ६

स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान के संदर्भ में

पिस्तौल का पश्चात्ताप

—स्व० पं० नारायण प्रसाद बेताब

रुबाई

यह खामए नय आज है पिस्तौल की नाल;
नुक़्ते भी निकलते हैं तो गोली की मिसाल।
मकसूदो - मुरादो - मुद्दआए - दुश्मन;
इक फैर ने 'बेताब' किया सबको हलाल। (१)
क़ातिल ने चलाके वो तमंचा खूँरेज़,
शब्देज़ को शुद्धि के लगा दी महमेज़।
गुलगीर ने सर शमा का क्या काट दिया,
महफिल में हुई रोशनी अब और भी तेज़। (२)

मुसद्दस

निज़ामे-नज़्म किसका ये फ़क़त दो हर्फ़ ग़म के हैं।
मेरे अशआर कब पाबन्द अन्दाज़े रक़म के हैं।।
हुरूफ इनको न समझें आप ये आँसू कलम के हैं।
जिगर के दाग आकर सीनए-कागज पे चमके हैं।।
सुखनगोई नहीं है ये जले दिल के फफोले हैं।
किसी को बर्ग-गुल हैं ये किसी को बम के गोले हैं।।
उड़ाने को निशाना खुद-ब-खुद क्या तीर चलता है?
कमाँ के जोर से वो जाने-ब्रेनखचीर चलता है।।
कलम जिस वक्त कागज पर दमे-तहरीर चलता है।
किसी का हाथ ही गोया पये-तदबीर चलता है।।
न कातिल अपनी हिम्मत से शरेवाँ से शहीद आया।
किसी तहरीके-पिन्हाँ से यहाँ अब्दुर्रशीद आया।।

दिलेरी से कहाँ पिस्तौल जालिम ने सँभाली थी।
गुलामे-जर ने अपनी ज़िन्दगानी बेच डाली थी॥
शक़ावत भर रही थी दिल में लेकिन जेब खाली थी।
अदावत थी न कीना था फकत उजरत हलाली थी॥
गलत कहता है कातिल 'मैं हुआ इस्लाम पर कुरबाँ'।
किया इस्लाम को बदनाम होकर दाम पर 'कुरबाँ'॥
तलब पानी किया था हील से तिशना दआनी से।
लहू की प्यास थी बुझती वो क्योंकर सिर्फ पानी से॥
छुपाया जज़बए-नापाक को गो लन्तरानी से।
मगर खूँखार था आखिर न चूका खूँफिशानी से॥
लहू के दाग फौरन लग गये कातिल के जामे पर।
गुनहगारी की मोहरें लग गयीं आमालनामे पर॥
दिलावर धर्मसिंह औ' धर्मपाल आये नजर दोनों।
वहीं मौजूद थे स्वामी के सेवक वीरवर दोनों॥
मगर कातिल के मनसूबे से मुतलक बेखबर दोनों।
हुई फैरें तो फौरन पिल पड़े शेरे बबर दोनों॥
बहादुर इनको कहते हैं कि खूनी को दबा बैठे।
भरी पिस्तौल की पर्वा न की सीने पे आ बैठे॥
कशाकश में वहीं जालिम ने उनपर फैर भी कर दी।
मगर कहना पड़ेगा वाह रे शाने-जवाँमर्दी॥
बहुत कुछ खून निकला फिर भी चेहरे पर न थी ज़र्दी।
न अपने दर्द का था दर्द बल्के-जोशे-हमदर्दी॥
पड़ी है नीच कायरता, चढ़ी है वीरता उसपर।
खिंची तस्वीर दोनों की यह पोजीशन है क्या सुन्दर॥
किया दिल्ली-निवासी को असुर ने स्वर्ग का वासी।
तआज्जुब है कि कमरे में बहा दी लाल गंगा-सी॥
जईफुल-उम्र, मोहसिन, नातवाँ, बीमार संन्यासी।
जनानों की छुरी भी हो न ऐसे खून की प्यासी॥
करेगा कौन ऐसी बुजदिली ऐसी दगाबाजी।
अरे कमबख्त तू तो हीजड़ों से ले गया बाजी॥
दिये दर्शन दया से तुझको बीमारी की हालत में।
मिले थे बेतकल्लुफ तुझसे तकलीफ़ो-अलालत में॥
मगर तूने तो गोली मार दी जोशे-जहालत में।
दिखाया यह कि है यह फर्क असालत और रज़ालत में॥

तुझे मालूम है उस वक्त क्या पिस्तौल कहती थी ?
अरे शैतान तेरे मुंह पे वो लाहौल कहती थी ।।
उसे अफसोस था मैं पंजये-नापाक में आयी।
मुकामे-शर्म है छुपकर मैं जिस पोशाक में आयी ।।
जला जाता है दिल क्यूं दस्ते-गैरतनाक में आयी।
गजब है इक बुजुर्गे-नातवाँ की ताक में आयी ।।
चला करती हूँ मैं मूज़ी शरीरों के शरीरों पर।
अधर्मी ने चलाया हाथ पीरों पर फकीरों पर ।।
मुझे मालूम होता तो यहाँ हरगिज न आती मैं।
निशाना अपने लानेवाले बुजदिल को बनाती मैं ।।
मिटा है दर्दे-कातिल जिससे वह गोली न खाती मैं।
हुआ है खूने-नाहक के सबब सूराख छाती में ।।
कहेंगी देखिये क्या-क्या मुझे हमजोलियाँ मेरी।
परिस्तिशगाह में दाखिल हुई हैं गोलियाँ मेरी ।।
दिसम्बर ईसवी उन्नीस सौ छब्बीस (१९२६) जब आया।
हुई तेईसवीं तारीख और दिन पंच शंबे का ।।
चतुर्थी पौष कृष्णा संवत् उन्नीस सौ तिरासी (१९८३)।
बजे थे कोई साढ़े चार होने आयी थी सन्ध्या ।।
उठी बिस्तर से शुद्धी कान पर इक फैर होने से।
हुआ आगाज़ का अब खातमा बिल खैर होने से ।।
मुखालिफ जानो-दिल से गैरे-नाकारा है शुद्धी का।
कि चिढ़चिढ़कर जनाजा जिसने लिख मारा है शुद्धी का ।।
नजर आता नहीं उसकी तो क्या यारा है शुद्धी का।
जनाजा जिसको समझा है वो गहवारा है शुद्धी का ।।
अभी कमसिन है यह बच्चा, जवानी आने वाली है।
इधर हर एक बेगम बनके रानी आने वाली है ।।
जिसे कुछ अक्ल है जो नेको-बद है जानती देवी।
खरे खोटे को बुद्धि से है जो पहचानती देवी ।।
बनेगी आर्या देवी तजेगी भ्रान्ति देवी।
बनी है असगरी बेगम से जैसे शान्ति देवी ।।
हमारे पास आयेंगी हमारी माँ, बहन, बेटी।
कि अस्लो नस्ल से हिन्दू हैं सारी माँ, बहन, बेटी ।।
न हरगिज आर्य नेता हाथ में समसाम लेते हैं।
कि शस्त्रों से नहीं वो शास्त्रों से काम लेते हैं ।।

तमंचे का, छुरी का, तेग का कब नाम लेते हैं।
किसी को जब कि गिरता देखते हैं थाम लेते हैं ।।
सिखाता धर्म इनका भी तो ये भी कुश्तो-खूँ करते।
कि रखते नाम काटे खैर और काटे जनूँ करते ।।
तनासुख माननेवाले हैं क्या मैदाँ से रहने को।
कि दम लेना समझते हैं हमेशा दम निकलने को ।।
अभी आते हैं स्वामी मुफसदों का सर कुचलने को।
गये हैं तोशाखाना तक नया जामा बदलने को ।।
मुहब्बत से मुसलमानों को अपने साथ रक्खेंगे।
निकल आयेगी चोटी जिसके सर पर हाथ रक्खेंगे ।।
करोड़ों हिन्दुओं में आज क्या ऐसा नहीं कोई।
सँभाले काम उनका होके सज्जादानशीं कोई ।।
करें यह यज्ञ सब मिलकर न हो चीं बरजबीं कोई।
बजाये वेद का डंका कहीं कोई कहीं कोई ।।
अगर शुद्धी में श्रद्धा है तो श्रद्धानन्द बन जाओ।
दिले-मकतूल की खाहिश के खाहिशमंद बन जाओ ।।
न होगा लाभ मातम से न अश्कों की रवानी से।
न कुछ मतलब बन आयेगा हमारी नोहाखानी से ।।
न हासिल लन्तरानी से न कुछ जोशे-बयानी से।
बस अब बन जाओ श्रद्धानन्द लेकिन सावधानी से ।।
कि हिन्दू मात्र के नुकसान का नामुल बदल है ये।
हमें जो इल्म है 'बेताब' मोहताजे-अमल है ये ।।

□

[स्व० पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' आर्यसमाज के प्रसिद्ध नाटककार तथा कवि थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी की आत्माहुति के पश्चात् १ जनवरी, १९२७ को बेताब जी ने उपर्युक्त उर्दू कविता लिखी। इसे कालान्तर में कलकत्ता के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' ने भी संक्षिप्त रूप से प्रकाशित किया था। हमने इस कविता को सम्पूर्णतया उद्धृत किया है। —**भवानीलाल भारतीय**]

परिशिष्ट ७

'हरियाणा तिलक', ३ जून १९२७

शहीदे-धर्म के "विमान का बेमिसाल नजारा"

तारीखे-हिन्द में काबिले-यादगार जुलूस

देहली, २५ दिसम्बर—श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के आखरी दर्शनों के लिए यूँ तो दूर व नजदीक के सैकड़ों मुकामात से हजारहा अशखास आये थे, मगर यू० पी०, पंजाब के यात्री खासतौर पर नजर आते थे। भजन-मण्डलियों का ताँता लगा हुआ था। शहर के तमाम हिन्दू मुअज्जज़ीन के इलावा व्याख्यान-वाचस्पति पं० दीनदयालु जी, महाशय कृष्ण जी, रायजादा हंसराज जी, बख्शी टेकचन्द जी, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, नारायण स्वामी जी और बहुत-से सज्जन आये थे। तमाम लोग नंगे सिर थे और गाड़ियाँ व मोटरों में भर-भरकर फूल लाये थे। तमाम दोतरफा छतें स्त्रियों और बच्चों से भरी हुई थीं। "स्वामी श्रद्धानन्द जी की जय", "स्वामी दयानन्द जी की जय", "हिन्दू धर्म की जय" के आसमान-शगाफ़ नारे लगाये जा रहे थे। जुलूस आहिस्ता-आहिस्ता रवाना हुआ। जुलूस मीलों लम्बा हो गया। लोगों का वह मजमाए-अज़ीम था कि देहली क्या शायद हिन्दुस्तान की तारीख में बजा तौर पर अलीमउलमिसाल कहला सकता है। अहले-जुलूस की तादाद का अन्दाजा ४-५ लाख लगाया जाता है। शहर के तमाम बाजारों में हिन्दुओं की मुकम्मिल हड़ताल थी।

विमान का जुलूस स्वामी जी की जाये-रिहाइश नया बाजार से शुरू होकर, नया बाँस, लाल कुँआ, काजी का हौज, चावड़ी बाजार, नई सड़क, घण्टाघर, चाँदनी चौक से गुजरकर लाल किले से होता हुआ जमना जी के किनारे निगम-बोध घाट पर पहुँचा। जुलूस के पहुँचने से पेश्तर ही घाट पर हजारों की भीड़ थी और स्वामी जी के अन्तिम संस्कार की सामग्रियाँ पहुँचा दी गई थीं। वैदिक रीति से बाकायदा संस्कार कराया गया। फिर अगले रोज तीन बजे मातमी जलसे का एलान किया गया। तमाम रास्ते जुलूस के फोटो और सिनेमा के फिल्म लिये जा रहे थे।

हौलनाक इनकशाफ़ात

'हरियाणा तिलक' ३ जनवरी, १९२७

कातिल मालवीय जी और लाला जी के खून का भी प्यासा था—कातिल का, जो कि इस वक्त पुलिस की हिरासत में है, बयान है कि वह श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के कत्ल के अलावा दो और चोटी के हिन्दू लीडरान के खून का प्यासा था।

इस वक्त अब्दुलरशीद के बयानात लेने में कम-से-कम चार तजर्बेकार पुलिस अफसरान मशगूल हैं, जो उसपर बड़ी तगड़ी जिरह कर रहे हैं। मि० आवर्ड—सीनियर सुपरिंटेंडेंट पुलिस, मलिक देवीदयाल—सुपरिंटेंडेंट पुलिस, खान साहब इकरामुलहक—डिप्टी सुपरिंटेंडेंट पुलिस (इन्सपेक्टर) सी० आई० डी० इस तहकीकात में शामिल हैं। अगर्चे मुलजिम के बयानात के होते हुए पाँच रोज हो चले हैं, लेकिन अभी तक कोई अच्छी कामयाबी नजर नहीं आई। मालूम होता है कि अब्दुलरशीद कातिल बहुत सख्तजान है, जिससे कुछ मतलब निकालने के लिए इन चारों अफसराने-हुकूमत को बड़ी होशियारी से काम लेना पड़ेगा। थोड़ा-थोड़ा करके इनकशाफात होते जाते हैं और मुमकिन है कि इस तमाम किस्से को सिलसिले में बाँधने में एक महीना लग जाए।

···यह भेद कि रिवाल्वर कहाँ से आया, हल किया जा रहा है। पुलिस को इस वक्त तक सिर्फ इतना ही मालूम हो सका है कि यह इंगलिस्तान का शाख्ता है कि यह एक पुराना रिवाल्वर है। यह कहा गया कि अब्दुलरशीद को रिवाल्वर रखने का लाइसेंस हासिल नहीं था, और कि यह किसी और की मिलकियत है, सही मालूम होता है। क्योंकि यह एक बिला तरदीदशुदा जरिए से मालूम है कि पुलिस ने इस रिवाल्वर के मुतल्लिक मुल्क के कई मकामात को तार दिये हैं जिनमें रिवाल्वर की ऐसी तफासील दर्ज हैं।

खूनी अब्दुलरशीद ने स्वामी जी को क्यों कत्ल किया है? इसके मुतल्लिक मालूम हुआ है कि उसने अब मज़ीद बतलाया है कि गुज़िश्ता तीन सालों से इसे स्वामी जी को कत्ल करने से बढ़कर और कोई ख्वाहिश नहीं थी। स्वामी जी ने मलकाना राजपूतों की शुद्धि की थी। इससे मुलज़िम कहता है कि मैंने यह तय किया था कि काफिर का सिर उतारूँ और इस तरह अल्लाह की नवाजिश और बरकत हासिल करूँ। मैं फक़त वक्त का मुंतज़िर था। मगर प्राइवेट तहकीकात से मालूम हुआ है कि मुलज़िम अब्दुलरशीद कत्ल की सह पहर को दफ्तर "तेज" में आया था और एक मुस्लिम मुलज़िम से उसे यह मालूम हुआ था कि स्वामी श्रद्धानन्द देहली में हैं, कि उनका मकान नज़दीक ही है और कि उनका वहाँ कोई पहरेदार नहीं।

अब्दुलरशीद के मनसूबे पब्लिक के वहमो-खयाल से भी ज्यादा वसीह थे। उसका इरादा था कि हिन्दू तहरीक को यकलख्त खत्म कर दे। इस मकसद की

खातिर वह पण्डित मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय को भी गोली का निशाना बनाना चाहता था।

"हरियाणा तिलक" ३ जून १६२७, कातिल के मुताल्लिक ताजा मालूमात—तहकीकात करने पर मालूम हुआ है कि श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के कातिल का नाम अब्दुलरशीद है। वह बुलन्दशहर का रहनेवाला है, मगर कई महीने से देहली में बाकायदा तौर पर रहने लग गया था। इसका पेशा अरायज़नवीसी नहीं जैसा कि पेश्तर अर्ज़ी अखबारात में शाये हुआ था, बल्कि यह शख्स अखबारों के दफ्तरों में किताबत का काम करता था, और चन्द माह हुए अखबार "सियासत" में कातिब था। इसके अलावा भी वह मोतबिद व मुसलमाँ-मुतालवा अखबारात का काम करता रहा है। स्वामी जी को शहीद करने से तकरीबन आधा घण्टा पहले वह दफ्तर "तेज" में आया था और आकर "तेज" के कातिबों के पास तकरीबन १०-१५ मिनट तक बैठा रहा। कातिब का बयान है कि दरियाफ्त करने पर उसने कहा था कि वह आजकल कुरान शरीफ लिख रहा है। लेकिन अभी तक पता नहीं यह कुरान शरीफ कौन लिखा रहा था। कातिल "तेज" प्रेस के अन्दर भी गया था और प्रेस के मुसलमान मुलाज़मीन का बयान है कि उसकी आँखें बहुत खौफनाक मालूम होती थीं।

'हरियाणा तिलक' २४ जून १६२७

स्वामी श्रद्धानन्द जी के कत्ल का मुकद्दमा

गवाहान इस्तगासा के बयानात

पहली पेशी—देहली, ११ जनवरी

मिस्टर भनोट, एडीशनल मेजिस्ट्रेट, की अदालत में १२ बजे स्वामी जी के कत्ल का मुकद्दमा पेश हुआ। कमरा अदालत में बहुत ज्यादा भीड़ थी। मुलज़िम की तरफ से मि०जकरुल रहमान वकील थे। इसतगासा की तरफ से कोर्ट इंस्पैक्टर पैरवी कर रहे थे। मुलजिम को ठीक साढ़े बारह बजे अदालत में लाया गया। मुलजिम के बाप, भाई और दीगर कई आदमियों को मुलजिम के सामने आखरी बेंचों पर बिठलाया गया। दरखास्त पर जकरुल रहमान साहब, वकील सफाई, को पुलिस के चालान के कागजात दिखाये।

पहला गवाह लाला मेहरचन्द पुरी—२३ दिसम्बर को पौने चार या चार बजे के करीब मैं भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के दफ्तर में बैठा हुआ था। हिसाब-पड़ताल कर रहा था। स्वामी जी का नौकर चिल्लाता हुआ आया कि आओ दौड़ो स्वामी जी को बचाओ। दफ्तर में स्वामी चिदानन्द जी मंत्री भी थे। जिस वक्त हम स्वामी जी के कमरे के पास पहुँचे, तो मैंने देखा कि धर्मसिंह के खून जारी था। मैं जिस वक्त कमरे में दाखिल हुआ, तो मैंने स्वामी श्रद्धानन्द जी को देखा,

जो अपनी चारपाई पर औंधे गिरे हुए थे और स्वामी जी की चारपाई के सिरहाने की तरफ महाशय धर्मपाल ने किसी आदमी को नीचे दबाया हुआ था। मैं टेलीफोन करने चला गया।

जिरह—मैंने स्वामी जी के कमरे के अन्दर दाखिल होने के ढाई-तीन मिनट के बाद टेलीफोन किया। टेलीफोन करके मैं कोई १५ मिनट बाद आया। पुलिस ने मेरा बयान तकरीबन १०-१२ रोज के बाद कलमबद्ध किया। मैंने इस वजह से पुलिस में जाकर खुद बयान नहीं दिया कि पुलिस ने मेरा बयान नोट कर लिया है। मेरा बयान मेरे बोलने पर नोट किया गया। इन बयानों में धर्मसिंह के ज़ख्मी होने के मुतल्लिक मैंने कोई बयान नहीं दिया।

शहादत धर्मसिंह—तकरीबन ४ बजे, २३ दिसम्बर को, मैं स्वामी जी के मकान पर था। स्वामी जी ने कहा कि मैं टट्टी जाऊँगा। मैंने कमोड चारपाई के पास रख दिया और दरवाजा झाँपकर बाहर बैठ गया। मुझे ज़ीने में आहट मालूम हुई। ज़ीना पर आया तो मुझे ज़ीना पर अब्दुलरशीद मिला। उसने कहा कि मैं स्वामी जी से मिलना चाहता हूँ। मैंने कहा स्वामी जी बीमार हैं और डॉक्टरों का हुक्म है कि बातचीत न करें, इसलिए मैं नहीं जाने देता। उसने कहा कि मैं सिर्फ खड़े होकर स्वामी जी को देखकर चला आऊँगा। इसपर मैंने कहा कि आप दूसरे कमरे में बैठ जायें, स्वामी जी से बग़ैर इजाजत लिये नहीं जाने दूँगा। उसे कमरे में बिठाया। स्वामी जी ने मुझे आवाज दी। मैंने अन्दर जाकर कमोड हटा दिया और हाथ धोकर स्वाभी जी उठने लगे। मैंने कहा, "स्वामी जी एक मियाँ है, आपको मिलना चाहता है।" स्वामी जी ने यह कहा कि बातचीत न करे, मुझे मिलकर वापिस हो जाये। इतने में अब्दुलरशीद को बुलाया। स्वामी ने पूछा कि आप कैसे आये ? उसने कहा कि मैं इस्लाम के मुतल्लिक कुछ बातें करना चाहता हूँ। इसपर स्वामी जी ने कहा कि मैं अभी बात नहीं कर सकता। अभी दो रोज से ही कुछ आराम है। फिर आना, तब बातें करूँगा। इसपर अब्दुलरशीद ने कहा कि ज़रा मुझे पानी पिला दो। स्वामी जी ने कहा कि पानी पिला दो। मैं उसे बाहर लेकर आया और एक लोटा पानी पिला दिया। पानी पीते ही अब्दुलरशीद फिर कमरे के अन्दर घुस गया और स्वामी जी पर गोली का फायर किया। इस पर मैंने उसके पीछे से कोहली भर ली। इसपर वह गोली छोड़ता रहा। इसपर उसका पीछा छोड़कर मैंने आगे से उसको पकड़ा और दोनों कुश्ताकुश्ती-से होते रहे। इसपर मुझे भी गोली लगी और इतने में स्वामी जी के प्राइवेट सेक्रेटरी पण्डित धर्मपाल आये और अब्दुलरशीद को पकड़ते हुए दिखाई दिये। मैं अलग हो गया। मैंने चिदानन्द जी को जाकर आवाज दी। मैं पिस्तौल को पहचानता हूँ। यह अब्दुलरशीद के हाथ में थी।

जिरह—चोट लगने पर मैं बेहोश नहीं हुआ। गोली चलाते वक्त कमरे में

स्वामी जी, अब्दुलरशीद और मेरे सिवा कोई नहीं था। स्वामी जी चारपाई पर तकिया लगाये बैठे थे। गोली चलाने के वक्त अब्दुलरशीद स्वामी जी से दो-ढाई कदम के फासले पर था। मेरा बयान कमरे में सरदार सुचेतसिंह ने लिया। पुलिस ने उस वक्त मुझसे शिनाख्त नहीं करवाई।

शहादत पण्डित धर्मपाल—गोली की आवाज सुनकर मैं अपने कमरे से स्वामी जी की तरफ चला और कमरे में दाखिल होकर देखा कि धर्मसिंह अब्दुलरशीद को पकड़ रहा है। मैंने मुलजिम को पकड़ा और उसको मैंने कोने में दबा लिया। इस वक्त मैंने स्वामी जी की तरफ खास ध्यान नहीं दिया। पुलिस तकरीबन २५ मिनट बाद आई। स० सुचेतसिंह ने आकर अपना पिस्तौल दिखाया और उससे पिस्तौल ले लिया था, जिसमें से गोली चलाई थी। मैं इस शख्स को भी पहचानता हूँ।

जिरह—पुलिस इस कमरे में ७-८ बजे तक तैनात रही। मेरा बयान उसी वक्त लिखा गया। मुलजिम को मैंने एक मिनट के अन्दर ही गिरा लिया।

स्वामी चिन्दानन्द की शहादत—मैं २३ दिसम्बर को चार बजे के करीब अपने दफ्तर में हिसाब की पड़ताल कर रहा था। धर्मसिंह आया और दरवाजे पर से आवाज दी कि स्वामी जी को किसी ने गोली मारी है। मैं फौरन स्वामी जी के कमरे में गया। धर्मपाल किसी आदमी को पकड़े हुए था और स्वामी जी चारपाई पर औंधे गिरे हुए थे। मेरे साथ-साथ ही आडिटर साहब और मेरे क्लर्क वगैरह भी आये।

जिरह—मेरे और स्वामी जी के कमरे के दरमियान दीवार है।

दूसरी पेशी—देहली, १२ जनवरी १९२७

आज ११ बजे स्वामी श्रद्धानन्द जी के कत्ल का मुकद्दमा पेश हुआ।

कर्नल फ्रेंकलिन का बयान—मैंने इम्तिहान २४ दिसम्बर को किया। चार जख्म (गोली दाखिल होने के थे)–एक जख्म पसलियों के दरम्यान गड्ढे पर और पसली की हड्डी के ऊपर, एक दाहिनी पसली के पीछे, ये गोलियाँ सीने के अन्दर से ऐसी गुजरीं कि फेफड़े को जख्मी करती गईं, चौथी गोली…के पीछे मिली।

लाला बलराम का बयान—मैं करीबन चार बजे खारी बावली से आ रहा था। मैंने सुना कि स्वामी श्रद्धानन्द के कमरे से चीख व पुकार की आवाज हुई। मैं ऊपर गया, देखा स्वामी जी बिस्तर पर पड़े हुए हैं। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मुसलमान को उनके तकिए की तरफ पकड़े हुए पड़े हैं। इस मुसलमान के हाथ में पिस्तौल था। मैंने मुलजिम से दरयाफ्त किया कि यह तुमने क्या किया ? उसने जवाब दिया कि "यह हमारे दीन के दुश्मन थे।"

जिरह—चिदानन्द और धर्मपाल को सूरत से जानता हूँ। मैं खुद बाहर खड़ा

था, ताकि लोगों को अन्दर आने से रोकूं।

डॉ० एच० सी० रेफल का बयान—मैंने २४ दिसम्बर को धर्मसिंह का मुआइना सिविल हस्पताल में किया। उसके दो जख्म थे।

प्रो० इन्द्र की शहादत—मैं २३ दिसम्बर की शाम को अपने दफ्तर में तकरीबन चार बजे तक था। एक शख्स लाला जीवनराम ने मुझे आवाज दी। मेरे नीचे आने पर बतलाया कि किसी ने स्वामी जी को गोली मार दी। वहाँ जाकर मैंने देखा तो स्वामी जी बेहोशी की हालत में गालिबन मुर्दा थे। स्वामी जी के सिरहाने धर्मपाल एक आदमी को दबाये हुए था। मुलजिम अब्दुलरशीद को देखकर कहा कि यह वह शख्स है। तकरीबन १५ मिनट में स० चेतसिंह के साथ पुलिस आई और मुसलमान से रिवाल्वर छीन लिया। मैंने मुलजिम को पहले भी देखा था, वाकया से दो-ढाई महीने पहले जब कौंसिल के इन्तखाब का जलसा संगम थियेटर में कांग्रेस की तरफ से था।

जिरह—इस वाकये से पहले मुलजिम अब्दुलरशीद को आते-जाते नहीं देखा। डॉ० सुखदेव, बलराम और मैंने, किसी ने भी, पिस्तौल छुड़वाने की कोशिश नहीं की। मेरे सामने किसी ने मुलजिम को मारा-पीटा नहीं। स्वामी जी शुद्धि सभा के एक्टिंग प्रेजीडेण्ट थे।

सरदार चेतसिंह की शहादत—२३ दिसम्बर को चार बजे के बाद टेलीफोन वेस्टन रोड से हुआ था। मैं यहाँ से मौकाए-वारदात पर आया। मैंने स्वामी जी की लाश चारपाई पर देखी और धर्मसिंह जख्मी हुआ था। मुलजिम को धर्मपाल ने पीछे से पकड़ रक्खा था। मैंने अपना पिस्तौल मुलजिम को दिखाकर उसका पिस्तौल छीन लिया। धर्मसिंह को सिविल हस्पताल में ले गया। मुकद्दमे की तफ्तीश १४-१५ दिन तक होती रही। मुलजिम का बाजार फैज में मकान है। मेरे जाने पर मुझे मालूम हो गया कि मुलजिम धर्मपाल के नीचे से निकलने की कोशिश कर रहा था। मेरे सामने मुलजिम को किसी ने नहीं मारा। मुलजिम पिस्तौल चलाने की कोशिश कर रहा था, लेकिन धर्मपाल हाथ पकड़े हुआ था।

शेख नजीरुलहक, इन्स्पैक्टर पुलिस सी० आई० डी०—मैं इस तफ्तीश का इंचार्ज था। जब मैं २३ तारीख को मौकाए-वारदात पर पहुँचा तो मुलजिम वहाँ से ले-जाया जा चुका था। अफसरान ने यह तहकीकात करने की कोशिश की कि यह साजिश तो नहीं। अभी तक साजिश का पता नहीं चला।

बाबू सुरेन्द्रनाथ की शहादत—मैंने खाली कारतूस के दो खोल तलाश किये। यके बाद दीगरे दो कारतूस मिले। वे पुलिस को दे दिये।

हामिदअली नं० १९८ हैडकांस्टेबल—मेरी नौकरी में किसी ने लाश को नहीं छुआ। डॉ० साहब ने स्वामी ज़ी के जिस्म से ज़ो खूनी कपड़े उतारे थे, उनकी फेहरिस्त बनाई थी।

रामलाल की शहादत—जिस रोज स्वामी श्रद्धानन्द का कत्ल हुआ, उस रोज यह (मुलजिम) शख्स मेरी दुकान पर आया था—तकरीबन चार बजे। एक पैसे का पान लिया, किसी दूसरे शख्स को दे दिया और मुझसे दरयाफ्त किया कि स्वामी जी का कमरा यही है ? मैंने बतला दिया। इसके साथ दो आदमी और थे। मैंने पटाखे की आवाज सुनी।

जिरह—मैंने आज तक मुलजिम के फोटो बिकते नहीं देखे। उन दोनों आदमियों का हुलिया नहीं जानता। पुलिस में मैंने उन दो आदमियों का हाल नहीं बताया।

पब्लिक प्रोसीक्यूटर ने कम्बल दिखाया तो गवाह ने शिनाख्त किया कि मुलजिम यही कम्बल ओढ़े हुए था।

पागल साबित करने की दरखास्त—वकील सफाई मि० जकरुलरहमान ने मुलजिम की जानिब से एक दरख्वास्त पेश की कि मुलजिम को पागल साबित करने के लिए २३६ गवाह पेश करने की इजाजत दी जाये। अदालत ने दरख्वास्त ले ली और हुक्म दिया कि इस पर गौर किया जायेगा। मुकद्दमा कल पर मुल्तवी हुआ।

तीसरे रोज की कार्यवाही—देहली १३ जनवरी, मुकद्दमा करीबन ११ बजे शुरू हुआ।

मि० जगन्नाथ सब इन्स्पैक्टर का बयान—गवाह ने नक्शा जबीत धर्मसिंह की तस्दीक की।

जिरह—धर्मसिंह के जिस्म का मैंने खुद मुआइना किया।

मुलजिम का बयान

अदालत—तुम्हारा क्या नाम है ? (कोई जवाब नहीं मिला) कोर्ट इंसपैक्टर ने जोर से दरयाफ्त किया कि तुम्हारा नाम क्या है ?

मुलजिम बदस्तूर ऊपर की जानिब देखता रहा। अदालत ने जोर से पुकारा—अब्दुलरशीद ! मुलजिम ने गर्दन को हरकत दी। कोर्ट इन्स्पैक्टर ने दरयाफ्त किया—तुम्हारे वालिद का नाम क्या है ? फिर कोई जवाब नहीं मिला। अदालत ने मुलजिम को नाम लेकर मुखातिब किया और कहा कि हम जो सवाल दरयाफ्त करेंगे उसका जवाब दोगे। लेकिन फिर कोई जवाब नहीं मिला।

पागलपन की दर्ख्वास्त—वकील सफाई ने कहा कि मुलजिम का बयान लिये बगैर मजिस्ट्रेट कोई फर्द जुर्म नहीं लगा सकता।

गवाह इस्तगासा ने बतलाया कि मुलजिम की नीयत क्या थी। अदालत ने खुद भी देखा कि मुलजिम की क्या हालत है। अदालत की राय में तबी लिहाज से ज्यादा वकअत नहीं रखती। अदालत ने मजीद ग़ौर-ो-ख़ोज़ के बाद मुकद्दमा कल पर मुल्तवी किया।

चौथी पेशी (देहली, १४ जनवरी)

अदालत (वकील सरकार से)—आपको क्या कहना है? मिस्टर सूरजनारायण वकील सरकार ने एक दरखास्त पेश की जिसमें मुलजिम के पागल होने के खिलाफ सबूत बहम पहुँचाने के लिए उन अफसरान को बतौर गवाह पेश करने की इजाजत तलब की गई जो तफ्तीश मुकद्दमा के इंचार्ज थे। वकील सफाई ने वकील इस्तगासा का जवाब देने के लिए इजाजत चाही, लेकिन अदालत ने इन्कार कर दिया।

खान बहादुर शेख इकरामुलहक ने कहा कि तफ्तीश मेरे जेरे-तहत थी। मुझे सबसे पहले मुलजिम की गिरफ्तारी पर मुलजिम से बातचीत का इत्तफाक हुआ। होश और हवास बिल्कुल दुरुस्त हैं।

मिस्टर आवर्ड, सुपरिंटेण्डेण्ट पुलिस—मुझे बहुत मर्तबा मुलजिम से बात करने का मौका मिला। आखिरी मर्तबा गुजिश्ता बुध या बृहस्पति यानी पाँच या छः जनवरी को बातचीत की। मुलजिम ने मेरे सवालात का ठीक जवाब दिया।

मलिक देवीदयाल, सुपरिंटेण्डेण्ट पुलिस—मैं मुकद्मे की तफ्तीश में शामिल था, अक्सर मुलजिम से बातचीत का मौका हुआ। आखिरी मर्तबा चालान मुकद्मा से पेश्तर कई मर्तबा घण्टों तक गुफ्तगू की, सवालात के जवाब अच्छी तरह मिलते थे।

वकील सफाई—दफा २१० के मुताबिक कहूँगा कि मुकद्मा इस लायक नहीं है कि सैशन सुपुर्द किया जाय।

फर्द जुर्म लग गई—अदालत ने मुलजिम को बुलाया। अदालत ने मुलजिम को जोर से बतलाया कि तुमपर २३ दिसम्बर को चार बजे के करीब स्वामी श्रद्धानन्द को कत्ल करने के ताल्लुक में कत्ल का इल्जाम लगाया गया है।

'हरियाणा तिलक' २१ मार्च १९२७

स्वामी श्रद्धानन्द के कातिल को फाँसी

मुसलमानों की शर्मनाक जहनीयत

खूनी अब्दुलरशीद कातिल के खिलाफ जो स्वामी श्रद्धानन्द को कत्ल करने का मुकद्मा सैशन जज देहली की अदालत में चल रहा था, उसका फैसला गुजिश्ता १४ मार्च को सुना दिया गया।

मुसलमानों ने कातिल को बचाने के लिए बहुत-कुछ हाथ-पाँव पीटे। कभी उससे यह बयान दिलवाया कि वह बेकुसूर है और चन्द असहाब उसे पकड़कर ले गये जहाँ कि स्वामी जी शहीद हुए पड़े थे, और कभी उसको पागल साबित करने की कोशिश थी।

आखिर अब्दुलरशीद बेगुनाह न साबित हो सका और न पागल। बल्कि जैसा कि वह खूनी था, कानून ने भी यही फैसला दिया।

मुसलमान लीडरान के कहने पर हम यह बात मान लेते हैं कि किसी फर्द वाहिद के फ़ेऽल से तमाम फिर्के को कुसूरवार ठहराना मुनासिब नहीं, लेकिन जिम्मेवार मुसलमानों के पास इसका क्या जवाब है कि ऐसे खूनी को तख्ते फाँसी से उतारने के लिए आम मुसलमानों ने एड़ी चोटी का जोर लगाया, जिसका जुर्म न सिर्फ हौलनाक और गायतदर्जा शर्मनाक था, बल्कि जिसने मकरदा कारस्तानी से हिन्दू-मुस्लिम ताल्लुकात को नाकाबिले-बर्दाश्त सदमा पहुँचाने और मुल्क को गुलामी की जंजीरें मजबूत करने में कोई कमी उठा न रक्खी। अब्दुलरशीद का बिस्तरे-अलालत पर धोखेबाजी से कत्ल करना, शायद इतना बुरा फ़ेडल नहीं है, जितना कि मुसलमानों का इस खूनी से इजहारे-हमदर्दी। अब्दुलरशीद को नमाजी लिखना, स्टेशन पर आते-जाते जाकर सलामें करना, और उसकी इमदाद में चन्दा जमा करना, और उसको बचाने के लिए झूठ बोलना और उस शर्मनाक जुर्म को हक-बजानब ठहराना, मुसलमानों की शर्मनाक जहनियत का एक खौफनाक सबूत है।

देखिए, इस बदनसीब मुल्क के दिन कब अच्छे आते हैं और फिर्कावाराना जानिबदारी और मजहबी तास्सुब के पत्थर मुत्तहदा कौमियत के रास्ते से हटते हैं।

बुजदिल खूनी को फाँसी

'हरियाणा तिलक', २६ मई १९२७

श्री श्रद्धानन्द के बुजदिल कातिल अब्दुलरशीद को सैशन जज देहली की अदालत से फाँसी का हुक्म हुआ था। हाईकोर्ट पंजाब में अपील दायर की गई। गुजिश्ता १९ मई को काबिल जजान ब्रॉडवे और स्कीम्प के रूबरू अपील पेश हुआ। सफाई के वकुला ने बहुत जोर मारा। मगर दिन को रात किस तरह तस्लीम किया जा सकता है! हाईकोर्ट से फैसला हो गया और फाँसी का हुक्म बहाल रहा। अब गालिबन रहम की दरख्वास्त होगी। मगर किसी खिलाफ-तवक्कअ बात का जहूर में आना तकरीबन नामुमकिन है। अब्दुलरशीद की रूह और जिस्म के ताल्लुक का वक्त निहायत तंग रह गया है।

आम तास्सुबी और जाहिल मुसलमानों को अब्दुलरशीद से हमदर्दी है। वो खयाल करते हैं कि उसने इस्लाम के लिए अपनी जान कुर्बान कर दी। फिर्का-परस्त और मुल्कफरोश मुसलमान लीडर कठमुल्ला अब्दुलरशीद को गाजी और शहीद बनाकर अपनी दुकानदारी चमका रहे हैं। उस बेवकूफ की खूनी हिमाकत से जाती फायदा उठाने की चालें चल रहे हैं।

मौलाना मोहम्मदअली जैसे कौमपरस्त मुसलमान भी नाप-तोलकर अल्फाज मुँह से निकालते हैं कि कहीं आम मुसलमानों की नाराजगी का शिकार होकर अपनी लीडरी को बिल्कुल खत्म न कर बैठें। —११

हिन्दुओं ने अब्दुलरशीद में एक नमूने का मुसलमान पा लिया है और इसकी तरफ उँगली उठाकर कहते हैं, "ऐसे हैं मुसलमान, करो इनसे दोस्ती और इत्तिहाद!" यह बुजदिल खूनी तो एक जबरदस्त साजिश का मखलज आलाकार है। इसकी पुश्त पर मुसलमानाने-हिन्द की हिमायत बेसूद मौजूद है। कौमपरस्त मुसलमानों को बदनाम करने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी की शहादत का जिक्र कर देना ही काफी हो गया है।

मिस्टर सकलातवाला की तहरीक पर पण्डित इन्द्र ने अब्दुलरशीद के लिए रहम की दरख्वास्त करने का इरादा जाहिर किया था। यह हिन्दुओं को बहुत बुरा लगा, और मौलाना मोहम्मदअली जैसे मुसलमानों को भी नागवार गुजरा। क्योंकि पण्डित साहब ने इस सिलसिले में यह खयाल जारी कर दिया था कि वे अब्दुलरशीद को एक बड़ी जबरदस्त साजिश का आलाकार समझते हैं। अब जब कि असली मुलजिम महफूज है तो एक आलाकार को मौत से बचाकर उसे तहवील कैद में इसलाह का मौका दिया जाना चाहिए।

हमारी राय में अब्दुलरशीद फिरकापरस्ती और मजहबी जुनून की एक जीती-जागती तस्वीर है। इस हौलनाक तस्वीर को दूसरों की इबरत के लिए मिटाने से भी ज्यादा इस स्पिरिट (Spirit) को कुचलने की जरूरत है, जिसने ये हौलनाक और शर्मनाक मुजस्सिम शक्ल अख्तियार की है।

हिन्दुओं की निस्बत मुसलमानों में मजहबी अदम-बरदाश्त और जुनून ज्यादा है, इसलिए दोनों तरफ से फिर्काबाराना आँधी चलने के बावजूद इस्लामी गिरोह से ही ऐसे गाजी और शहीद निकलते हैं। अगर हिन्दू अब्दुलरशीद पर रश्क करें तो उनकी हालत काबिले-अफसोस है। और अगर मुसलमान इस नंग-इन्सानियत मरदूद पर नाज करें तो निहायत शर्म की बात है। इस खौफनाक मर्ज का इलाज मुत्तहदा कौमियत का सही जज्बा है, जो हमारे दिलों में पैदा होना चाहिए।

स्वामी श्रद्धानन्द का बुजदिल कातिल तख्ताए-फाँसी पर

मुसलमान अब्दुलरशीद की लाश जबरदस्ती उठाकर ले गये

मगर पुलिस की संगीनों से लाश को छोड़कर भाग निकले

"हरियाणा तिलक", २२ नवम्बर १६२७—देहली, १४ नवम्बर, आज सुबह के आठ बजे सेण्ट्रल जेल देहली में अब्दुलरशीद कातिल स्वामी श्रद्धानन्द को फाँसी पर लटका दिया गया। जेल से बाहर ३०-४० हजार मुसलमानों का जमघटा मौजूद था। अब्दुलरशीद के वारिसों ने तहरीरी इकरारनामा दाखिल किया हुआ था कि वो उसकी लाश को जेल के करीबी कब्रिस्तान में दफन कर देंगे। मगर मुसलमानों के जबरदस्त मजमूए ने जेल के अन्दर घुसकर जबरदस्ती उसकी लाश को उठा लिया और जुलूस की शक्ल में लेकर शहर के अन्दर दाखिल हो गये।

जुलूस चावड़ी बाजार, लाल कुंआ और नया बांस होता कुतुब रोड पहुँचा। रास्ते में बहुत-कुछ लूटमार भी होती चली। कुतुब रोड पर पुलिस व फौज ने जुलूस को घेर लिया और संगीनें चलाईं। इसपर मजमूआ अब्दुलरशीद की लाश को छोड़कर भाग निकला। चुनांचे मोटर लारी में लाश को रखकर और दो-चार मुसलमानों को उसमें बैठाकर जेल के करीबी कब्रिस्तान में उसे दफना दिया गया। जनाजे के जुलूस ने रास्ते में कई दूकानें लूटीं और कई हिन्दुओं को जख्मी किया और एक हलाक हो गया।

परिशिष्ट ८

स्वामी श्रद्धानन्द वाङ्मय : सम्पूर्ण सूची

हिन्दी-पुस्तकें

१. आर्य संगीतमाला, १९००; जालन्धर।

२. ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार (प्रथम भाग), १९१०, गुरुकुल काँगड़ी, पृ० ४७२।

३. वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति, १९११, गुरुकुल काँगड़ी।

४. पारसी मत और वैदिक धर्म, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी, पृ० ४०।

५. मातृभाषा का उद्धार, १९१६, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय दिल्ली, पृ० ३९।

६. वेद और आर्यसमाज, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी, पृ० ४०।

७. आर्यों की नित्यकर्मपद्धति, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी।

८. पंचमहायज्ञविधि, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी।

९. विस्तारपूर्वक सन्ध्या-विधि (लाला ज्वालासहाय की उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), १९१६, दिल्ली।

१०. आचार, अनाचार और छूतछात, १९१६, दिल्ली।

११. ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी।

१२. उत्तराखण्ड की महिमा अर्थात् गढ़वाल प्राचीन और अर्वाचीन (जिसके साथ कुरुक्षेत्र माहात्म्य भी लगा दिया गया है), १९१७, दिल्ली।

१३. मानव धर्मशास्त्र तथा शासनपद्धति, १९१७, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, काँगड़ी।

१४. आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त, १९१७, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, दिल्ली, पृ० १०४।

१५. जाति के दीनों को मत त्यागो, १६१६, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, दिल्ली, पृ० ७६।
१६. गढ़वाल में १६७५ विक्रमी का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल-दल का कार्य, १६१६, विजय प्रेस, दिल्ली, पृ० ७५।
१७. वन्दीघर के विचित्र अनुभव (गुरु का बाग सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपनी जेलयात्रा का रोचक वर्णन), १६२३, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, दिल्ली।
१८. कल्याणमार्ग का पथिक(आत्मकथा), १६२४, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, पृ० २१५।
१६. हिन्दुओ सावधान, तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिपकर धावा बोला गया, १६२४, दिल्ली।
२०. वर्तमान मुख्य समस्या : अछूतपन के कलंक को दूर करो, १६२४, दिल्ली।
२१. आर्य पथिक लेखराम, १६२५, गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता।
२२. मुक्ति-सोपान, १६२५, लाहौर।
२३. आर्यों के नित्यकर्म, राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर।
२४. धर्मोपदेश (स्वामी जी के उपदेशों एवं व्याख्यानों का संग्रह) तीन खण्डों में, सम्पादक—लाला लब्भूराम नय्यड़, गुरुकुल काँगड़ी।

उर्दू-पुस्तकें

१. वर्णव्यवस्था, १८६१, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ० ६७।
२. एक मांस-प्रचारक महापुरुष की गुप्तलीला का प्रकाश, १८६५, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ० ६२।
३. क्षात्र धर्म पालन का गैर मामूली वाकया, १८६५, जालन्धर।
४. यज्ञ का पहला अंग (स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण का उर्दू अनुवाद), १८६७, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ० ३८।
५. उपदेशमंजरी, १८६८, जालन्धर।
६. आर्यसमाज के खानाजाद दुश्मन (सद्धर्म प्रचारक में छपे लेखों का संग्रह), १८६८, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ० २७२।
७. सुब्हे-उम्मीद(वेदों के विभिन्न टीकाकारों और स्वामी दयानन्द की भाष्य-शैली और वेदों की महत्ता का विवेचन), १८६८, लाहौर।
८. पुराणों की नापाक तालीम से बचो, १८६६, जालन्धर।
६. सद्धर्म प्रचारक पर पहला लायबल केस, १६०१, जालन्धर।
१०. महात्मा मुंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ, १६०४, लाहौर, पृ० ११०
११. दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तान, १६०६, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृ० ६५४।

१२. मेरी जिन्दगी के नशेबो-फराज(स्वामी जी की संक्षिप्त आत्मकथा), १९११, जालन्धर ।
१३. हिन्दू मुस्लिम इत्तहाद की कहानी, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृ० ४८ ।
१४. अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृ० १४४ ।
१५. मुहम्मदी साजश का इन्कशाफ, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृ० ९६ ।
१६. अछूतोद्धार एक फौरी मसला ।
१७. मेरा आखिरी मश्वरा ।
१८. दाइये इस्लाम या तबाहिये इस्लाम ।

अंग्रेजी पुस्तकें

१. द फ्यूचर ऑफ आर्यसमाज—ए फोरकास्ट, १८९३, लाहौर ।
२. द आर्यसमाज एण्ड डिट्रेक्टर्स—ए विण्डीकेशन, १९१०, गुरुकुल काँगड़ी ।
३. हिन्दू संगठन : सेवियर ऑफ द डाइंग रेस, १९२६, दिल्ली ।
४. इनसाइड कांग्रेस (स्वामी जी के एक अप्रैल से १८ अक्टूबर १९२६ के बीच "लिबरेटर" में प्रकाशित २५ लेखों का संग्रह, १९४६, फिनिक्स पब्लिकेशन बम्बई; पुनर्मुद्रण १९८४, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली ।

पत्र-पत्रिकाएँ

१. सद्धर्म प्रचारक, उर्दू, १६ फरवरी १८८९ से २८ फरवरी १९०७ तक, जालन्धर ।
२. श्रद्धा, हिन्दी, १९२०-२१, दिल्ली ।
३. सद्धर्म प्रचारक, हिन्दी, एक मार्च १९०७ से १९१५ तक, गुरुकुल काँगड़ी ।
४. लिबरेटर, अंग्रेजी, १९२६, दिल्ली ।

परिशिष्ट ६

स्वामी श्रद्धानन्द विषयक साहित्य

स्वामी श्रद्धानन्द : जीवनचरित (हिन्दी)

क्रम	पुस्तक	लेखक	प्रकाशक	वर्ष/विवरण
१.	वीर संन्यासी श्रद्धानन्द	रामगोपाल विद्यालंकार	गो० हा० कलकत्ता	१९८७ वि., प्र.सं. १९२९ ई०
२.	स्वामी श्रद्धानन्द	सत्यदेव विद्यालंकार	विजय पु० मं० दिल्ली	१९३३ ई०
३.	श्रद्धानन्द दर्शन	नारायणदत्त	क्ष० स्मा० ट्रस्ट दिल्ली	१९९३ वि०
४.	स्वामी श्रद्धानन्द	त्रिलोक चन्द्र विशारद	गो० हा०	आर्य चरितमाला-५
५.	"	रामगोपाल विद्यालंकार	"	वेद प्रकाशमाला
६.	शहीद श्रद्धानन्द	द्वारिकाप्रसाद गर्ग		
७.	स्वामी श्रद्धानन्द	विद्याभास्कर शुक्ल	छात्र हितकारी पु० माला-२२ प्रयाग	
८.	शहीद श्रद्धानन्द संन्यासी	विश्वम्भरप्रसाद शर्मा	श्रद्धानन्द पु० माला-२	
९.	अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द	धर्मदेव विद्यावाचस्पति	राजपाल दिल्ली	१९५० ई० प्र० सं० १९७२ ई० पंचम सं०
१०.	स्वामी श्रद्धानन्द	रघुवीर शरण बंसल	राष्ट्रीय प्रकाशन मण्डल, दिल्ली	१९५२ ई०
११.	धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द	हरिश्चन्द्र विद्यालंकार	सा० प्र०	२०११ वि०
१२.	स्वामी श्रद्धानन्द का धर्म-बलिदान	गंगाप्रसाद उपाध्याय	आ० स० चौक प्रयाग	ट्रैक्टमाला-१४

१३. मेरे पिता	इन्द्र विद्यावाचस्पति	वाचस्पति पुस्तक भण्डार, दिल्ली	१९५७ ई०
,,	,,	सरस्वती विहार, दिल्ली	१९७६ ई०
१४. स्वामी श्रद्धानन्द महाराज (एक शिक्षादायक जीवन)		गुरुकुल काँगड़ी स्वा० म० २७	१९५८ ई०
१५. अमर सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द	जगदीश विद्यार्थी	आ० कु० सभा श्रद्धा पु० ५०	१९६७ ई०
१६. स्वामी श्रद्धानन्द	रघुनाथप्रसाद पाठक	भा० वै० सि० परिषद् अलीगढ़	१९७० ई०
१७. महान् देशभक्त स्वामी श्रद्धानन्द	राजकुमार अनिल	आ० प्र० मण्डल दिल्ली	१९७३ ई०
१८. स्वामी श्रद्धानन्द की जीवन झाँकी	वेणीप्रसाद जिज्ञासु	हि० स० स्मारिका	१९७९ ई०
१९. स्वामी श्रद्धानन्द	,,	आ० प्र० सभा दिल्ली	
२०. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द	स्वतन्त्रानन्द (स्वामी)	द० सं० गुप्ता एण्ड कम्पनी	१९७६ ई०
२१. संघर्षमूर्ति स्वामी श्रद्धानन्द	शिवकुमार विद्यालंकार		
२२. अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द	देवीदास आर्य मेरठ	आ० स० थापरनगर, मेरठ	१९७३ ई०
२३. स्वामी श्रद्धानन्द की कहानी	विश्वप्रकाश	कला	

स्वामी श्रद्धानन्द : स्फुट ग्रन्थ

१. स्वामी जी का वलिदान और हमारा कर्तव्य	हरिभाऊ उपाध्याय	सस्ता सा० मण्डल, अजमेर	१९२८ ई०
२. स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या और इस्लाम की शिक्षा	देवेश्वर सिद्धान्तालंकार	वैं० पु० कलकत्ता	१९२७ ई० १९८५ वि० सं०
३. स्वामी श्रद्धानन्द की डायरी से	सत्यदेव विद्यालंकार		

४. स्वामी श्रद्धानन्द और उनका सन्देश	धर्मानन्द सरस्वती	आ० प्र० सभा पंजाब	
५. श्री स्वामी श्रद्धानन्द उपदेशमाला	"		
६. स्वामी श्रद्धानन्द की डायरी से	चतुरसेन गुप्त	सा० प्र०	
७. श्रद्धानन्द ग्रन्थ संग्रह	ईश्वरी प्रसाद प्रेम	सत्य प्रकाशन, मथुरा	
८. स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व	विनोदचन्द्र विद्यालंकार	आर्य साहित्य प्रकाशन समिति, मेरठ	
९. श्रद्धापुरी व श्रद्धानन्द	मेधारथी स्वामी		
१०. ऊषा बेला के प्रतीक	ओमप्रकाश सपड़ा	आ० कु० सभा दिल्ली	१९७७ ई०
११. श्रद्धानन्द दर्शन	धर्मवीर वेदालंकार		
१२. श्रद्धानन्द उवाच	हरिदेव आर्य		

स्वामी श्रद्धानन्द : काव्य कृतियाँ

१. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी का साका (आल्हा)	मनोहर सिंह (कुमार)	स्वाधीन अजमेर	१९२७ ई०
२. स्वामी श्रद्धानन्द दैहिक बलिदान	रामसिंहासन तिवारी	डायमण्ड जुबली प्रेस, अजमेर	१९२७ ई०
३. श्रद्धांजलि	हीरालाल सूद		
४. श्रद्धानन्द चित्रकाव्य	बृहद्बल शास्त्री		
५. श्रद्धांजलि	लोकनाथ तर्कवाचस्पति	दिल्ली	
६. स्वामी श्रद्धानन्द गुणगान	प्रकाशचन्द्र कविरत्न	प्रकाश साहित्य सदन, अजमेर	२०२३ वि०
७. अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द	राजेन्द्र वर्मा	कोटा	

नाटक

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
१. श्रद्धानन्द बलिदान नाटक		गो० हा० कलकत्ता	
२. नाटक श्री स्वामी श्रद्धानन्द	टाटाचार्य शैदा	द्वारकाप्रसाद अत्तार, शाहजहाँपुर	५ फरवरी १९२७ ई० के तेज के शहीद अंक से उद्धृत
३. शहीद संन्यासी	किशनचन्द ज़ेबा	लाजपतराय एण्ड संस, लाहौर	१९२७ ई०

स्वामी श्रद्धानन्द : उर्दू ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
१. संन्यासी का खून	नानकचन्द नाज़	लाहौर	१९२७ ई०
२. खूनए दर्वेश		लाहौर	१९२७ ई०

गुजराती ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक	वर्ष
१. हुतात्मा श्रद्धानन्द नी पुण्यकथा	दिनेश त्रिवेदी	मणिगौरी न० त्रिवेदी, सूरत	१९२८ ई०
२. सत्यवीर श्रद्धानन्द	अमृतलाल सेठ		१९८३ वि०
३. शहीद श्रद्धानन्द	ककल भाई कोठारी	सौराष्ट्र प्रकाशन	
४. कल्याण मार्ग का पथिक (गुजराती अनुवाद)	अनु० झवेरचन्दमेघाणी		
५. स्वामी श्रद्धानन्द	रसूलभाई वोहरा	चरोतर एज्यूकेशन सोसाइटी, आणन्द	
६. स्वामी श्रद्धानन्द	नवनीत सेवक	हेमराज दयालजी, अहमदाबाद	
७. स्वामी श्रद्धानन्द	नानुभाई दवे	सस्तु साहित्य वर्धक का० अहमदाबाद	१९६५ ई०

तमिल

१. स्वामी श्रद्धानन्द	एम० आर० जम्बुनाथन		१९८९ वि०

बंगला

१. धर्मवीर श्रद्धानन्द	रमेशचन्द्र वन्द्योपाध्याय		

ENGLISH BIOGRAPHY

1. Makers of the Aryasamaj (Swami Shraddhanand and Mahatma Hans Raj)	Diwan Chand Sharma	Macmillan & co. London	1935
2. Swami Shraddhanand (Abridged Autobiography)	M. R. Jambunathan	Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay	1961
3. Swami Shraddhanand	K. N. Kapoor	A. P. Sabha, Punjab	1978
4. Political Testaments of Swami Shraddhanand		,,	
5. Swami Shraddhanand : His Life and Causes	J. T. F. Jordens	Oxford University Press, Delhi	1981